प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी–५
फोन ३११४६२



प्रकाशन वर्ष
प्रथम संस्करण सन् १९६६
द्वितीय संस्करण सन् १९८९



मूल्य रु० ८० ००



JAINA SĀHITYA KĀ BRHAD ITIHĀSA
Vol I ANGA ĀGAMA
Second Edition 1989
Price Rs 80 00



मुद्रक
वर्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी–१०

प्रकाशकीय

प्रथम संस्करण

सन् १९५२ में जब पहली बार स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल से हिन्दू विश्वविद्यालय मे साक्षात्कार हुआ तो उन्होने पथप्रदर्शन किया कि श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति को जैनविद्या के सम्बन्ध में कुछ प्राथमिक साहित्य प्रकाशित करना चाहिए। उसमें जैन साहित्य का इतिहास भी था।

उन्होंने अपनी ओर से बडी उत्सुकता और उत्साह से इस कार्य को प्रारम्भ कराया। १९५३ में मुनि श्री पुण्यविजयजी की अध्यक्षता में इसके लिए अहमदाबाद में सम्मेलन भी हुआ। इतिहास की रूपरेखा निश्चित की गई। तब अनुमान यही था कि शीघ्र ही इतिहास पूर्ण होकर प्रकाशित हो जाएगा। परन्तु कारणवशात् विलम्ब होता चला गया। हमे खुशी है कि आखिर यह काम होने लगा है।

जैनागमो के सम्बन्ध में रूपरेखा बनाते समय यही निश्चय हुआ था कि इतिहास का यह भाग पडित बेचरदासजी दोशी अपने हाथ में लें। परन्तु उस समय वे इस कार्य के लिए समय कुछ कम दे रहे थे। अत. वे यह कार्य नही कर सकते थे। हर्ष की बात है कि इतने कालोपरात भी यह भाग उन्ही के द्वारा निर्मित हुआ है।

जैन साहित्य के इतिहास के लिए एक उपसमिति बनाई गई थी। समिति उस उपसमिति के कार्यकर्ताओ और सदस्यो के प्रति आभार प्रकाशित करती है तथा पं० बेचरदासजी व प० दलसुख भाई मालवणिया और डा० मोहनलाल मेहता का भी आभार मानती है जिनके हार्दिक सहयोग के कारण प्रस्तुत भाग प्रकाशित हो सका है।

इस भाग के प्रकाशन का सारा खर्च श्री मनोहरलाल जैन, बी० काम० (मुनिलाल मोतीलाल जैनी, ६१ चम्पागली, बम्बई २, अमृतसर और दिल्ली) तथा उनके सहोदर सर्वश्री रोशनलाल, तिलकचन्द और धर्मपाल ने वहन किया है। यह ग्रन्थ उनके पिता स्व० श्री मुनिलाल जैन की पुण्यस्मृति मे प्रकाशित हो रहा है। वे जीवनपर्यन्त समिति के खजाची रहे।

लाला मुनिलाल जैन का जन्म अमृतसर में सन् १८९० (वि० स० १९४७) में हुआ था, उनके अतिरिक्त लाला महताब शाह के तीन पुत्र श्री मोतीलाल,

श्री भीमसेन और श्री हंसराज हैं। परिवार तातेड़ गोत्रीय ओसवाल हैं। लाला मुनिलाल ज्येष्ठ भाई थे।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उन्हें विशेष रुचि थी। शतावधानीजी की प्रेरणा से ही उन्हें 'श्री मोहनलाल जैनरत्न प्रचारक समिति' की प्रवृत्तियों में विश्वास हो गया था। यथाशक्ति वे इसके लिए धन एकत्रित करने में भाग लेते रहे। अपने पास से और परिवार से धन दिलाते रहे। वे उदारचित्त व्यक्ति थे। किसी पदादि के इच्छुक नहीं थे परन्तु साथियों के साथी, सहचरों के सहचर थे। स्थानीय जैन सभा के उपप्रधान और प्रधान वर्षों तक रहे। जैन परमार्थ फण्ड सोसायटी के वे आदि सदस्य थे। पदाधिकारी भी रहे। इसी प्रकार पूज्य अमरसिंह जीवदया भण्डार का कार्य वे चिरकाल तक स्व० लाला रतनचन्द के साथ मिलकर करते रहे।

इन सब सफलताओं का श्रेय परिवार की ओर से प्राप्त जीवित सहकार पर है। उनकी मृत्यु दिसम्बर १९६४ के अन्त में स्वपत्नी के देहान्त के एक माह बाद हुई। उनकी पत्नी पतिभक्त भार्या थी।

हरजसराय जैन
मंत्री

प्रकाशकीय

द्वितीय संस्करण

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-१ [द्वितीय सस्करण] पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस ग्रथ का प्रथम सस्करण सन् १९६६ में प्रकाशित हुआ था और विगत ४ वर्षों से इसकी प्रतियाँ विक्रयार्थ अनुपलब्ध थी। इसकी उपयोगिता और मांग को देखते हुए सस्थान ने इसका द्वितीय सस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया। यद्यपि इसमें पर्याप्त सशोधन की अपेक्षा थी, किन्तु विलम्ब से बचने हेतु इसमें प्रथम सस्करण की सामग्री को ही यथावत् रखा गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था सस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन ने की है, अत मैं सर्वप्रथम उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। प्रूफ रीडिंग और शब्दानुक्रमणिका तैयार करने मे डा० अशोक कुमार सिंह, डा० शिवप्रसाद और श्री इन्द्रेश चन्द्र सिंह का सहयोग प्राप्त हुआ है, अत इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

अन्त मे इस ग्रन्थ के सुन्दर तथा त्वरित मुद्रण के लिये मैं वर्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के सचालको के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मंत्री
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान
वाराणसी

(द्वितीय संस्करण)

ज्ञातव्य है कि अब तक इस इतिहास के सात भाग प्रकाशित हो चुके हैं और आशा है कि आठवाँ भाग भी शीघ्र ही पूर्ण होकर प्रकाशित होगा।

इसी प्रकार हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भी तीन खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। इसका भी प्रथम मरुगुर्जर खण्ड—आदिकाल से १६वीं शताब्दी तक प्रकाशित हो चुका है। शेष खण्ड भी शीघ्र प्रकाशित होंगे।

साथ ही दार्शनिक जैन साहित्य का इतिहास भी तैयार किया जा रहा है।

सागरमल जैन

१६-१२-१९८९ निदेशक

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ



प्रस्तावना

प० दलसुख मालवणिया
अध्यक्ष
ला० द० भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर
अहमदाबाद—९

प्रस्तुत इतिहास की योजना और मर्यादा :

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' की मर्यादा क्या है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। यह केवल जैनधर्म या दर्शन से ही सम्बद्ध साहित्य का इतिहास नही होगा अपितु जैनो द्वारा लिखित समग्र साहित्य का इतिहास होगा।

साहित्य मे यह भेद करना कि यह जैनो का लिखा है और यह जैनेतरो का, उचित तो नही है किन्तु ऐसा विवश होकर ही करना पडा है। भारतीय साहित्य के इतिहास मे जैनो द्वारा लिखे विविध साहित्य की उपेक्षा होती आई है। यदि ऐसा न होता तो यह प्रयत्न जरूरी न होता। उदाहरण के तौर पर सस्कृत साहित्य के इतिहास मे जब पुराणो पर लिखना हो या महाकाव्यो पर लिखना हो तब इतिहासकार प्राय हिन्दू पुराणो से ही सन्तोष कर लेते है और यही गति महाकाव्यो की भी है। इस उपेक्षा के कारणो की चर्चा जरूरी नही है किन्तु जिन ग्रन्थो का विशेष अभ्यास होता हो उन्ही पर इतिहासकार के लिए लिखना आसान होता है यह एक मुख्य कारण है। 'कादम्बरी' के पढने-पढानेवाले अधिक है, अतएव उसकी उपेक्षा इतिहासकार नही कर सकता किन्तु धनपाल की तिलक मञ्जरी' के विषय मे प्राय उपेक्षा ही है क्योकि वह पाठ्यग्रन्थ नही। किन्तु जिन विरल व्यक्तियो ने उसे पढा है वे उसके भी गुण जानते है।

इतिहासकार को तो इतनी फुर्सत कहाँ कि वह एक-एक ग्रन्थ स्वय पढे और उसका मूल्याकन करे। होता प्राय यही है कि जिन ग्रन्थो की चर्चा अधिक हुई हो उन्ही को इतिहास-ग्रन्थ में स्थान मिलता है, अन्य ग्रन्थो की प्राय उपेक्षा होती है। 'यशस्तिलक' जैसे चम्पू को बहुत वर्षों तक उपेक्षा ही रही किन्तु डॉ० हन्दिकी ने जब उसके विषय में पूरी पुस्तक लिख डाली तब उस पर विद्वानो का ध्यान गया।

इसी परिस्थिति को देखकर जब इस इतिहास की योजना बन रही थी तब डॉ० ए० एन० उपाध्ये का सुझाव था कि इतिहास के पहले विभिन्न ग्रन्थो या विभिन्न विषयो पर अभ्यास, लेख लिखाये जायँ तब इतिहास की सामग्री तैयार होगी और इतिहासकार के लिए इतिहास लिखना आसान होगा। उनका यह बहुमूल्य सुझाव उचित ही था किन्तु उचित यह समझा गया कि जब तक ऐसे लेख तैयार न हो जायँ तब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना भी उचित नहीं है। अतएव निश्चय हुआ कि मध्यम मार्ग से जैन साहित्य के इतिहास को अनेक

विद्वानो के सहयोग से लिखा जाय। उसमें गहरे चिन्तनपूर्वक समीक्षा कदाचित् सम्भव न हो तो भी ग्रन्थ का सामान्य विषय-परिचय दिया जाय, जिससे कितने विषय के कौन से ग्रन्थ हैं—इसका तो पता विद्वानो को हो ही जायगा और फिर जिज्ञासु विद्वान् अपनी रुचि के ग्रन्थ स्वय पढ़ने लगेंगे।

इस विचार को स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने गति दी और यह निश्चय हुआ कि ई० सन् १९५३ में अहमदाबाद में होने वाले प्राच्य विद्या परिषद् के सम्मेलन के अवसर पर वहाँ विद्वानो की उपस्थिति होगी। अतएव उस अवसर का लाभ उठाकर एक योजना विद्वानो के समक्ष रखी जाय। इसी विचार से योजना का पूर्वरूप वाराणसी में तैयार कर लिया गया और अहमदाबाद में उपस्थित निम्न विद्वानो के परामर्श से उसको अन्तिम रूप दिया गया :—

१ मुनि श्री पुण्यविजयजी
२ आचार्य जिनविजयजी
३ प० सुखलालजी सघवी
४ प० बेचरदासजी दोशी
५ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
६ डॉ० ए० एन० उपाध्ये
७ डॉ० पी० एल० वैद्य
८ डॉ० मोतीचन्द
९ श्री अगरचन्द नाहटा
१० डॉ० भोगीलाल साडेसरा
११. डॉ० प्रबोध पण्डित
१२ डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
१३ प्रो० पद्मनाभ जैनी
१४ श्री बालाभाई वीरचद देसाई जयभिक्खु
१५ श्री परमानन्द कुवरजी कापडिया

यहाँ यह भी बताना जरूरी है कि वाराणसी में योजना सम्बन्धी विचार जब चल रहा था तब उसमें सम्पूर्ण सहयोग श्री प० महेन्द्रकुमारजी का था और उन्ही की प्रेरणा से पण्डितद्वय श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्री तथा श्री फूलचन्द्रजी शास्त्री भी सहयोग देने को तैयार हो गये थे। किन्तु योजना का पूर्वरूप जब तैयार हुआ तो इन तीनो पण्डितो ने निर्णय किया कि हमें अलग हो जाना चाहिए। तदनुसार उनके सहयोग से हम वञ्चित ही रहे—इसका दु ख सबसे

अधिक रुचे हैं। अलग होकर उन्होंने अपनी पृथक् योजना बनाई और यह आनन्द का विषय है कि उनकी योजना के अन्तर्गत पं० श्री कैलाशचन्द्र द्वारा लिखित 'जैन साहित्य का इतिहास पूर्व-पीठिका' श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थ-माला, वाराणसी से वीरनि० सं० २४८९ में प्रकाशित हुआ है। जैनों द्वारा लिखित साहित्य का जितना अधिक परिचय कराया जाय, अच्छा ही है। यह भी लाभ है कि विविध दृष्टिकोण से साहित्य की समीक्षा होगी। अतएव हम उस योजना का स्वागत ही करते हैं।

अहमदाबाद में विद्वानों ने जिस योजना को अन्तिम रूप दिया तथा उस समय जो लेखक निश्चित हुए, उनमें से कुछ ने जब अपना अंश लिखकर नहीं दिया तो उन अंशों को दूसरों से लिखवाना पड़ा है किन्तु मूल योजना में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा गया है। हम आशा करते हैं कि यथासम्भव हम उस मूल योजना के अनुसार इतिहास का कार्य आगे बढ़ायेंगे।

'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' जो कई भागों में प्रकाशित होने जा रहा है, उसका यह प्रथम भाग है। जैन अंग ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत भाग में मुझे ही लिखना था किन्तु हुआ यह कि पार्श्वनाथ विद्याश्रम ने पं० बेचरदासजी को बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में जैन आगम के विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया। उन्होंने वे व्याख्यान विस्तृतरूप से गुजराती में लिखे भी थे। अतएव यह उचित समझा गया कि उन्हीं व्याख्यानों के आधार पर प्रस्तुत भाग के लिए अंग ग्रन्थों का परिचय हिन्दी में लिखा जाय। डॉ० मोहनलाल मेहता ने इसे सहर्ष स्वीकार किया और इस प्रकार मेरा भार हल्का हुआ। डॉ० मेहता का लिखा 'अंग ग्रन्थों का परिचय' प्रस्तुत भाग में मुद्रित है।

श्री पं० बेचरदासजी का आगमों का अध्ययन गहरा है, उनकी छानबीन भी स्वतन्त्र है और आगमों के विषय में लिखनेवालों में वे अग्रदूत ही हैं। उन्हीं के व्याख्यानों के आधार पर लिखा गया प्रस्तुत अंग-परिचय यदि विद्वानों को अंग आगम के अध्ययन के प्रति आकर्षित कर सकेगा तो योजक इस प्रयास को सफल मानेंगे।

वैदिकधर्म और जैनधर्म :

वैदिकधर्म और जैनधर्म की तुलना की जाय तो जैनधर्म का वह रूप जो इसके प्राचीन साहित्य से उपलब्ध होता है, वेद से उपलब्ध वैदिकधर्म से अत्यधिक मात्रा में सुसंस्कृत है। वेद के इन्द्रादि देवों का रूप और जैनों के आराध्य का स्वरूप देखा जाय तो वैदिक देव सामान्य मानव से अधिक शक्तिशाली हैं किन्तु

वृत्तियो की दृष्टि से हीन ही है। मानवसुलभ क्रोध, राग, द्वेष आदि वृत्तियों का वैदिक देवो में साम्राज्य है तो जैनो के आराध्य में इन वृत्तियो का अभाव ही है। वैदिको के इन देवो की पूज्यता कोई आध्यात्मिक शक्ति के कारण नही किन्तु नाना प्रकार से अनुग्रह और निग्रह शक्ति के कारण है जब कि जैनो के आराध्य ऐसी कोई शक्ति के कारण पूज्य नही किन्तु वीतरागता के कारण आराध्य हैं। आराधक में वीतराग के प्रति जो आदर है वह उसे उनकी पूजा में प्रेरित करता है, जब कि वैदिक देवो का डर आराधक के यज्ञ का कारण है। वैदिको ने भूदेवो की कल्पना तो की किन्तु वे कालक्रम से स्वार्थी हो गये थे। उनको अपनी पुरोहिताई की रक्षा करनी थी। किन्तु जैनो के भूदेव वीतराग मानव के रूप में कल्पित हैं। उन्हें यज्ञादि करके कमाई का कोई साधन जुटाना नही था। धार्मिक कर्मकाण्ड में वदिको में यज्ञ मुख्य था जो अधिकांश बिना हिंसा या पशु-वध के पूर्ण नही होता था जब कि जैनधर्म में क्रियाकाण्ड तपस्यारूप हैं—अनशन और ध्यानरूप हैं जिसमें हिंसा का नाम नही है। ये वैदिक यज्ञ देवो को प्रसन्न करने के लिए किये जाते थे जब कि जैनो मे अपनी आत्मा के उत्कर्ष के लिए ही धार्मिक अनुष्ठान होते थे। उसमें किसी देव को प्रसन्न करने की बात का कोई स्थान नही था। उनके देव तो वीतराग होते थे जो प्रसन्न भी नही होते और अप्रसन्न भी नही होते। वे तो केवल अनुकरणीय के रूप में आराध्य थे।

वैदिकों ने नाना प्रकार के इन्द्रादि देवो की कल्पना कर रखी थी, जो तीनो लोक में थे और उनका वर्ग मनुष्य वर्ग से भिन्न था और मनुष्य के लिए आराध्य था। किन्तु जैनो ने जो एक वर्ग के रूप मे देवो की कल्पना की है वे मानव वर्ग से पृथग्वर्गी होते हुए भी उनका वह वर्ग सब मनुष्यो के लिए आराध्य कोटि में नही है। मनुष्य देव की पूजा भौतिक उन्नति के लिए भले करे किन्तु आत्मिक उन्नति के लिए तो उसमे कोई लाभ नही ऐसा मन्तव्य जैनधम का है। अतएव ऐसे ही वीतराग मनुष्यो की कल्पना जैनधर्म ने की, जो देवो के भी आराध्य हैं। देव भी उस मनुष्य की सेवा करते हैं। साराश यह है कि देव की नही किन्तु मानव की प्रतिष्ठा बढाने में जैनधर्म अग्रसर है।

देव या ईश्वर इस विश्व का निर्माता या नियन्ता है, ऐसी कल्पना वैदिको की देखी जाती है। उसके स्थान में जैनो का सिद्धान्त है कि सृष्टि तो अनादि काल से चली आती है, उसका नियन्त्रण या सर्जन प्राणियो के कर्म से होता है, किसी अन्य कारण से नही। विश्व के मूल में कोई एक ही तत्त्व होना जरूरी है—इस विषय में वैदिक निष्ठा देखी जाय तो विविध प्रकार की है। अर्थात् वह एक तत्त्व क्या है, इस विषय में नाना मत हैं किन्तु ये सभी मत इस बात में तो

[illegible] है कि [illegible] में [illegible] था। [illegible] विषय में जैनों का स्पष्ट मन्तव्य है कि [illegible] नहीं किन्तु वह तो नाना सत्त्वों का समर्थक है।

इस के बाद ब्राह्मणकाल में [illegible] का [illegible] हुआ [illegible] और यज्ञ ही मुख्य बन गये। पुरोहितों ने [illegible] द्वारा [illegible] बताया कि [illegible] यदि उचित [illegible] तो [illegible] अभिप्राय [illegible] गया कि [illegible] इच्छा न होते हुए भी यज्ञ के वशवर्ती हो गये। [illegible] देवों पर मानवों की विजय थी किन्तु उसमें भी शर्त यह थी कि [illegible] वर्ग—ब्राह्मणवर्ग ही यज्ञ-विधि को अपने एकाधिपत्य में [illegible] गया था। उस वर्ग की अनिवार्यता इतनी बढ़ गई थी कि उनके बिना और उनके द्वारा किये गये वैदिक मन्त्रपाठ और विधिविधान के बिना यज्ञ की सम्पूर्ति हो ही नहीं सकती थी। किन्तु जैनधर्म में इसके विपरीत देखा जाता है। जो भी त्याग तप का मार्ग अपनाये चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, गुरुपद को प्राप्त कर सकता था और मानवमात्र का सच्चा मार्गदर्शक भी बनता था। शूद्र वेदपाठ कर ही नहीं सकता था किन्तु जैनशास्त्र पाठ में उनके लिए कोई बाधा नहीं थी। धर्ममार्ग में स्त्री और पुरुष का समान अधिकार था, दोनों ही साधना करके मोक्ष पा सकते थे।

वेदाध्ययन में शब्द का महत्त्व था अतएव वेदमन्त्रों के पाठ की सुरक्षा हुई, संस्कृत भाषा को पवित्र माना गया, उसे महत्त्व मिला। किन्तु जैनों में पद का नहीं, पदार्थ का महत्त्व था। अतएव उनके यहाँ धर्म के मौलिक सिद्धान्त की सुरक्षा हुई किन्तु शब्दों को सुरक्षा नहीं हुई। परिणाम स्पष्ट था कि वे संस्कृत को नहीं, किन्तु लोकभाषा प्राकृत को ही महत्त्व दे सकते थे। प्राकृत अपनी प्रकृति के अनुसार सदैव एकरूप रह ही नहीं सकती थी, वह बदलती ही गई जब कि वैदिक संस्कृत उसी रूप में आज वेदों में उपलब्ध है। उपनिषदों के पहले के काल में वैदिकधर्म में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्पष्टरूप से विदित होता है, जब कि जबसे जैनधर्म का इतिहास ज्ञात है तबसे उसमें ब्राह्मण नहीं किन्तु क्षत्रियवर्ग ही नेता माना गया है। उपनिषद् काल में वैदिकधर्म में ब्राह्मणों के समक्ष क्षत्रियों ने अपना सिर उठाया है और वह भी विद्या के क्षेत्र में। किन्तु वह विद्या वेद न होकर आत्मविद्या थी और उपनिषदों में आत्मविद्या का ही प्राधान्य हो गया है। यह ब्राह्मणवर्ग के ऊपर स्पष्टरूप से क्षत्रियों के प्रभुत्व की सूचना देता है।

वैदिक और जैनधर्म में इस प्रकार का विरोध देखकर आधुनिक पश्चिम के विद्वानों ने प्रारम्भ में यह लिखना शुरू किया कि बौद्धधर्म की ही तरह जैनधर्म भी वैदिकधर्म के विरोध के लिए खड़ा हुआ एक क्रान्तिकारी नया धर्म है या वह

बौद्धधर्म की एक शाखामात्र है। (किन्तु जैसे-जैसे जैनधर्म और बौद्धधर्म के मौलिक साहित्य का विशेष अध्ययन बढ़ा, पश्चिमी विद्वानों ने ही उनका भ्रम दूर किया और अब सुलझे हुए पश्चिमी विद्वान् और भारतीय विद्वान् भी यह उचित ही मानने लगे हैं कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है—यह वैदिक धर्म की शाखा नहीं है।) किन्तु हमारे यहाँ के कुछ अधकचरे विद्वान् अभी भी उन पुराने पश्चिमी विद्वानों का अनुकरण करके यह लिख रहे हैं कि जैनधर्म तो वैदिकधर्म की शाखामात्र है या वेदधर्म के विरोध में खड़ा हुआ नया धर्म है। यद्यपि हम प्राचीनता के पक्षपाती नहीं हैं, प्राचीन होनेमात्र से ही जैनधर्म अच्छा नहीं हो जाता किन्तु जो परिस्थिति है उसका यथार्थरूप से निरूपण जरूरी होने से ही यह कह रहे हैं कि जैनधर्म वेद के विरोध में खड़ा होनेवाला नया धर्म नहीं है। अन्य विद्वानों का अनुसरण करके हम यह कहने के लिए बाध्य हैं कि भारत के बाहरी प्रदेश में रहनेवाले आर्य लोग जब भारत में आये तब जिस धर्म से भारत में उनकी टक्कर हुई थी उस धर्म का ही विकसित रूप जैनधर्म है—ऐसा अधिक सम्भव है। यदि वेद से ही इस धर्म का विकास होता या केवल वैदिकधर्म का विरोध ही करना होता तो जैसे अन्य वैदिकों ने वेद का प्रामाण्य मानकर ही वेदविरोधी बातों का प्रवर्तन कर दिया, जैसे उपनिषद् के ऋषियों ने, वैसा ही जैनधर्म में भी होता किन्तु ऐसा नहीं हुआ है, ये तो नास्तिक ही गिने गये—वेदनिन्दक ही गिने गये हैं—इन्होंने वेदप्रामाण्य कभी स्वीकृत किया ही नहीं। ऐसी परिस्थिति में उसे वैदिकधर्म की शाखा नहीं गिना जा सकता। सत्य तो यह है कि वेद के माननेवाले आर्य जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढ़े हैं वैसे वैसे वे भौतिकता से दूर हटकर आध्यात्मिकता में अग्रसर होते रहे हैं—ऐसा क्यों हुआ ? इसके कारणों की जब खोज की जाती है तब यही फलित होता है कि वे जैसे-जैसे संस्कारी प्रजा के प्रभाव में आये हैं वैसे-वैसे उन्होंने अपना रवैया बदला है—उसी बदलते हुए रवये की गूँज उपनिषदों की रचना में देखी जा सकती है। (उपनिषदों में कई वेद-मान्यताओं का विरोध तो है फिर भी वे वेद के अंग बने और वेदान्त कहलाए, यह एक ओर वेद का प्रभाव और दूसरी ओर नई सूझ का समन्वय ही तो है। वेद का अंग बनकर वेदान्त कहलाये और एक तरह से वेद का अन्त भी कर दिया) उपनिषद् बन जाने के बाद दार्शनिकों ने वेद को एक ओर रखकर उपनिषदों के सहारे ही वेद की प्रतिष्ठा बढ़ानी शुरू की। वेदभक्ति रही किन्तु निष्ठा तो उपनिषद् में ही बढ़ी। एक समय यह भी आया कि वेद की ध्वनिमात्र रह गई और अर्थ नदारद हो गया। उसके अर्थ का उद्धार मध्यकाल में हुआ भी तो वह वेदान्त के अर्थ को अग्रसर करके ही हुआ। आधुनिक काल में भी दयानन्द जैसों ने भी यह साहस नहीं किया कि वेद के मौलिक हिंसा-प्रधान अर्थ की प्रतिष्ठा

करें। वेद के ह्रास का यह कारण पूर्वभारत की प्रजा के संस्कारों में निहित है और जैनधर्म के प्रवर्तक महापुरुष जितने भी हुए हैं वे मुख्यरूप से पूर्वभारत की ही देन हैं। जब हम यह देखते हैं तो सहज ही अनुमान होता है कि पूर्वभारत का यह धर्म ही जैनधर्म के उदय का कारण हो सकता है, जिसने वैदिक धर्म को भी नया रूप दिया और हिंसक तथा भौतिक धर्म को अहिंसा और आध्यात्मिकता का नया पाठ पढ़ाया।

जब तक पश्चिमी विद्वानों ने केवल वेद और वैदिक साहित्य का अध्ययन किया था और जब तक सिन्धुसंस्कृति को प्रकाश में लानेवाले खुदाई कार्य नहीं हुए थे तब तक—भारत में जो कुछ संस्कृति है उसका मूल वेद में ही होना चाहिए—ऐसा प्रतिपादन वे करते रहे। किन्तु जब से मोहेन-जोदारो और हरप्पा की खुदाई हुई है तब से पश्चिम के विद्वानों ने अपना मन बदल दिया है और वेद के अलावा वेद से भी बढ़-चढ़कर वेदपूर्वकाल में भारतीय संस्कृति थी—इस नतीजे पर पहुँचे हैं। और अब तो उस तथाकथित सिन्धुसंस्कृति के अवशेष प्रायः समग्र भारतवर्ष में दिखाई देते हैं—ऐसी परिस्थिति में भारतीय धर्मों के इतिहास को उस नये प्रकाश में देखने का प्रारम्भ पश्चिमीय और भारतीय विद्वानों ने किया है और कई विद्वान् इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जैनधर्म वैदिकधर्म से स्वतन्त्र है। वह उसकी शाखा नहीं है और न वह केवल उसके विरोध में ही खड़ा हुआ है।

प्राचीन यति-मुनि-श्रमण :

मोहेन-जोदारो में और हरप्पा में जो खुदाई हुई उसके अवशेषों का अध्ययन करके विद्वानों ने उसकी संस्कृति को सिन्धुसंस्कृति नाम दिया था और खुदाई में सबसे निम्नस्तर में मिलने वाले अवशेषों को वैदिक संस्कृति से भी प्राचीन संस्कृति के अवशेष हैं—ऐसा प्रतिपादन किया था। सिन्धुसंस्कृति के समान ही संस्कृति के अवशेष अब तो भारत के कई भागों में मिले हैं—उसे देखते हुए उस प्राचीन संस्कृति का नाम सिन्धुसंस्कृति अव्याप्त हो जाता है। वैदिक संस्कृति यदि भारत के बाहर से आने वाले आर्यों की संस्कृति है तो सिन्धुसंस्कृति का यथार्थ नाम भारतीय संस्कृति ही हो सकता है।

अनेक स्थलों में होनेवाली खुदाई में जो नाना प्रकार की मोहरें मिली हैं उन पर कोई न कोई लिपि में लिखा हुआ भी मिला है। वह लिपि सम्भव है कि चित्रलिपि हो। किन्तु दुर्भाग्य है कि उस लिपि का यथार्थ वाचन अभी तक हो नहीं पाया है। ऐसी स्थिति में उसकी भाषा के विषय में कुछ भी कहना सम्भव

नही है। और वे लोग अपने धर्म को क्या कहते थे, यह किसी लिखित प्रमाण से जानना सम्भव नही है। किन्तु अन्य जो सामग्री मिली है उस पर से विद्वानो का अनुमान है कि उस प्राचीन भारतीय संस्कृति मे योग को अवश्य स्थान था। यह तो हम अच्छी तरह से जानते है कि वैदिक आर्यों में वेद और ब्राह्मणकाल में योग की कोई चर्चा नही है। उनमे तो यज्ञ को ही महत्त्व का स्थान मिला हुआ है। दूसरी ओर जैन-बौद्ध में यज्ञ का विरोध था और योग का महत्त्व। ऐसी परिस्थिति में यदि जैनधर्म को तथाकथित सिन्धुसंस्कृति से भी सम्बद्ध किया जाय तो उचित होगा।

अब प्रश्न यह है कि वेदकाल में उनका नाम क्या रहा होगा? आर्यों ने जिनके साथ युद्ध किया उन्हें दास, दस्यु जैसे नाम दिये है। किंतु उससे हमारा काम नही चलता। हमें तो वह शब्द चाहिए जिससे उस संस्कृति का बोध हो जिसमें योगप्रक्रिया का महत्त्व हो। ये दास-दस्यु पुर में रहते थे और उनके पुरो का नाश करके आर्यों के मुखिया इन्द्र ने पुरन्दर की पदवी को प्राप्त किया। उसी इन्द्र ने यतियो और मुनियो की भी हत्या की है—ऐसा उल्लेख मिलता है (अथर्व० २ ५ ३)। अधिक सम्भव यही है कि ये मुनि और यति शब्द उन मूल भारत के निवासियो की संस्कृति के सूचक है और इन्ही शब्दो की विशेष प्रतिष्ठा जैनसंस्कृति में प्रारम्भ से देखी भी जाती है। अतएव यदि जैनधर्म का पुराना नाम यतिधर्म या मुनिधर्म माना जाय तो इसमें आपत्ति की बात न होगी। यति और मुनिधर्म दीर्घकाल के प्रवाह में बहता हुआ कई शाखा-प्रशाखाओ में विभक्त हो गया था। यह हाल वैदिको का भी था। प्राचीन जैन और बौद्ध शास्त्रो में धर्मों के विविध प्रवाहो को सूत्रबद्ध करके श्रमण और ब्राह्मण इन दो विभागो में बाँटा गया है। इनमें ब्राह्मण तो वे है जो वैदिक संस्कृति के अनुयायी हैं और शेष सभी का समावेश श्रमणों मे होता था। अतएव इस दृष्टि से हम कह सकते है कि भगवान् महावीर और बुद्ध के समय में जैनधर्म का समावेश श्रमणवर्ग में था।

ऋग्वेद (१० १३६ २) में 'वातरशना मुनि' का उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ है—नग्न मुनि। और आरण्यक में जाकर तो 'श्रमण' और 'वातरशना' का एकीकरण भी उल्लिखित है। उपनिषद् में तापस और श्रमणो को एक बताया गया है (बृहदा० ४ ३ २२)। इन सबका एक साथ विचार करने पर श्रमणो की तपस्या और योग की प्रवृत्ति ज्ञात होती है। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और यति भी ये ही हो सकते हैं। इस दृष्टि से भी जैनधर्म का सम्बन्ध श्रमण-परम्परा से सिद्ध होता है और इस श्रमण-परम्परा का विरोध वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा से चला आ रहा है, इसकी सिद्धि उक्त वैदिक तथ्य से होती है कि इन्द्र ने यतियो और

मुनियो की हत्या की तथा पतञ्जलि के उस वक्तव्य से भी होती है जिसमें कहा गया है कि श्रमण और ब्राह्मणो का शाश्वतिक विरोध है (पातञ्जल महाभाष्य ५ ४ ९)। (जैनशास्त्रो मे पाँच प्रकार के श्रमण गिनाये है उनमें एक निर्ग्रन्थ श्रमण का प्रकार है—यही जैनधर्म के अनुयायी श्रमण है। उनका बौद्धग्रन्थो में निर्ग्रन्थ नाम से परिचय कराया गया है—इससे इस मत की पुष्टि होती है कि जैन मुनि या यति को भगवान बुद्ध के समय मे निर्ग्रन्थ कहा जाता था और वे श्रमणो के एक वर्ग में थे।)

साराश यह है कि वेदकाल मे जैनो के पुरखे मुनि या यति मे शामिल थे। उसके बाद उनका समावेश श्रमणो मे हुआ और भगवान् महावीर के समय वे निर्ग्रन्थ नाम से विशेषरूप से प्रसिद्ध थे। जैन नाम जैनो की तरह बौद्धो के लिए भी प्रसिद्ध रहा है क्योकि दोनो मे जिन की आराधना समानरूप से होती थी। किन्तु भारत से बौद्धधर्म के प्राय लोप के बाद केवल महावीर के अनुयायियो के लिए जैन नाम रह गया जो आज तक चालू है।

तीर्थंकरो की परम्परा :

जैन-परम्परा के अनुसार इस भारतवर्ष मे कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी मे विभक्त है। प्रत्येक मे ६ आरे होते हैं। अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है। इसके पूर्व उत्सर्पिणी काल था। अवसर्पिणी के समाप्त होने पर पुन उत्सर्पिणी कालचक्र शुरू होगा। इस प्रकार अनादिकाल से यह चल रहा है और अनन्तकाल तक चलेगा। उत्सर्पिणी में सभी भाव उन्नति को प्राप्त होते है और अवसर्पिणी में ह्रास को। किन्तु दोनो में तीर्थंकरो का जन्म होता है। उनकी सख्या प्रत्येक मे २४ की मानी गई है। तदनुसार प्रस्तुत अवसर्पिणी मे अबतक २४ तीर्थंकर हो चुके है। अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए और प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव। इन दोनो के बीच का अन्तर असख्य वर्ष है। अर्थात् जैन-परम्परा के अनुसार ऋषभदेव का समय भारतीय ज्ञात इतिहासकाल में नही आता। उनके अस्तित्व-काल की यथार्थता सिद्ध करने का हमारे पास कोई साधन नही। अतएव हम उन्हें पौराणिक काल के अन्तर्गत ले सकते है। उनकी अवधि निश्चित नही करते। किन्तु ऋषभदेव का चरित्र जैनपुराणो में वर्णित है और उसमें जो समाज का चित्रण है वह ऐसा है कि उसे हम सस्कृति का उष काल कह सकते हैं। उस समाज में राजा नही था, लोगो को लिखना-पढ़ना, खेती करना और हथियार चलाना नही आता था। समाज में अभी सुसस्कृत लग्नप्रथा ने प्रवेश नही किया था। भाई-बहन पति पत्नी की तरह व्यवहार करते और सन्तानोत्पत्ति होती थी। इस समाज को सुसस्कृत बनाने का प्रारम्भ ऋषभदेव ने किया।

यहाँ हमें ऋग्वेद के यम यमी सवाद की याद आती है। उसमें यमी जो यम की वहन है वह यम के साथ सम्भोग की इच्छा करती है किन्तु यम ने नही माना, और दूसरे पुरुष की तलाश करने को कहा। उससे यह झलक मिलती है कि भाई-वहन का पति पत्नी होकर रहना किसी समय समाज में जायज था किन्तु उस प्रथा के प्रति ऋग्वेद के समय मे अरुचि स्पष्ट है। ऋग्वेद का समाज ऋषभदेव कालीन समाज से आगे वढा हुआ है—इसमें सन्देह नही है। कृषि आदि का उस समाज में प्रचलन स्पष्ट है। इस दृष्टि से देखा जाय तो ऋषभदेव के समाज का काल ऋग्वेद से भी प्राचीन हो जाता है। कितना प्राचीन, यह कहना सम्भव नही नही अतएव उसकी चर्चा करना निरर्थक है। जिस प्रकार जैन शास्त्रो मे राज-परम्परा की स्थापना की चर्चा है और उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की व्यवस्था है वैसे ही काल की दृष्टि से उन्नति और ह्रास का चित्र तथा राजपरम्परा की स्थापना का चित्र वौद्धपरम्परा में भी मिलता है। इसके लिए दीघनिकाय के चक्कवत्तिसुत्त (भाग ३, पृ० ४६) तथा अग्गञ्ञसुत्त (भाग ३, पृ० ६३) देखना चाहिए। जैनपरम्परा के कुलकरो की परम्परा में नाभि और उनके पुत्र ऋषभ का जो स्थान है करीव वैसा ही स्थान वौद्धपरम्परा में महासम्मत का है (अगञ्ञ-सुत्त-दीघ० का) और सामयिक परिस्थिति भी दोनो में करीव-करीव समानरूप से चित्रित है। सस्कृति के विकास का उसे प्रारम्भ काल कहा जा सकता है। ये सब वर्णन पौराणिक हैं, यही उसकी प्राचीनता में प्रवल प्रमाण माना जा सकता है।

हिन्दू पुराणो में ऋषभचरित ने स्थान पाया है और उनके माता-पिता मरु-देवी और नाभि के नाम भी वही हैं जैसा जैनपरम्परा मानती है और उनके त्याग और तपस्या का भी वही रूप है जैसा जैनपरम्परा में वर्णित है। आश्चर्य तो यह है कि उनको वेदविरोधी मान कर भी विष्णु के अवताररूप मे वुद्ध की तरह माना गया है।[१] यह इस वात का प्रमाण है कि ऋषभ का व्यक्तित्व प्रभावक था और जनता में प्रतिष्ठित भी। ऐसा न होता तो वैदिक परम्परा में तथा पुराणो में उनको विष्णु के अवतार का स्थान न मिलता। जैनपरम्परा में तो उनका स्थान प्रथम तीर्थंकर के रूप में निश्चित किया गया है। उनकी साधना का क्रम यज्ञ न होकर तपस्या है—यह इस वात का प्रमाण है कि वे श्रमण-परम्परा से मुख्यरूप से सम्वद्ध थे। श्रमणपरम्परा में यज्ञ द्वारा देव में नही किन्तु अपने कर्म द्वारा अपने में विश्वास मुख्य है।

---

१ History of Dharmasastra, Vol V, part II p 995, जै० सा० इ० पू०, पृ० १२०

पं० श्री कैलाशचन्द्र ने शिव और ऋषभ के एकीकरण की जो सम्भावना प्रकट की है और जैन तथा शैव धर्म का मूल एक परम्परा में खोजने का जो प्रयास किया है[1] वह सवमान्य हो या न हो किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऋषभ का व्यक्तित्व ऐसा था जो वैदिकों को भी आकर्षित करता था और उनकी प्राचीनकाल में ऐसी प्रसिद्धि रही जिसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं था। अतएव ऋषभचरित ने एक या दूसरे प्रसङ्ग से वेदों से लेकर पुराणों और अन्त में श्रीमद्-भागवत में भी विशिष्ट अवतारों में स्थान प्राप्त किया है। अतएव डा० जेकोबी ने भी जैनों की इस परम्परा में कि जैनधर्म का प्रारम्भ ऋषभदेव से हुआ है—सत्य की सम्भावना मानी है।[2]

डा० राधाकृष्णन् ने यजुर्वेद में ऋषभ, अजितनाथ और अरिष्टनेमि का उल्लेख होने की बात कही है किन्तु डा० शुब्रिग मानते हैं कि ऐसी कोई सूचना उसमें नहीं है।[3] पं० श्री कैलाशचन्द्र ने[4] डा० राधाकृष्णन् का समर्थन किया है। किन्तु इस विषय में निर्णय के लिए अधिक गवेषणा की आवश्यकता है।

एक ऐसी भी मान्यता विद्वानों में प्रचलित है[5] कि जैनों ने अपने २४ तीर्थकरों की नामावलि की पूर्ति प्राचीनकाल में भारत में प्रसिद्ध उन महापुरुषों के नामों को लेकर की है जो जैनधर्म को अपनानेवाले विभिन्न वर्गों के लोगों में मान्य थे। इस विषय में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि ये महापुरुष यज्ञों की—हिंसक यज्ञों की प्रतिष्ठा करनेवाले नहीं थे किन्तु करुणा की और त्याग-तपस्या की तथा आध्यात्मिक साधना की प्रतिष्ठा करनेवाले थे—ऐसा माना जाय तो इसमें आपत्ति की कोई बात नहीं हो सकती।

जैनपरम्परा में ऋषभ से लेकर भगवान् महावीर तक २४ तीर्थङ्कर माने जाते हैं उनमें से कुछ ही का निर्देश जैनेतर शास्त्रों में है। तीर्थङ्करों की जो कथाएँ जैनपुराणों में दी गई हैं उनमें ऐसी कथाएँ भी हैं जो अन्यत्र भी प्रसिद्ध हैं किन्तु नामान्तरों से। अतएव उनपर विशेष विचार न करके यहाँ उन्हीं तीर्थंकरों पर विशेष विचार करना है जिनका नामसाम्य अन्यत्र उपलब्ध है या जिनके विषय में विना नाम के भी निश्चित प्रमाण मिल सकते हैं।

---

१ जैं० सा० इ० पू०, प० १०७
२ जैं० सा० इ० पू०, पृ० ५
३ Doctrine of the Jainas, p 28, Fn 2
४ जैं० सा० इ० पू०, पृ० १०८
५ Doctrine of the Jainas, p 28

बौद्ध अगुत्तरनिकाय में पूर्वकाल में होनेवाले सात शास्ता वीतराग तीर्थंकरो की बात भगवान् बुद्ध ने कही है—"भूतपुब्ब भिक्खवे सुनेत्तो नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो मुगपक्ख अरनेमि कुद्दालक हत्थिपाल जोतिपाल अरको नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो। अरकस्स खो पन, भिक्खवे, सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेसु" (भाग ३ पृ० २५६-२५७)। सम्भवत अर नाथ

इसी प्रसग में अरकसुत्त में अरक का उपदेश कैसा था, यह भी भगवान् बुद्ध ने वर्णित किया है। उनका उपदेश था कि "अप्पक। जीवित मनुस्सान परित्त, लहुक बहुदुक्ख बहुपायास मन्तय बोद्धव्व कत्तव्व कुसल, चरितव्व ब्रह्मचरियं, नत्थि जातस्स अमरण' (पृ० २५७)। और मनुष्यजीवन की इस नश्वरता के लिए उपमा दी है कि सूर्य के निकलने पर जैसे तृणाग्र में स्थित (घास आदि पर पडा) ओसबिन्दु तत्काल विनष्ट हो जाता है वैसे ही मनुष्य का यह जीवन भी शीघ्र मरणाधीन होता है। इस प्रकार इस ओसबिन्दु की उपमा के अलावा पानी के बुद्बुद और पानी में दण्डराजि आदि का भी उदाहरण देकर जीवन की क्षणिकता बताई गई है (पृ० २५८)।

अरक के इस उपदेश के साथ उत्तराध्ययनगत 'समय गोयम मा पमायए' उपदेश तुलनीय है (उत्तरा अ १०)। उसमें भी जीवन की क्षणिकता के ऊपर भार दिया गया है और अप्रमादी बनने को कहा गया है। उसमें भी कहा है—

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोव चिटठइ लंबमाणए।
एव मणुयाण जोविय समय गोयम मा पमायए ॥

अरक के समय के विषय में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि अरक तीर्थंकर के समय में मनुष्यो की आयु ६० हजार वर्ष की होती थी, ५०० वर्ष की कुमारिका पति के योग्य मानी जाती थी। उस समय के मनुष्यो को केवल छ प्रकार की पीडा होती थी—शीत, उष्ण, भूख, तृषा, पेशाब करना और मलोत्सर्ग करना। इनके अलावा कोई रोगादि की पीडा न होती थी। इतनी बडी आयु और इतनी कम पीडा फिर भी अरक का उपदेश जीवन की नश्वरता का और जीवन में बहुदुःख का था।

भगवान् बुद्ध द्वारा वर्णित इस अरक तीर्थंकर की बात का अठारहवें जैन तीर्थंकर अर के साथ कुछ मेल बैठ सकता है या नही, यह विचारणीय है। जैनशास्त्रो के आधार से अर की आयु ८४००० वर्ष मानी गई है और उनके बाद होनेवाले मल्ली तीर्थंकर की आयु ५५००० वर्ष है। अतएव पौराणिक

दृष्टि से विचार किया जाय तो अरक का समय अर और मल्ली के बीच ठहरता है। उस आयु के भेद को न माना जाय तो इतना तो कहा ही जा सकता है कि अर या अरक नामक कोई महान व्यक्ति प्राचीन पुराणकाल में हुआ था जिन्हें बौद्ध और जैन दोनों ने तीर्थंकर का पद दिया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अरक से भी पहले बुद्ध के मत से अरनेमि नामक एक तीर्थकर हुए हैं। बुद्ध के बताये गये अरनेमि और जैन तीर्थंकर अर का भी कुछ सम्बन्ध हो सकता है। नामसाम्य आंशिक रूप से है ही और दोनों की पौराणिकता भी मान्य है।

बौद्ध थेरगाथा में एक अजित थेर के नाम से गाथा है—

मरणे मे भय नत्थि निकन्ति नत्थि जीविते।
सन्देहं निक्खिपिस्सामि सम्पजानो पटिस्सतो॥

—थेरगाथा १ २०

उसकी अट्ठकथा में कहा गया है कि ये अजित ९१ कल्प के पहले प्रत्येक-बुद्ध हो गये हैं। जैनों के दूसरे तीर्थंकर अजित और ये प्रत्येकबुद्ध अजित योग्यता और नाम के अलावा पौराणिकता में भी साम्य रखते हैं। महाभारत में अजित और शिव का ऐक्य वर्णित है। बौद्धों के, महाभारत के और जैनों के अजित एक हैं या भिन्न, यह कहना कठिन है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि अजित नामक व्यक्ति ने प्राचीनकाल में प्रतिष्ठा पाई थी।

बौद्धपिटक में निग्गन्थ नातपुत्त का कई बार नाम आता है और उनके उपदेश की कई बातें ऐसी हैं जिससे निग्गन्थ नातपुत्त की ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर से अभिन्नता सिद्ध होती है। इस विषय में सर्वप्रथम डॉ० जेकोबी ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था और अब तो यह बात सर्वमान्य हो गई है। डॉ० जेकोबी ने बौद्धपिटक से ही भगवान् पार्श्वनाथ के अस्तित्व को भी साबित किया है। भगवान् महावीर के उपदेशों में बौद्धपिटकों में बारबार उल्लेख आता है कि उन्होंने चतुर्याम का उपदेश दिया है। डा० जेकोबी ने इस पर से अनुमान लगाया है कि बुद्ध के समय में चतुर्याम का पार्श्वनाथ द्वारा दिया गया उपदेश जैसा कि स्वयं जैनधर्म की परम्परा में माना गया है, प्रचलित था। भगवान् महावीर ने उस चतुर्याम के स्थान में पाँच महाव्रत का उपदेश दिया था। इस बात को बुद्ध जानते न थे। अतएव जो पार्श्व का उपदेश था उसे महावीर का उपदेश कहा गया। बौद्धपिटक के इस गलत उल्लेख से जैन परम्परा को मान्य पार्श्व और उनके उपदेश का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार बौद्धपिटक से हम पार्श्वनाथ के अस्तित्व के विषय में प्रबल प्रमाण पाते हैं।

सोरेन्सन ने महाभारत के विशेष नामो का कोष बनाया है। उसके देखने से पता चलता है कि सुपार्श्व, चन्द्र और सुमति ये तीन नाम ऐसे हैं जो तीर्थंकरो के नामो से साम्य रखते हैं। विशेष बात यह भी ध्यान देने की है कि ये तीनो ही असुर हैं। और यह भी हम जानते हैं कि पौराणिक मान्यता के अनुसार अर्हतो ने जो जैनधर्म का उपदेश दिया है वह विशेषत असुरो के लिए था। अर्थात् वैदिक पौराणिक मान्यता के अनुसार जैनधर्म असुरो का धर्म है। ईश्वर के अवतारो मे जिस प्रकार ऋषभ को अवतार माना गया है उसी प्रकार सुपार्श्व को महाभारत में कुपथ नामक असुर का अंशावतार माना गया है। चन्द्र को भी अंशावतार माना गया है। सुमति नामक असुर के लिए कहा गया है कि वरुणप्रासाद में उनका स्थान दैत्यो और दानवो में था। तथा एक अन्य सुमति नाम के ऋषि का भी महाभारत मे उल्लेख है जो भीष्म के समकालीन बताये गये हैं।

जिस प्रकार भागवत में ऋषभ को विष्णु का अवतार माना गया है उसी प्रकार अवतार के रूप में तो नही किन्तु विष्णु और शिव के जो सहस्रनाम महाभारत मे दिये गये हैं उनमें श्रेयम, अनन्त, धर्म, शान्ति और सम्भव—ये नाम विष्णु के भी हैं और ऐसे ही नाम जैन तीर्थंकरो के भी मिलते हैं। सहस्रनामो के अभ्यास से यह पता चलता है कि पौराणिक महापुरुषो का अभेद विष्णु से और शिव से करना—यह भी उसका एक प्रयोजन था। प्रस्तुत मे इन नामो से जैन तीर्थंकर अभिप्रेत है या नही, यह विचारणीय है। शिव के नामो में भी अनन्त, धर्म, अजित, ऋषभ—ये नाम आते हैं जो तत्तत् तीर्थंकरो के नाम भी हैं।

शान्ति विष्णु का भी नाम है, यह कहा ही गया है। महाभारत के अनुसार उस नाम के एक इन्द्र और ऋषि भी हुए हैं। इनका सम्बन्ध शान्ति नामक जैन तीर्थंकर से है या नही, यह विचारणीय है। बीसवें तीर्थंकर के नाम मुनिसुव्रत में मुनि को सुव्रत का विशेषण माना जाय तो सुव्रत नाम ठहरता है। महाभारत में विष्णु और शिव का भी एक नाम सुव्रत मिलता है। नामसाम्य के अलावा जो इन महापुरुषो का सम्बन्ध असुरो से जोडा जाता है वह इस बात के लिए तो प्रमाण बनता ही है कि ये वेदविरोधी थे। उनका वेदविरोधी होना उनके श्रमण-परम्परा से सम्बद्ध होने की सम्भावना को दृढ करता है।

आगमो का वर्गीकरण :

साम्प्रतकाल में आगम रूप से जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं और मान्य हैं उनकी सूची नीचे दी जाती है। उनका वर्गीकरण करके यह सूची दी है क्योकि प्राय उसी रूप में वर्गीकरण साम्प्रतकाल मे मान्य है[1]—

---

१ विशेष विस्तृत चर्चा के लिए देखिए—Prof Kapadia—A History of the Canonical literature of the Jainas, Chap II

११ अंग—जो श्वेताम्बरों के सभी सम्प्रदायों को मान्य हैं वे हैं—

१ आयार (आचार), २ सूयगड (सूत्रकृत), ३ ठाण (स्थान), ४ समवाय, ५ वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ६ नायाधम्मकहाओ (ज्ञातधर्मकथा), ७ उवासगदसाओ (उपासदशा), ८ अतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा), ९ अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपादिकदशा), १० पण्हावागरणाइ (प्रश्नव्याकरणानि), ११ विवागसुय (विपाकश्रुतम्) (१२ दृष्टिवाद, जो विच्छिन्न हुआ है) ।

१२ उपांग—जो श्वेताम्बरों के तीनों सम्प्रदायों को मान्य हैं—

१ उववाइय (औपपातिक), २ रायपसेणइज्ज (राजप्रसेनजित्क) अथवा रायपसेणिय (राजप्रश्नीय), ३ जीवाजीवाभिगम, ४ पण्णवणा (प्रज्ञापना), ५ सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), ६ जंबुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), ७ चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), ८-१२ निरयावलियासुयक्खंध (निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध), ८ निरयावलियाओ (निरयावलिका), ९ कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतंसिका), १० पुप्फियाओ (पुष्पिका), ११ पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला), १२ वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा) ।

१० प्रकीर्णक—जो केवल श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय को मान्य हैं—

१ चउसरण (चतु शरण), २ आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), ३ भत्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), ४ संथार (संस्तार), ५ तंडुलवेयालिय (तण्डुलवैचारिक), ६ चंदवेज्झय (चन्द्रवेध्यक), ७ देविंदत्थय (देवेन्द्रस्तव), ८ गणिविज्जा (गणिविद्या), ९ महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), १० वीरत्थय (वीरस्तव) ।

६ छेद—१ आयारदसा अथवा दसा (आचारदशा), २ कप्प (कल्प[1]), ३ ववहार (व्यवहार), ४ निसीह (निशीथ), ५ महानिसीह (महानिशीथ), ६ जीयकप्प (जीतकल्प) । इनमें से अन्तिम दो स्थानकवासी और तेरापन्थी को मान्य नहीं हैं ।

२ चूलिकासूत्र—१ नन्दी, २ अणुयोगदारा (अनुयोगद्वाराणि) ।

४ मूलसूत्र—१ उत्तरज्झाया (उत्तराध्याया), २ दसवेयालिय (दशवैकालिक), ३ आवस्सय (आवश्यक), ४ पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति) । इनमें से अन्तिम स्थानकवासी और तेरापन्थी को मान्य नहीं है ।

यह जो गणना दी गई है उसमें एक के बदले कभी-कभी दूसरा भी आता है, जैसे पिण्डनिर्युक्ति के स्थान में ओघनिर्युक्ति । दस प्रकीर्णकों में भी नामभेद देखा

---

१ दशाश्रुत में से पृथक् किया गया एक दूसरा कल्पसूत्र भी है । उसके नामसाम्य से भ्रम उत्पन्न न हो इसलिए इसका दूसरा नाम बृहत्कल्प रखा गया है ।

जाता है। छेद में भी नामभेद है। कभी-कभी पञ्चकल्प को इस वर्ग में शामिल किया जाता है।[1]

प्राचीन उपलब्ध आगमो मे आगमों का जो परिचय दिया गया है उसमें यह पाठ है—"इह खलु समणेणं भगवया महावीरेण आइगरेण तित्थगरेण' इमे दुवालसगे गणिपिडगे पण्णत्ते, त जहा—आयारे सूयगडे ठाणे समवाए वियाहपन्नत्ति नायाधम्मकहाओ उवासगदसाओ अतगडदसाओ अणुत्तरोववाइयदसाओ पण्हावागरण विवागसुए दिट्ठिवाए। तत्थ णं जे से चउत्थे अगे समवाए त्ति आहिए तस्स ण अयमट्ठे पण्णत्ते" (समवाय अग का प्रारम्भ)।

समवायाग मूल में जहाँ १२ सख्या का प्रकरण चला है वहाँ द्वादशाग का परिचय न देकर एक कोटि समवाय के बाद वह दिया है। वहाँ का पाठ इस प्रकार प्रारम्भ होता है—दुवालसगे गणिपिडगे पन्नत्ते, त जहा आयारे . दिट्ठिवाए। से क त आयारे ? आयारे ण समणाण " इत्यादि क्रम से एक-एक का परिचय दिया है। परिचय में "अगट्ठयाए पढमें अगट्ठयाए दोच्चे " इत्यादि देकर द्वादश अगो के क्रम को भी निश्चित कर दिया है। परिणाम यह हुवा कि जहाँ कही अगो की गिनती की गई, पूर्वोक्त क्रम का पालन किया गया। अन्य वर्गों में जैसा व्युत्क्रम दीखता है वैसा द्वादशागो के क्रम में नही देखा जाता।

दूसरी बात ध्यान देने की है कि "तस्स ण अयमट्ठे पण्णत्ते" (समवाय का प्रारम्भ) और "अगट्ठयाए पढमे"—इत्यादि में 'अट्ठ' (अर्थ) शब्द का प्रयोग किया है वह विशेष प्रयोजन से है। जो यह परम्परा स्थिर हुई है कि 'अत्थ भासइ अरहा (आवनि० १९२)—उसी के कारण प्रस्तुत में 'अट्ठ'—'अर्थ' शब्द का प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थरचना—शब्द-रचना तीर्थंकर भगवान् महावीर की नही है किन्तु उपलब्ध आगम में जो ग्रन्थ-रचना है, जिन शब्दो में यह आगम उपलब्ध है उससे फलित होनेवाला अर्थ या तात्पर्य भगवान् द्वारा प्रणीत है। ये भी शब्द भगवान् के नही हैं किन्तु इन शब्दो का तात्पर्य जो स्वय भगवान् ने बताया था उससे भिन्न नही है। उन्ही के उपदेश के आधार पर "सुत्त गन्थन्ति गणहरा निउण" (आवनि० १९२)—गणधर सूत्रो की रचना करते हैं। साराश यह है कि उपलब्ध अग आगम की रचना गणवरो ने की है—ऐसी परम्परा है।

---

१ देखिए—Prof Kapadia—A History of the Canonical Literature of the Jainas, Chap II

यह रचना गणधरों ने अपने मन से नहीं की किन्तु भगवान् महावीर के उपदेश के आधार पर की है अतएव वे आगम प्रमाण माने जाते हैं।

तीसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह कि इन द्वादश ग्रन्थों को 'अंग' कहा गया है। इन्हीं द्वादश अंगों का एक वर्ग है जिसका गणिपिटक के नाम से परिचय दिया गया है। गणिपिटक में इन बारह के अलावा अन्य आगम ग्रन्थों का उल्लेख नहीं है। इससे यह भी सूचित होता है कि मूलरूप से आगम ये ही थे और इन्हीं की रचना गणधरों ने की थी।

'गणिपिटक' शब्द द्वादश अंगों के समुच्चय के लिए तो प्रयुक्त हुआ ही है किन्तु वह प्रत्येक के लिए भी प्रयुक्त होता होगा ऐसा समवायांग के एक उल्लेख से प्रतीत होता है—"तिण्हं गणिपिडगाण आयारचूलिया वज्जाण सत्तावन्न अज्झयणा पन्नत्ता तं जहा-आयारे सूयगडे ठाणे।" (समवाय ५७ वां)। अर्थात् आचार आदि प्रत्येक की जैसे अंग संज्ञा है वैसे ही प्रत्येक की 'गणिपिटक' ऐसी भी संज्ञा थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में 'अंग' (वेदांग) उन संहिताएँ, जो प्रधान वेद थे, उनसे भिन्न कुछ ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त है। और वहाँ 'अंग' का तात्पर्य है—वेदों के अध्ययन में सहायभूत विविध विद्याओं के ग्रन्थ। अर्थात् वैदिक वाङ्मय में 'अंग' का तात्पर्यार्थ मौलिक नहीं किन्तु गौण ग्रन्थों से है। जैनों में 'अंग' शब्द का यह तात्पर्य नहीं है। आचार आदि अंग ग्रन्थ किसी के सहायक या गौण ग्रन्थ नहीं है किन्तु इन्हीं बारह ग्रन्थों से बननेवाले एक वर्ग की इकाई होने से 'अंग' कहे गये हैं[1] इसमें सन्देह नहीं। इसीसे आगे चलकर श्रुतपुरुष[2] की कल्पना की गई और इन द्वादश अंगों को उस श्रुतपुरुष के अंगरूप से माना गया।

अधिकांश जैन तीर्थंकरों की परम्परा पौराणिक होने पर भी उपलब्ध समग्र जैन साहित्य का जो आदिस्रोत समझा जाता है वह जैनागमरूप अंग साहित्य वेद जितना पुराना नहीं है, यह मानी हुई बात है। फिर भी उसे बौद्धपिटक का समकालीन तो माना जा सकता है।[3]

डा० जेकोबी आदि का तो कहना है कि समय की दृष्टि से जैनागम का रचनासमय जो भी माना जाय किन्तु उसमें जिन तथ्यों का संग्रह है वे तथ्य ऐसे

---

१ Doctrine of the Jainas, P. 73

२ नन्दीचूर्णि, पृ० ४७, कापडिया—कैनोनिकल लिटरेचर, पृ० २१

३ "बौद्धसाहित्य जैनसाहित्य का समकालीन ही है"—ऐसा प० कैलाशचन्द्र जब लिखते हैं तब इसका अर्थ यही हो सकता है। देखिये—जैन सा इ पूर्वपीठिका, पृ० १७४

नही है जो उसी सग्रह काल के हो। ऐसे कई तथ्य उसमें सगृहीत हैं जिनका सम्बन्ध प्राचीन पूर्व परम्परा से है।[1] अतएव जैनागमो के समय का विचार करना हो तब विद्वानो की यह मान्यता ध्यान में अवश्य रखनी होगी।

जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर भले ही अनेक हो किन्तु उनके उपदेश में साम्य होता है[2] और तत्तत्काल में जो भी अन्तिम तीर्थंकर हो उन्ही का उपदेश और शासन विचार और आचार के लिए प्रजा में मान्य होता है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थंकर होने से उन्ही का उपदेश अन्तिम उपदेश है और वही प्रमाणभूत है। शेष तीर्थंकरो का उपदेश उपलब्ध भी नही और यदि हो तब भी वह भगवान् महावीर के उपदेश के अन्तर्गत हो गया है—ऐसा मानना चाहिए।

प्रस्तुत में यह स्पष्ट करना जरूरी है कि भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया उसे सूत्रबद्ध किया है गणधरो ने। इसीलिए अर्थोपदेशक या अर्थरूप शास्त्र के कर्ता भगवान् महावीर माने जाते हैं और शब्दरूप शास्त्र के कर्ता गणधर हैं।[3] अनुयोगद्वारगत (सू० १४४, पृ० २१९) सुत्तागम, अत्थागम, अतागम, अणतरागम आदि जो लोकोत्तर आगम के भेद हैं उनसे भी इसी का समर्थन होता है। भगवान् महावीर ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनके उपदेश का सम्वाद भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से है तथा यह भी शास्त्रो में कहा गया है कि पार्श्व और महावीर के आध्यात्मिक सन्देश में मूलत कोई भेद नही है। कुछ बाह्याचार में भले ही भेद दिखता हो।[4]

जैन परम्परा में आज शास्त्र के लिए 'आगम' शब्द व्यापक हो गया है किन्तु प्राचीन काल में वह 'श्रुत' या 'सम्यक् श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध था।[5] इसी से 'श्रुतकेवली' शब्द प्रचलित हुआ न कि आगमकेवली या सूत्रकेवली। और

---

१ Doctrine of the Jainas, P 15

२ इसी दृष्टि से जैनागमो को अनादि-अनन्त कहा गया है—'इच्चेइय दुवालसग गणिपिडग न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च भवइ च भविस्सइ य, धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे"—नन्दी, सू० ५८, समवायाग, सू० १४८

३. अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तइ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १९२; धवला भा० १, पृ० ६४ तथा ७२

४ Doctrine of the Jainas, P 29

५ नन्दी, सू० ४१

स्थविरों की गणना में भी श्रुतस्थविर[1] को स्थान मिला है वह भी 'श्रुत' शब्द की प्राचीनता सिद्ध करता है। आचार्य उमास्वाति ने श्रुत के पर्यायों का उल्लेख किया है वह इस प्रकार है[2]—श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन। इनमें से आज 'आगम'[3] शब्द ही विशेष प्रचलित है।

समवायांग आदि आगमों से मालूम होता है कि भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया था उसकी संकलना 'द्वादशांगी' में हुई और वह 'गणिपिटक' इसलिए कहलाया कि गणि के लिए वही श्रुतज्ञान का भण्डार था।[4]

समय के प्रवाह में आगमों की संख्या बढ़ती ही गई जो ८४ तक पहुँच गई है। किन्तु सामान्य तौर पर श्वेताम्बरों में मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में वह ४५ और स्थानकवासी तथा तेरापन्थ में ३२ तक सीमित है। दिगम्बरों में एक समय ऐसा था जब वह संख्या १२ अंग और १४ अंगबाह्य = २६ में सीमित थी।[5] किन्तु अंगज्ञान की परम्परा वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष तक ही रही और उसके बाद वह आंशिक रूप से चलती रही—ऐसी दिगम्बर-परम्परा है।[6]

आगम की क्रमशः जो संख्यावृद्धि हुई उसका कारण यह है कि गणधरों के अलावा अन्य प्रत्येकबुद्ध महापुरुषों ने जो उपदेश दिया था उसे भी प्रत्येकबुद्ध के केवली होने से आगम में सन्निविष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार गणिपिटक के ही आधार पर मन्द बुद्धि शिष्यों के हितार्थ श्रुतकेवली आचार्यों ने जो ग्रन्थ बनाये थे उनका समावेश भी, आगम के साथ उनका अविरोध होने से और आगमार्थ की ही पुष्टि करनेवाले होने से, आगमों में कर लिया गया। अन्त में सम्पूर्णदशपूर्व के ज्ञाता द्वारा ग्रथित ग्रन्थ भी आगम में समाविष्ट इसलिए किये गये कि वे भी आगम को पुष्ट करने वाले थे और उनका आगम से

---

१ स्थानांग, सू० १५९ २ तत्त्वार्थभाष्य, १.२०

३ सर्वप्रथम अनुयोगद्वार सूत्र में लोकोत्तर आगम में द्वादशांग गणिपिटक का समावेश किया है और आगम के कई प्रकार के भेद किये हैं—सू० १४४, पृ० २१८

४ "दुवालसंगे गणिपिडगे"—समवायांग, सू० १ और १३६, नन्दी, सू० ४१ आदि।

५ जयधवला, पृ० २५, धवला, भा० १, पृ० ९६, गोम्मटसार—जीवकाण्ड, गा० ३६७, ३६८ विशेष के लिए देखिए—आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० २२-२७

६ जै० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० ५२८, ५३४, ५३८ (इनमें सकलश्रुतज्ञान का विच्छेद उल्लिखित है। यह संगत नहीं जँचता)।

विरोध इसलिए भी नही हो सकता था कि वे निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि होते थे। निम्न गाथा से इसी बात की सूचना मिलती है—

सुत्त गणहरकथिद तहेव पत्तेयबुद्धकथिद च।
सुदकेवलिणा कथिद अभिण्णदसपूव्वकथिद च॥[1]

—मूलाचार ५ ८०

इससे कहा जा सकता है कि किसी ग्रन्थ के आगम में प्रवेश के लिए यह मानदण्ड था। अतएव वस्तुत जब से दशपूर्वधर नही रहे तब से आगम की सख्या में वृद्धि होना रुक गया होगा, ऐसा माना जा सकता है। किन्तु श्वेताम्बरो के आगमरूप से मान्य कुछ प्रकीर्णक ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो उस काल के बाद भी आगम में सम्मिलित कर लिये गये हैं। इसमें उन ग्रन्थो की निर्दोषता और वैराग्य भाव की वृद्धि में उनका विशेष उपयोग—ये ही कारण हो सकते हैं या कर्ता आचार्य की उस काल में विशेष प्रतिष्ठा भी कारण हो सकती है।

जैनागमो की सख्या जब बढने लगी तब उनका वर्गीकरण भी आवश्यक हो गया। भगवान् महावीर के मौलिक उपदेश का गणधरकृत सग्रह द्वादश 'अग' या 'गणिपिटक' में था, अतएव यह स्वय एक वर्ग हो जाय और उससे अन्य का पार्थक्य किया जाय यह जरूरी था। अतएव आगमो का जो प्रथम वर्गीकरण हुआ वह अग और अगबाह्य इस आधार पर हुआ। इसीलिए हम देखते हैं कि अनुयोग (सू० ३) के प्रारम्भ में 'अगपविट्ठ' (अगप्रविष्ट) और 'अग-बाहिर' (अगबाह्य) ऐसे श्रुत के भेद किये गये हैं। नन्दी (सू० ४४) में भी ऐसे ही भेद हैं। अगबाहिर के लिए वहाँ 'अणगपविट्ठ' शब्द भी प्रयुक्त है (सू० ४४ के अन्त में)। अन्यत्र नन्दी (सू० ३८) में ही 'अगपविट्ठ' और 'अणगपविट्ठ'—ऐसे दो भेद किये गये हैं।

इन अगबाह्य ग्रन्थो की सामान्य सज्ञा 'प्रकीर्णक' भी थी, ऐसा नन्दीसूत्र से प्रतीत होता है।[2] अगशब्द को ध्यान में रख कर अगबाह्य ग्रन्थो की सामान्य सज्ञा 'उपाग' भी थी, ऐसा निरयावलिया सूत्र के प्रारम्भिक उल्लेख से प्रतीत

---

१ यही गाथा जयधवला में उद्धृत है—पृ० १५३ इसी भाव को व्यक्त करनेवाली गाथा सस्कृत में द्रोणाचार्य ने ओघनिर्युक्ति की टीका में पृ० ३ में उद्धृत की है।

२ एवमाइयाइ चउरासीइ पइन्नगसहस्साइ ' अहवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेआ तस्स तत्तिआइ पइण्णगसहस्साइ "—नन्दी, सू० ४४

होता है और उससे यह भी प्रतीत होता है कि कोई एक समय ऐसा था जब ये निरयावलियादि पांच ही उपांग माने जाते होंगे।

समवायांग, नन्दी, अनुयोग तथा पाक्षिकसूत्र के समय तक सूत्र आगम के मुख्य विभाग दो ही थे—अंग और अंगबाह्य। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रभाष्य[1] से भी यही फलित होता है कि उनके समय तक भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ऐसे ही विभाग प्रचलित थे।

स्थानांग सूत्र (२७७) में जिन चार प्रज्ञप्तियों को अंगबाह्य कहा गया है वे हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति। इनमें से जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति को छोड़ कर शेष तीन कालिक हैं—ऐसा भी उल्लेख स्थानांग (१५२) में है।

अंग के अतिरिक्त आचारप्रकल्प (निशीथ) (स्थानांग, ४३३, समवायांग, २८), आचारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध), बन्धदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा और संक्षेपितदशा का भी स्थानांग (७५५) में उल्लेख है। किन्तु बन्धदशादि शास्त्र अनुपलब्ध हैं। टीकाकार के समय में भी यही स्थिति थी, जिससे उनको कहना पड़ा कि ये कौन ग्रन्थ हैं, हम नहीं जानते। समवायांग में उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों के नाम दिये हैं (सम ३६) तथा दशा-कल्प-व्यवहार इन तीन के उद्देशनकाल की चर्चा है। किन्तु उनको छेदसंज्ञा नहीं दी गई है।

प्रज्ञप्ति का एक वर्ग अलग होगा, ऐसा स्थानांग से पता चलता है। कुवलय-माला (पृ० ३४) में अंगबाह्य में प्रज्ञापना के अतिरिक्त दो प्रज्ञप्तियों का उल्लेख है।

'छेद' संज्ञा कब से प्रचलित हुई और छेद में प्रारम्भ में कौन से शास्त्र सम्मि-लित थे—यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु आवश्यकनिर्युक्ति में सर्वप्रथम 'छेदसुत्त' का उल्लेख मिलता है। उससे प्राचीन उल्लेख अभी तक मिला नहीं है।[2] इससे अभी इतना तो कहा ही जा सकता है कि आवश्यकनिर्युक्ति के समय में छेदसुत्त का वर्ग पृथक् हो गया था।

कुवलयमाला जो २१-३-७७९ ई० में समाप्त हुई, उसमें जिन नाना ग्रन्थों और विषयों का स्मरण चिन्तन करते थे उनके कुछ नाम गिनाये हैं।[3] उसमें सर्वप्रथम आचार से लेकर दृष्टिवादपर्यन्त[4] अंगों के नाम हैं। तदनन्तर प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति का उल्लेख है। तदनन्तर ये गाथाएँ हैं—

---

१ तत्त्वार्थसूत्रभाष्य, १.२०

२ आव० नि० ७७७, केनोनिकल लिटरेचर, पृ० ३६ में उद्धृत।

३ कुवलयमाला, पृ० ३४।

४. विपाक का नाम इसमें नहीं आता, यह स्वयं लेखक की या लिपिकार की असावधानी के कारण है।

अण्णाइ य गणहरभासियाइ सामण्णकेवलिकयाइं ।
पच्चेयसयबुद्धेहि विरइयाइ गुणेति महरिसिणो ॥
कत्थइ पचावयव दसह च्चिय साहण परूवेति ।
पच्चक्खमणुमाणपमाणचउक्कय च अण्णे वियारेति ॥
भवजलहिजाणवत्त पेम्ममहारायणियलणिद्दलण ।
कम्मट्ठगठिवज्ज अण्णे धम्म परिकहेति ॥
मोहधयाररविणो परवायकुरगदरियकेसरिणो ।
णयसयखरणहरिल्ले अण्णे अह वाइणो तत्थ ॥
लोयालोयपयास दूरतरसण्हवत्थुपज्जोय ।
केवलिसुत्तणिवद्ध णिमित्तमण्णे वियारति ॥
णाणाजीवुप्पत्ती सुवण्णमणिरयणधाउसजोय ॥
जाणति जणियजोणी जोणीण पाहुड अण्णे ॥
ललियवयणत्थसार सव्वालकारणिव्वडियसोह ।
अमयप्पवाहमहुर अण्णे कव्व विहतति ॥
बहुतततमतविज्जावियाणया सिद्धजोयजोइसिया ।
अच्छति अणुगुणेता अवरे सिद्धतसाराइ ॥

कुवलयमालागत इस विवरण में एक तो यह बात ध्यान देने योग्य है कि अग के बाद अगबाह्यो का उल्लेख है। उनमें अगो के अलावा जिन आगमो के नाम हैं वे मात्र प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के हैं। इसके बाद गणधर, सामान्यकेवली, प्रत्येकबुद्ध और स्वयसम्बुद्ध के द्वारा भाषित या विरचित ग्रन्थो का सामान्य तौर पर उल्लेख है। वे कौन थे इसका नामपूर्वक उल्लेख नही है। दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि इसमें दशपूर्वीकृत ग्रथो का उल्लेख नही है। गणधर का उल्लेख होने से श्रुतकेवली का उल्लेख सूचित होता है। दूसरी ओर कर्म, मन्त्र, तन्त्र, निमित्त आदि विद्याओं के विषय में उल्लेख है और योनिपाहुड का नामपूर्वक उल्लेख है। काव्यो का चिन्तन भी मुनि करते थे यह भी बताया है। निमित्त को केवलीसूत्रनिबद्ध कहा गया है। कुवलयमाला के दूसरे उल्लेख से यह फलित होता है कि लेखक के मन में केवल आगम ग्रन्थो का ही उल्लेख करना अभीष्ट नही है। प्रज्ञापना आदि तीन अगबाह्य ग्रन्थो का जो नामोल्लेख है यह अगबाह्यो में उनकी विशेष प्रतिष्ठा का द्योतक है। धवला[1] जो ८ १०. ८१६ ई० को समाप्त हुई, उससे भी यही सिद्ध होता है कि उस काल तक आगम के अगबाह्य और अगप्रविष्ट ऐसे दो विभाग थे।

---

१ धवला, पुस्तक १ पृ० ९६

किन्तु साम्प्रतकाल में श्वेताम्बरो मे आगमो का जो वर्गीकरण प्रसिद्ध है वह कब शुरू हुआ, या किसने शुरू किया—यह जानने का निश्चित सावन उपस्थित नही है।

श्रीचन्द्र आचार्य (लेखनकाल ई० ११११२ से प्रारम्भ) ने 'सुखबोधा समाचारी' की रचना की है। उसमें उन्होने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का जो वर्णन किया है उसमे पता चलता है कि उनके काल तक अग और उपाग की व्यवस्था अर्थात् अमुक अङ्ग का अमुक उपाग ऐसी व्यवस्था बन चुकी थी। पठनक्रम में सर्वप्रथम आवश्यक सूत्र, तदनन्तर दशवैकालिक और उत्तराध्ययन के बाद आचार आदि अग पढे जाते थे। सभी अग एक ही साथ क्रम से पढे जाते थे, ऐसा प्रतीत नही होता। प्रथम चार आचाराग से समवायाग तक पढने के बाद निसीह, जीयकप्प, पचकप्प, कप्प, ववहार और दसा[1] पढे जाते थे। निसीह आदि की यहाँ छेदसज्ञा का उल्लेख नही है किन्तु इन सबको एक साथ रखा है यह उनके एक वर्ग की सूचना तो देता ही है। इन छेदग्रन्थो के अध्ययन के बाद नायधम्मकहा (छठा अग), उवासगदसा, अतगडदसा, अणुत्तरोववाइयदसा, पण्हावागरण और विपाक—इन अगो की वाचना होती थी। विवाग के बाद एक पक्ति में भगवई का उल्लेख है किन्तु यह प्रक्षिप्त हो—ऐसा लगता है क्योकि वहाँ कुछ भी विवरण नही है (पृ० ३१)। इसका विशेष वर्णन आगे चलकर "गणिजोगेसु य पचमग विवाहपन्नत्ति" (पृ० ३१) इन शब्दो से शुरू होता है। विपाक के बाद उवाग की वाचना का उल्लेख है। वह इस प्रकार है—उववाई, रायपसेणइय, जीवाभिगम, पन्नवणा, सूरपन्नत्ति, जबूदीवपन्नति, चन्दपन्नति। तीन पन्नत्तियो के विषय में उल्लेख है कि "तओ पन्नतिओ कालिआओ सघट्ट च कीरइ" (पृ० ३२)। तात्पर्य यह जान पडता है कि इन तीनो की तत् तत् अग की वाचना के साथ भी वाचना की जा सकती है। शेष पाँच अगो के लिए लिखा है कि "सेसाण पचण्हमगाण मयतरेण निरयावलिया सुयक्खधो उवग।" (पृ० ३२)। इस निरयावलिया के पाँच वर्ग हैं—निरयावलिया, कप्पवडिसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वण्हीदसा। इसके बाद 'इयाणि पइन्नगा' (पृ० ३२) इस उल्लेख के साथ नन्दी, अनुयोगद्वार, देविन्दत्थअ, तदुलवेयालिय, चदावेज्झय, आउरपच्चक्खाण और गणिविज्जा

---

१ सुखबोधा सामाचारी में 'निसीह सम्मत्त' ऐसा उल्लेख है और तदनन्तर जीयकप्प आदि मे सम्बन्धित पाठ के अन्त में 'कप्पववहारदसासुयक्खधो सम्मत्तो'—ऐसा उल्लेख है। अतएव जीयकप्प और पचकप्प की स्थिति सन्दिग्ध बनती है—पृ० ३०

का उल्लेख करके 'एवमाइया' लिखा है। इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि प्रकीर्णक में उल्लिखित के अलावा अन्य भी थे। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि नन्दी और अनुयोगद्वार को साम्प्रतकाल में प्रकीर्णक से पृथक् गिना जाता है किन्तु यहाँ उनका समावेश प्रकीर्णक में है। इस प्रकरण के अन्त में 'बाहिरजोगविहिसमत्तो' ऐसा लिखा है उससे यह भी पता चलता है कि उपाग और प्रकीर्णक दोनो की सामान्य सज्ञा या वर्ग अगबाह्य था। इसके बाद भगवती की वाचना का प्रसग उठाया है। यह भगवती का महत्त्व सूचित करता है। भगवती के बाद महानिसीह का उल्लेख है और उसका उल्लेख निसीहादि छेद ग्रथो के साथ नही है—इससे सूचित होता है कि वह बाद की रचना है। मतान्तर देने के बाद अन्त में एक गाथा दी है जिससे सूचना मिलती है कि कौन किस अग का उपाग है—

"उ० रा० जी० पन्नवणा सू० जं० च० नि० क० क० पु० पु० वह्लिदसनामा।
आयाराइउवगा नायव्वा आणुपुव्वीए ॥"

—सुखबोधा सामाचारी, पृ० ३४

श्रीचन्द्र के इस विवरण से इतना तो फलित होता है कि उनके समय तक अग, उपाग, प्रकीर्णक इतने नाम तो निश्चित हो चुके थे। उपागो में भी कौन ग्रथ समाविष्ट हैं यह भी निश्चित हो चुका था, जो साम्प्रतकाल में भी वैसा ही है। प्रकीर्णक वर्ग में नन्दी-अनुयोगद्वार शामिल था जो बाद में जाकर पृथक् हो गया। मूलसज्ञा किसी की भी नही मिलती जो आगे जाकर आवश्यकादि को मिली है।

जिनप्रभ ने अपने 'सिद्धान्तागमस्तव' में आगमो का नामपूर्वक स्तवन किया है किन्तु वर्गीकरण नही किया। उनका स्तवनक्रम इस प्रकार है—आवश्यक, विशेषावश्यक, दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, नन्दी, अनुयोगद्वार, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, आचारागे आदि ग्यारह अग (इनमें कुछ को अग सज्ञा दी गई है), औपपातिक आदि १२ (इनमें किसी को भी उपाग नही कहा है) मरणसमाधि आदि १३ (इनमें किसी को भी प्रकीर्णक नही कहा है), निशीथ, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, पचकल्प, जीतकल्प, महानिशीथ—इतने नामो के बाद निर्युक्ति आदि टीकाओ का स्तवन है। तदनन्तर दृष्टिवाद और अन्य कालिक, उत्कालिक ग्रन्थो की स्तुति की गई है। तदनन्तर अगविद्या, विशेषणवती, समति, नयचक्रवाल, तत्त्वार्थ, ज्योतिष्करण्ड, सिद्धप्राभृत, वसुदेवहिण्डी, कर्मप्रकृति आदि प्रकरण ग्रन्थो का उल्लेख है। इस सूची से एक बात तो सिद्ध होती है कि भले ही जिनप्रभ ने वर्गों के नाम नही दिये किन्तु उस समय तक कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए ऐसा एक क्रम तो बन गया होगा। इसीलिए हम मूलसूत्रो और चूलिकासूत्रो के नाम एक साथ ही पाते हैं। यही बात अग, उपाग, छेद और प्रकीर्णक में भी लागू होती है।

आचार्य उमास्वाति भाष्य में अंग के साथ उपांग[1] शब्द का निर्देश करते हैं और अंगबाह्य ग्रंथ उपांगशब्द से उन्हें अभिप्रेत हैं। आचार्य उमास्वाति ने अंग-बाह्य की जो सूची दी है वह भी जिनप्रभ की सूची का पूर्वरूप है। उसमें प्रथम सामायिकादि छ आवश्यकों का उल्लेख है, तदनंतर "दशवैकालिक, उत्तराध्याया, दशा, कल्पव्यवहारे, निशीथ, ऋषिभाषितान्येवमादि"—इस प्रकार उल्लेख है। इसमें जो आवश्यकादि मूलसूत्रों का तथा दशा आदि छेदग्रन्थों का एक साथ निर्देश है, वह उनके वर्गीकरण की पूर्वसूचना देता ही है। धवला में १४ अंग-बाह्यों की जो गणना की गई है उनमें भी प्रथम छ आवश्यकों का निर्देश है, तदनन्तर दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का और तदनन्तर कप्पववहार, कप्पाकप्पिय, महाकप्पिय, पुंडरीय, महापुंडरीय और निसीह का निर्देश है। इसमें केवल पुंडरीय, महापुंडरीय का उल्लेख ऐसा है जो निसीह को अन्य छेद से पृथक् कर रहा है। अन्यथा यह भी मूल और छेद के वर्गीकरण की सूचना दे ही रहा है।

आचार्य जिनप्रभ ने ई० १३०६ में विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ की समाप्ति की है। उसमें भी (पृ० ४८ से) उन्होंने आगमों के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन किया है। क्रम से निम्न ५? ग्रन्थों का उसमें उल्लेख है—१ आवश्यक[2], २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचारांग, ५ सूयगडांग, ६ ठाणांग, ७ समवायांग, ८ निसीह, ९-११ दसा-कप्प-ववहार[3], १२ पंचकप्प, १३ जीयकप्प, १४ विवाहपन्नत्ति, १५ नायाधम्मकहा, १६ उवासगदसा, १७ अंतगडदसा, १८ अनुत्तरोववाइयदसा, १९ पण्हावागरण, २० विवागसुय (दिट्ठिवाओ दुवालसमंग त वोच्छिन्नं) (पृ० ५६) इसके बाद यह पाठ प्रासंगिक है—"इत्थ य दिक्खापरियाएण तिवासो आयारपकप्पं वहिज्जा वाइज्जा य। एवं चउवासो सूयगडं। पंचवासो दसा-कप्प-ववहारे। अट्ठवासो ठाण-समवाए। दसवासो भगवई। इक्कारसवासा खुड्डियाविमाणाइपंचज्झयणे। बारसवासो अरुणोववायाइपंचज्झयणे। तेरसवासो उट्ठाणसुयाइचउरज्झयणे। चउदसाइअट्ठारसतवासो कमेण कमेण आसीविसभावणा-दिट्ठिविसभावणा-चारणभावणा-महासुमिणभावणा-तेयनिसग्गे। एगूणवीसवासा दिट्ठीवायं संपुन्नवीसवासो सव्वसुत्तजोगो त्ति'॥ (पृ० ५६)।

---

१ 'अन्यथा हि अनिबद्धमङ्गोपाङ्गशः समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेयं स्यात्—" तत्त्वार्थभाष्य, १.२०

२ "ओहनिज्जुत्ती आवस्सयं चेव अणुपविट्ठा"—विधिमार्गप्रपा, पृ० ४९

३ दसा-कप्प-ववहार का एक श्रुतस्कन्ध है यह सामान्य मान्यता है। किन्तु किसी के मत से कप्प-ववहार का एक स्कन्ध है—वही पृ० ५२

इसके बाद "इयाणि उवगा" ऐसा लिखकर जिस अग का जो उपाग है उसका निर्देश इस प्रकार किया है—

अंग	उपाग
१ आचार	२१ ओवाइय
२ सूयगड	२२ रायपसेणइय
३ ठाण	२३ जीवाभिगम
४ समवाय	२४ पण्णवणा
५ भगवई	२५ सूरपण्णत्ति
६ नाया(धम्म)	२६ जबुद्दीवपण्णत्ति
७ उवासगदसा	२७ चदपण्णत्ति
८-१२ अतगडदसादि	२८-३२ निरयावलिया सुयक्खध (२८ 'कप्पिया'[1] २९ कप्पवडिसिया, ३० पुप्फिया, ३१ पुप्फचूलिया, ३२ वण्हिदसा)

आचार्य जिनप्रभ ने मतान्तर का भी उल्लेख किया है कि "अण्णे पुण चद-पण्णत्ति सूरपण्णत्ति च भगवईउवगे भणति। तेसि मएण उवासगदसाईण पंचण्हमगाण उवग निरयावलियासुयक्खंधो"—पृ० ५७

इस मत का उत्थान इस कारण से हुआ होगा कि जब ११ अग उपलब्ध है और बारहवाँ अग उपलब्ध ही नही तो उसके उपाग की आवश्यकता नही है। अतएव भगवती के दो उपाग मान कर ग्यारह अग और बारह उपाग की सगति बैठाने का यह प्रयत्न है। अन्त में श्रीचन्द्र की सुखबोधा सामाचारी में प्राप्त गाथा उद्धृत करके 'उवगविही' की समाप्ति की है।

तदनन्तर 'सपयं पइण्णगा'—इस उल्लेख के साथ ३३ नदी, ३४ अनुयोगदाराइ, ३५ देविंदत्थय, ३६ तदुलवेयालिय, ३७ मरणसमाहि, ३८ महापच्चक्खाण, ३९ आउरपच्चक्खाण, ४० सथारय, ४१ चन्दाविज्झय, ४२ भत्तपरिण्णा, ४३ चउ-सरण, ४४ वीरत्थय, ४५ गणिविज्जा, ४६ दीवसागरपण्णत्ति, ४७ सगहणी, ४८ गच्छायार, ४९ दीवसागरपण्णत्ति, ५० इसिभासियाइ—इनका उल्लेख करके

१ श्रीचन्द्र की सुखबोधा सामाचारी में इसके स्थान में निरयावलिया का निर्देश है।

ही यह सूझ हो, जब उन्होने विधिमार्गप्रपा लिखी। जिनप्रभ का लेखनकाल सुदीर्घ था यह उनके विविधतीर्थकल्प की रचना से पता लगता है। इसकी रचना उन्होने ई० १२७० में शुरू की और ई० १३३२ में इसे पूर्ण किया[१] इसी बीच उन्होने १३०६ ई० में विधिमार्गप्रपा लिखी है। स्तवन सम्भवत इससे प्राचीन होगा।

उपलब्ध आगमो और उनको टीकाओ का परिमाण .

समवाय और नन्दीसूत्र में अगो की जो पदसख्या दी है उसमें पद से क्या अभिप्रेत है यह ठीक रूप से ज्ञात नहीं होता। और उपलब्ध आगमो से पदसख्या का मेल भी नही है। दिगम्बर षट्खण्डागम में गणित के आधार पर स्पष्टीकरण करने का जो प्रयत्न है[२] वह भी काल्पनिक ही है, तथ्य के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही दीखता।

अतएव अब उपलब्ध आगमो का क्या परिमाण है इसकी चर्चा की जाती है। ये सख्याएँ हस्तप्रतियो में ग्रन्थाग्ररूप से निर्दिष्ट हुई हैं। उसका तात्पर्य होता है—३२ अक्षरो के श्लोको से। लिपिकार अपना लेखन पारिश्रमिक लेने के लिए गिनकर प्राय अन्त में यह सख्या देते हैं। कभी स्वय ग्रन्थकार भी इस सख्या का निर्देश करते हैं।[३] यहाँ दी जानेवाली सख्याएँ, भाडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के वोल्युम १७ के १-३ भागो में आगमो और उनकी टीकाओं की हस्तप्रतियो की जो सूची छपी है उसके आधार से हैं—इससे दो कार्य सिद्ध होंगे—श्लोकसख्या के बोध के अलावा किस आगम की कितनी टीकाएँ लिखी गई इसका भी पता लगेगा।

१ अग (१) आचाराग २६४४, २६५४
- ,, निर्युक्ति ४५०
- ,, चूर्णि ८७५०
- ,, वृत्ति १२३००
- ,, दीपिका (१) ९०००, १००००, १५०००
- ,, ,, (२) ९०००
- ,, अवचूरि
- ,, पर्याय

---

१. जैं० सा० स० इ०, पृ० ४१६.

२ जैं० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० ६२१, षट्खडागम, पु० १३, पृ० २४७–२५४

३ कभी-कभी धूर्त लिपिकार सख्या गलत भी लिख देते हैं।

(२) सूत्रकृताग २१०० (प्रथम श्रुतस्कन्ध की १०००)
  ,, निर्युक्ति २०८ गाथा
  ,, निर्युक्ति मूल के साथ २५८०
  ,, निर्युक्ति } १२८५०, १३०००, १३३२५,
  ,, चूर्णि } १८०००
  ,, हर्षकुलकृत दीपिका (?) ६९००, ८६००, ७१००, ७००० (यह संख्या मूल के साथ की है)
  ,, साधुरंगकृत दीपिका १३४१६
  पार्श्वचन्द्रकृत वार्तिक (टबा) ८०००
  चूर्णि
  पर्याय

(३) स्थानाग ३७७०, ३७५०
  ,, टीका (अभयदेव) १४२५०, १८५००
  ,, सटीक १८०००
  ,, दीपिका (नागर्षिगणि) सह १८०००
  ,, बालावबोध
  ,, स्तवक १९०००
  ,, पर्याय
  ,, बोल

(४) समवाय १६६७, १७६७
  ,, वृत्ति ३५७५, ३७००
  ,, पर्याय

(५) भगवती १६०००, १५८००
  ,, वृत्ति १८६१६, १९७७६
  ,, अवचूर्णि ३११४
  ,, पर्याय

(६) ज्ञाताधर्म ५५००, ६०००, ५२५०, ५६२७, ५७५०, ६०००
  ,, वृत्ति ३७००, ३८१५, ४७००
  ,, सवृत्ति ९७५५
  बालावबोधसह १८२००

(७) उपासकदशा ९१२, ८७२, ८१२
,, वृत्ति ९४४
(८) अन्तकृत ९००
,, वृत्ति (उपा० अन्त० अनुत्त०) १३००
,, स्तवक
(९) अनुत्तरौपपातिक १९२
,, वृत्ति ४३७
(१०) प्रश्नव्याकरण १२५०
,, वृत्ति ४६३०, ५६३०, ४८००, ५०१६
,, स्तवक
,, पर्याय
(११) विपाक १२५०
,, वृत्ति १०००, ९०९, ११६७
,, स्तवक

२. उपाग (१) औपपातिक ११६७, १५००
,, वृत्ति ३४५५, ३१३५, ३१२५
(२) राजप्रश्नीय २५०९, २०७९, २१२०
,, वृत्ति ३६५०, ३७००, ३७९८
(३) जीवाभिगम ४७००, ५२००
,, वृत्ति १४०००
,, स्तवक
,, पर्याय
(४) प्रज्ञापना ७९८९, ८१००, ७७८७
,, टीका १४०००, १५०००
,, प्रदेशव्याख्या

टबा ग्रं० १५,०००

चूर्णि (मुद्रण) २०२३, १८०३, १८६०

,, विवृति (अप्राप्त)

(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति २०५८

,, विवरण ९५००

(८-१२) निरयावलिका (५) ११००

,, टीका ६०५, ६५०, ७३७, ६३७

,, टबा ११००

,, पर्याय

,, बालावबोध

३ प्रकीर्णक (१) चतुःशरण गाथा ६३

,, अवचूरि

,, टबा

,, विषमपद

(२) आतुरप्रत्याख्यान गाथा ८४

,, विवरण ८५०

,, टबा

(३) भक्तपरिज्ञा गा० १७३

ग्रन्थाग्र १७१

,, अवचूरि

(४) संस्तारक गाथा १२१

,, विवरण

,, अवचूरि

,, बालावबोध

(५) तन्दुलवैचारिक ४००

,, बालावबोध

(६) चन्द्रावेध्यक गाथा १७४

गा० १७५

(७) देवेन्द्रस्तव गा० ३०७, गा० २९२

(८) गणिविद्या गा० ८६, गा० ८५

(९) महाप्रत्याख्यान गा० १४३, गा० १४२

(१०) वीरस्तव गा० ४३, गा० ४२

(११) अंगचूलिका
(१२) अगविद्या 9000
(१३) अजीवकल्प गाथा ४४
(१४) आराधनापताका ९९०
(रचना स १०७८)
(१५) कवचद्वार गा० १२९
(१६) गच्छाचार १६७
विवृति ५८५० (विजयविमल)
,, वानरर्षि
,, अवचूरि
(१७) जम्बूस्वामिस्वाध्याय
,, टवा
,, ,, (पद्मसुन्दर)
(१८) ज्योतिष्करण्डक
,, टीका ५५००
(१९) तीर्थोद्गालिक गा० १२५१, गा० १२३३
ग्रन्थाग्र १५६५
(२०) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
(२१) पर्यन्ताराधना ७४
,, बालावबोध २४५
,, ३००
(२२) पिण्डविशुद्धि
,, टीका ४४००
,, सुबोधा २८००
,, दीपिका ७०३
,, बालावबोध
,, अवचूर्णि
(२३) मरणविधि
(२४) योनिप्राभृत
(२५) वङ्कचूलिका
(२६) सारावली
(२७) सिद्धप्राभृत गाथा १२१

४. छेदसूत्र (१) निशीथ ८१२

,, निर्युक्ति-भाष्य गा० ६४३९

ग्रन्थाग्र ८४००

,, टिप्पणक ७००५ (?)

,, चूर्णि (प्रथम ख०) ५३९५

,, विशेषचूर्णि गा०

,, पर्याय

(२) महानिशीथ ४५४४

,, टबा

(३) व्यवहार

,, निर्युक्ति भाष्य ५२००,

गा० ४६२०

,, टीका प्रथम खण्ड (उ० १-३ १६८५६

,, पीठिका २३५४

,, पीठिका और उ० १ १०८७८

,, उ० ३ ७२६१

,, उ० १० ४१३३

,, उ० १—१० ३३६२५

,, द्वितीय खण्ड १०३६६

,, चूर्णि १०३६०

,, पीठिका २०००

,, पर्याय

(४) दशाश्रुत १३८०

,, निर्युक्ति गा० १५४

,, चूर्णि २२२५, ४३२१, २१६१, २३२५ (?)

,, टीका (ब्रह्म) ५१५२

,, टिप्पणक

,, पर्याय

कल्पसूत्र (दशाश्रुत का अंश) १२१६

,, सन्देहविषौषधि (जिनप्रभ) २२६८

,, अवचूर्णि

,, किरणावली (धर्मदास) ८०१४ (?)

,, प्रदीपिका (सघविजय) ३२००
,, दीपिका (जयविजय) ३४३२
,, कल्पद्रुमकलिका (लक्ष्मीवल्लभ)
,, अवचूरि
,, टिप्पणक
,, वाचनिकाम्नाय
,, टवा
,, निर्युक्ति—सदेहविषौषधिसह ३०४१
,, वृत्ति (उदयसागर)
,, टिप्पण (पृथ्वीचन्द्र)
,, दुर्गपदनिरुक्ति ४१८
,, कल्पान्तर्वाच्य (कल्पसमर्थन) २७००
,, पर्युषणाष्टाह्निकाव्याख्यान
,, पर्युषणपर्वविचार
,, मञ्जरी (रत्नसागर) ५६९५ (?)
,, लता (समयसुन्दर) ८०००
,, सुबोधिका (विनयविजय) ५४००
,, कौमुदी (शान्तिसागर) ३७०७, ९५३८ (?)
,, ज्ञानदीपिका (ज्ञानविजय)

(५) बृहत्कल्प ४००, ४७३
,, लघुभाष्य सटीक (पीठिका) ५६००
,, उ० १-२ ९५००
,, ,, २-४ १२५४०
,, लघुभाष्य ६६००
,, टवा
,, चूर्णि १४०००, १६०००
,, विशेषचूर्णि ११०००
,, बृहद्भाष्य ८६००
,, पर्याय

(६) पञ्चकल्प
,, चूर्णि ३१३५
,, बृहद्भाष्य ३१८५ (गा० २५७४)
,, पर्याय

(७) जीतकल्प गा० १०३, गा० १०५

,, विवरणलव (श्रीतिलक)

,, टीका ६७७३

,, चूर्णि (सिद्धसेन)

,, पर्याय

(८) यतिजीतकल्प

,, निवृत्ति ५७००

५—चूलिका सूत्र (१) नन्दी ७००

,, वृत्तिगत ८५३५

,, चूर्णि १८००

,, विवरण (हरि०) २३३६

,, ,, (मलय०) ७७३२, ७८३२

,, दुर्गपदव्याख्या (श्रीचन्द्र)

,, पर्याय

स्थविरावलि (नन्दीगता)

,, अवचूरि

,, टबा

,, बालावबोध

(२) अनुयोगद्वार १३९९, १६०४, १८००, २००५

,, वृत्ति (हेम) ५७००, ६०००

,, वार्तिक

६—मूलसूत्र (१) उत्तराध्ययन २०००, २३००, २१००

,, सुखबोधा (देवेन्द्र = नेमिचन्द्र) १४९१६, १४२००, १२०००, १४४२७, १४४५२, १४०००

,, अवचूरि

,, वृत्ति (कीर्तिवल्लभ) ८२६०

,, अक्षरार्थ

,, ,, लवलेश ६५९८

,, वृत्ति (भावविजय) १४२५५

,, दीपिका (लक्ष्मीवल्लभ)

,, दीपिका ८६७०

,, वालावबोध ६२५०
,, टवा ७००० (पार्श्वचन्द्र)
,, कथा ५००० (पद्मसागर), ४५००
,, निर्युक्ति ६०४
,, बृहद्वृत्ति (शान्तिसूरि) १८०००
,, बृहद्वृत्तिपर्याय
,, अवचूर्णि (ज्ञानसागर) ५२५०

(२) दशवैकालिक ७००
,, निर्युक्ति ५५०
,, वृत्ति (हरि०)
,, वृत्ति अवचूरि
,, ,, पर्याय
,, टीका (सुमति) २६५०
,, टीका ३०००
,, टीका २८००
,, अवचूरि २१४३
,, टवा (कनकसुन्दर) १५००

(३) आवश्यक
,, चैत्यवन्दन-ललितविस्तरा १२७०
,, पञ्जिका
,, टवा (देवकुशल) ३२५०
,, वृत्ति (तरुणप्रभ)
,, अवचूरि (कुलमण्डन)
,, वालावबोध
,, टवा
,, निर्युक्ति २५७२, ३५५०, ३१००, ३३७५, ३१५०
,, ,, पीठिका-वालावबोध
,, शिष्यहिता (हरि०) १२३४३
,, विवृति (मलय०)
,, लघुवृत्ति (तिलकाचार्य)
,, निर्युक्ति-अवचूरि (ज्ञानसागर) ९००५
,, ,, वालावबोध

" " दीपिका
" " लघुवृत्ति १३०९०
" " प्रदेशव्याख्या (हेमचन्द्र) ४६०० (?)
" " विशेषावश्यकभाष्य गा० ४३२९,
गा० ३६०३, ग्र ग्राग्र ५०००,
गा० ४३१६
" " वृत्ति स्वोपज्ञ
" " वृत्ति (कोट्याचार्य) १३७००
" " वृत्ति (हेमचन्द्र) २८०००, २८९७६

(४) पिण्डनिर्युक्ति ७६९१
" शिष्यहिता (वीरगणि = समुद्रघोष)
" वृत्ति (माणिक्यशेखर)
" अवचूरि (क्षमारत्न)

(५) ओघनिर्युक्ति १४६०, गा० ११६२, गा० ११५४, गा० ११६५, गा० ११६४
" टीका (द्रोण०) सह ७३८५, ८३८५
" टीका (द्रोण०) ६५४५
" अवचूरि (ज्ञानसागर) ३४००

(६)पाक्षिकसूत्र
" वृत्ति (यशोदेव) २७००
" अवचूरि ६२१, १०००

आगम और उनकी टीकाओ के परिणाम के उक्त निर्देश से यह पता चलता है कि आगम साहित्य कितना विस्तृत है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्पसूत्र तथा आवश्यकसूत्र—इनकी टीकाओ की सूची भी काफी लम्बी है। सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गई है कल्पसूत्र और आवश्यकसूत्र पर। इससे इन सूत्रो का विशेष पठन-पाठन सूचित होता है। जब से पर्युषण मे सघसमक्ष कल्पसूत्र के वाचन की प्रतिष्ठा हुई है, इस सूत्र का अत्यधिक प्रचार हुआ। आवश्यक तो नित्य-क्रिया का ग्रन्थ होने से उस पर अधिक टीकाएँ लिखी जायँ यह स्वाभाविक है।

आगमो का काल

आधुनिक विदेशी विद्वानो ने इस बात को माना है कि भले ही देवर्षि ने पुस्तक-लेखन करके आगमो के सुरक्षा-कार्य को आगे बढाया किन्तु वे, जैसा कि

कुछ जैन आचार्य भी मानते है, वे उनके कर्ता नही हैं। आगम तो प्राचीन ही है। उन्होने उन्हें यत्र-तत्र व्यवस्थित किया।[१] आगमो में कुछ अश प्रक्षिप्त हो सकना है किन्तु उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम साहित्य का काल देवर्धि का काल नही हो जाता। उसमें कई अश ऐसे हैं जो मौलिक हैं। अतएव पूरे आगम साहित्य का एक काल नही है। तत्तत् आगम का परीक्षण करके कालनिर्णय करना जरूरी है। सामान्य तौर पर विद्वानो ने अग-आगमो का काल, प्रक्षेपों को छोडकर, पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना भगवान् महावीर के बाद छठे आचार्य के काल में भद्रबाहु के समय में हुई और उसका काल है ई पू ४थी शताब्दी का दूसरा दशक।[२] डा जेकोबी ने छन्द आदि की दृष्टि से अध्ययन करके यह निश्चय किया था कि किसी भी हालत में आगम के प्राचीन अश ई० पू० चौथी के अन्त से लेकर ई० पू० तीसरी के प्रारम्भ से प्राचीन नही ठहरते।[३] हर हालत में हम इतना तो मान ही सकते हैं कि आगमो का प्राचीन अश ई० पूर्व का है। उन्हें देवर्धि के काल तक नही लाया जा सकता।

आगमो का लेखनकाल ई० ४५३ (मतान्तर से ई० ४६६) माना जाता है। वलभी में उस समय कितने आगम लेखबद्ध किये गये इसकी कोई सूचना नही मिलती। किन्तु इतनी तो कल्पना की जा सकती है कि अग-आगमो का प्रक्षेपो के साथ यह अन्तिम स्वरूप था। अतएव अगों के प्रक्षेपो की यही अन्तिम मर्यादा हो सकती है। प्रश्नव्याकरण जैसे सर्वथा नूतन अग की वलभी-लेखन के समय क्या स्थिति थी यह एक समस्या बनी ही रहेगी। इसका हल अभी तो कोई दीखता नही है।

कई विद्वान् इस लेखन के काल का और अग-आगमो के रचनाकाल का सम्मिश्रण कर देते हैं और इसी लेखन-समय को रचना काल भी मान लेते हैं। यह तो ऐसी ही बात होगी जैसे कोई किसी हस्तप्रति के लेखनकाल को देख कर उसे ही रचनाकाल भी मान ले। ऐसा मानने पर तो समग्र वैदिक साहित्य के काल का निर्णय जिन नियमो के आधार पर किया जाता है वह नही होगा और हस्त-प्रतियो के आधार पर ही करना होगा। सच बात तो यह है कि जैसे वैदिक वाङ्मय श्रुत है वैसे ही जैन आगमों का अग विभाग भी श्रुत है। अतएव उसके

१ देखें—सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग २२ की प्रस्तावना, पृ० ३९ में जेकोबी का कथन।

२ Doctrine of the Jainas, P 73

३ सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, २२, प्रस्तावना पृ० ३१ से, डोक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० ७३, ८१

काल निर्णय के लिए उन्ही नियमो का उपयोग आवश्यक है जिन नियमो का वैदिक वाङ्मय के काल निर्णय में किया जाता है। अंग-आगम भगवान् महावीर का उपदेश है और उसके आधार पर उनके गणधरो ने अगो की रचना की है। अत रचना का प्रारम्भ तो भगवान् महावीर के काल से ही माना जा सकता है। उसमें जो प्रक्षेप हो उन्हें अलग कर उनका समय-निर्णय अन्य आधारों से करना चाहिए।

आगमो मे अगबाह्य ग्रन्थ भी शामिल हुए हैं और वे तो गणधरो की रचना नही है। अतः उनका समयनिर्धारण जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थो का समय निर्धारित किया जाता है वैसे ही होना चाहिए। अगबाह्यो का सम्बन्ध विविध वाचनाओ से भी नही है और सकलन से भी नही है। उनमें जिन ग्रन्थो के कर्ता का निश्चित रूप से पता है उनका समय कर्ता के समय से निश्चित होना चाहिए। वाचना, सकलना और लेखन जिन आगमो के हुए उनके साथ जोड कर इन अगबाह्य ग्रन्थो के समय को भी अनिश्चित कोटि में डाल देना अन्याय है और इसमे सचाई भी नही है।

अगबाह्यो में प्रज्ञापना के कर्ता आर्यश्याम हैं अतएव आर्यश्याम का जो समय है वही उसका रचनासमय है। आर्यश्याम को वीरनिर्वाण सवत् ३३५ में युगप्रधान पद मिला और वे ३७६ तक युगप्रधान रहे। अतएव प्रज्ञापना इसी काल की रचना है, इसमें सन्देह को स्थान नही है। प्रज्ञापना आदि से अन्त तक एक व्यवस्थित रचना है जैसे कि षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ हैं। तो क्या कारण है कि उसका रचनाकाल वही न माना जाय जो उसके कर्ता का काल है और उसके काल को वलभी के लेखनकाल तक खीचा जाय? अतएव प्रज्ञापना का रचनाकाल ई० पू० १९२ से ई० पू० १५१ के बीच का निश्चित मानना चाहिए।

चन्द्रप्रज्ञप्ति[1], सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—ये तीन प्रज्ञप्तियाँ प्राचीन हैं इसमें भी सन्देह को स्थान नही है। दिगम्बर परम्परा ने दृष्टिवाद के परिकर्म मे इन तीनो प्रज्ञप्तियो का समावेश किया है और दृष्टिवाद के अश का अविच्छेद भी माना है। तो यही अधिक सम्भव है कि ये तीनो प्रज्ञप्तियाँ विच्छिन्न न हुई हों। इनका उल्लेख श्वेताम्बरो के नन्दी आदि में भी मिलता है। अतएव यह तो माना ही जा सकता है कि इन तीनो की रचना श्वेताम्बर-दिगम्बर के मतभेद के पूर्व हो चुकी थी। इस दृष्टि से इनका रचनासमय विक्रम के प्रारम्भ से इधर नही आ सकता। दूसरी बात यह है कि सूर्य-चन्द्रप्रज्ञप्ति में जो ज्योतिष की चर्चा है वह

---

१ साम्प्रतकाल में उपलब्ध चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में कोई भेद नही दीखता।

भारतीय प्राचीन वेदाग के समान है। बाद का जो ज्योतिष का विकास है वह उसमें नही। ऐसी परिस्थिति में इनका समय विक्रम पूर्व ही हो सकता है, बाद में नही।

छेदसूत्रो में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रो की रचना भद्रबाहु ने की थी। इनके ऊपर प्राचीन निर्युक्ति-भाष्य आदि प्राकृत टीकाएँ भी लिखी गई है। अतएव इनके विच्छेद की कोई कल्पना करना उचित नही है। धवला में कल्प-व्यवहार को अगबाह्य गिना गया है और उसके विच्छेद की वहाँ कोई चर्चा नही है। भद्रबाहु का समय ई० पू० ३५७ के आसपास निश्चित है। अत उनके द्वारा रचित दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार का समय भी वही होना चाहिए। निशीथ आचाराग की चूला है और किसी काल में उसे आचाराग से पृथक् किया गया है। उस पर भी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि टीकाएँ हैं। धवला (पृ०९६) में अगबाह्य रूप से इसका उल्लेख है और उसके विच्छेद की कोई चर्चा उसमें नही है। अतएव उसके विच्छेद की कोई कल्पना नही की जा सकती। डा० जेकोबी और शुब्रिग के अनुसार प्राचीन छेदसूत्रो का समय ई० पू० चौथी का अन्त और तीसरी का प्रारम्भ माना गया है वह उचित ही है।[1] जीतकल्प आचार्य जिनभद्र की कृति होने से उसका भी समय निश्चित ही है। यह स्वतन्त्र ग्रन्थ नही किन्तु पूर्वोक्त छेद ग्रन्थो का साररूप है। आचार्य जिनभद्र के समय के निर्धारण के लिए विशेषावश्यक की जैसलमेर की एक प्रति के अन्त में जो गाथा दी गई है वह उपयुक्त साधन है। उसमें शक सवत ५३१ का उल्लेख है। तदनुसार ई० ६०९ बनता है। उससे इतना सिद्ध होता है कि जिनभद्र का काल इससे बाद तो किसी भी हालत में नही ठहरता। गाथा मे जो शक सवत् का उल्लेख है वह सम्भवत उस प्रति के किसी स्थान पर रखे जाने का है। इससे स्पष्ट है कि वह उससे पहले रचा गया था। अतएव इसी के आस-पास का काल जीतकल्प की रचना के लिए भी लिया जा सकता है।

महानिशीथ का जो सस्करण उपलब्ध है वह आचार्य हरिभद्र के द्वारा उद्धार किया हुआ है। अतएव उसका भी वही समय होगा जो आचाय हरिभद्र का है। आचार्य हरिभद्र का समयनिर्धारण अनेक प्रमाणों से आचार्य जिनविजयजी ने किया है और वह है ई० ७०० से ८०० के बीच का।

मूलसूत्रों में दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यम्भव ने की है और यह चूँकि साधुओं के नित्य स्वाध्याय के काम में आता है अतएव उसका विच्छेद होना

---

१ डॉक्ट्रिन ऑफ दी जैनुस, पृ० ८१

सम्भव नही था। अपराजितसूरि ने सातवी-आठवी शती में उसकी टीका भी लिखी थी। उससे पूर्व निर्युक्ति, चूर्णि आदि टीकाएँ भी उस पर लिखी गई हैं। पाँचवी-छठी शती में होने वाले आचार्य पूज्यपाद ने (सर्वार्थसिद्धि, १ २०) भी दशवैकालिक का उल्लेख किया है और उसे प्रमाण मानना चाहिए ऐसा भी कहा है। उसके विच्छेद की कोई चर्चा उन्होने नही की हैं। धवला (पृ० ९६) में भी अगबाह्य रूप से दशवैकालिक का उल्लेख है और उसके विच्छेद की कोई चर्चा नही है। दशवैकालिक में चूलाएँ बाद में जोडी गई हैं यह निश्चित है किन्तु उसके जो दस अध्ययन हैं जिनके आधार पर उसका नाम निष्पन्न है वे तो मौलिक ही हैं। ऐसी परिस्थिति में उन दस अध्ययनो के कर्ता तो शय्यम्भव है ही और जो समय शय्यम्भव का है वही उसका भी है। शय्यम्भव वीर नि ७५ से ९० तक युगप्रधान पद पर रहे हैं अतएव उनका समय ई० पू० ४५२ से ४२९ है। इसी समय के बीच दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यम्भव ने की होगी।

उत्तराध्ययन किसी एक आचार्य की कृति नही है किन्तु सकलन है। उत्तराध्ययन का उल्लेख अगबाह्य रूप से धवला (पृ० ९६) और सर्वार्थसिद्धि में (१ २०) है। उसपर निर्युक्ति-चूर्णि टीकाएँ प्राकृत में लिखी गई हैं। इसी कारण उसकी सुरक्षा भी हुई है। उसका समय जो विद्वानो ने माना है वह है ई० पू० तीसरी-चौथी शती।[१]

आवश्यक सूत्र तो अगागम जितना ही प्राचीन है। जैन निर्ग्रन्थो के लिए प्रतिदिन करने की आवश्यक क्रिया सम्बन्धी पाठ इसमें है। अगो में जहाँ स्वाध्याय का उल्लेख आता है वहाँ प्राय यह लिखा रहता है कि 'सामाइयाइणि एकादसगाणि' (भगवती सूत्र ९३, ज्ञाता ५६, ६४, विपाक ३३), 'सामाइयमाइयाइ चोद्दसपुव्वाइ' (भगवती सूत्र ६१७, ४३२, ज्ञाता० ५४, ५५, १३०)। इससे सिद्ध होता है कि अग से भी पहले आवश्यक सूत्र का अध्ययन किया जाता था। आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन सामायिक है। इस दृष्टि से आवश्यक सूत्र के मौलिक पाठ जिन पर निर्युक्ति, भाष्य, विशेषावश्यक भाष्य, चूर्णि आदि प्राकृत टीकाएँ लिखी गई हैं वे अग जितने पुराने होगे। अगबाह्य आगम के भेद आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त—इस प्रकार किये गये हैं। इससे भी इसका महत्त्व सिद्ध होता है। आवश्यक के छहो अध्ययनो के नाम धवला में अगबाह्य मे गिनाये हैं। ऐसी परिस्थिति में आवश्यक सूत्र की प्राचीनता सिद्ध होती ही है। आवश्यक चूँकि नित्यप्रति करने की क्रिया है अतएव ज्ञानवृद्धि और ध्यान-

१ डॉक्ट्रिन ऑफ दी जैनस, पृ० ८१

वृद्धि के लिए उसमें समय-समय पर उपयोगी पाठ बढते गये हैं। आधुनिक भाषा के पाठ भी उसमें जोडे गये हैं किन्तु मूल पाठ कौन से थे इसका तो पृथक्करण प्राचीन प्राकृत टीकाओं के आधार पर करना सहज है। और वैसा श्री प० सुखलालजी ने अपने 'प्रतिक्रमण' ग्रन्थ में किया भी है। अतएव उन पाठो के ही समय का विचार यहाँ प्रस्तुत है। उन पाठो का समय भगवान् महावीर के जीवनकाल के आसपास नही तो उनके निर्वाण के निकट या बाद की प्रथम शती में तो रखा जा सकता है।

पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक की टीका है और वह आचार्य भद्रबाहु की कृति है। ये भद्रबाहु अधिक सम्भव यह है कि द्वितीय हो। यदि यह स्थिति सिद्ध हो तो उनका समय पाँचवी शताब्दी ठहरता है।

नन्दीसूत्र देववाचक की कृति है अतएव उसका समय पाँचवी-छठी शताब्दी हो सकता है। अनुयोगद्वारसूत्र के कर्ता कौन हैं यह कहना कठिन है किन्तु इतना कहा जा सकता है कि वह आवश्यक सूत्र की व्याख्या है अतएव उसके बाद का तो है ही। उसमें कई ग्रन्थो के उल्लेख हैं। यह कहा जा सकता है कि वह विक्रम पूर्व का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ ऐसा है कि सम्भव है उसमें कुछ प्रक्षेप हुए हो। इसकी एक सक्षिप्त वाचना भी मिलती है।

प्रकीर्णको में से चउसरण, आउरपच्चक्खाण और भत्तपरिन्ना—ये तीन वीरभद्र की रचनाएँ हैं ऐसा एक मत है। यदि यह सच है तो उनका समय ई० ९५१ होता है। गच्छाचार प्रकीर्णक का आधार है—महानिशीथ, कल्प और व्यवहार। अतएव यह कृति उनके बाद की हो इसमें सन्देह नही है।[1]

वस्तुस्थिति यह है कि एक-एक ग्रन्थ लेकर उसका बारीकी से अध्ययन करके उसका समय निर्धारित करना अभी बाकी है। अतएव जब तक यह नही होता तब तक ऊपर जो समय की चर्चा की गई है वह काम चलाऊ समझी जानी चाहिए। कई विद्वान् इन ग्रन्थों के अध्ययन में लगें तभी यथार्थ और सवग्राही निर्णय पर पहुँचा जा सकेगा। जब तक ऐसा नही होता तब तक ऊपर जो समय के बारे मे लिखा है वह मान कर हम अपने शोधकार्य को आगे बढ़ा सकते हैं।

आगम-विच्छेद का प्रश्न .

व्यवहारसूत्र में विशिष्ट आगम-पठन की योग्यता का जो वर्णन है (दशम उद्देशक) उस प्रसग में निर्दिष्ट आगम तथा नन्दी और पाक्षिकसूत्र में जो आगम-सूची दी है तथा स्थानाग में प्रासगिक रूप से जिन आगमो का उल्लेख

---

१ कापडिया—केनोनिकल लिटरेचर, पृ० ५२

है—इत्यादि के आधार पर श्री कापडिया ने श्वेताम्बरो के अनुसार अनुपलब्ध आगमो की विस्तृत चर्चा की है।[1] अतएव यहाँ विस्तार अनावश्यक है। निम्न अग-आगमो का अश श्वेताम्बरो के अनुसार साम्प्रतकाल मे अनुपलब्ध है —

१ आचाराग का महापरिज्ञा अध्ययन, २ ज्ञाताधमकथा की कई कथाएँ, ३ प्रश्नव्याकरण का वह रूप जो नन्दी, समवाय आदि में निर्दिष्ट है तथा दृष्टि-वाद—इतना अश तो अगो में स विच्छिन्न हो गया यह स्पष्ट है। अगो के जो परिणाम निर्दिष्ट हैं उसे देखते हुए और यदि वह वस्तुस्थिति का बोधक है तो मानना चाहिए कि अगो का जो भाग उपलब्ध है उससे कही अधिक विलुप्त हो गया है। किन्तु अगो का जो परिमाण बताया गया है वह वस्तुस्थिति का बोधक हो ऐसा जँचता नही क्योंकि अधिकाश को उत्तरोत्तर द्विगुण-द्विगुण बताया गया है किन्तु वे यथार्थ में वैसे ही रूप मे हो ऐसी सम्भावना नही है। केवल महत्त्व समर्पित करने के लिए वैसा कह दिया हो यह अधिक सम्भव है। ऐसी ही बात द्वीप-समुद्रो के परिमाण में भी देखी गई है। वह भी गणितिक सचाई हो सकती है पर यथाथ मे उसका कोई मेल नही है।

दिगम्बर आम्नाय जो धवला टीका में निर्दिष्ट है तदनुसार गौतम से सकल श्रुत (द्वादशाग और चौदह पूव) लोहार्य को मिला, उनसे जम्बू को। ये तीनो ही सकल श्रुतसागर के पारगामी थे। उसके बाद क्रम से विष्णु आदि पाँच आचार्य हुए जो चौदह पूर्वधर थे। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जब उन्हें चौदह पूर्वधर कहा है तो वे शेष अगो के भी ज्ञाता थे ही। अर्थात् ये भी सकलश्रुतधर थे। गौतम आदि तीन अपने जीवन के अन्तिम वर्षो में सर्वज्ञ भी हुए और ये पाँच नही हुए, इतना ही इन दोनो वर्गों में भेद है।

उसके बाद विशाखाचार्य आदि ग्यारह आचार्य दस पूर्वधर हुए। तात्पर्य यह है कि सकलश्रुत में से केवल दसपूर्व अश के ज्ञाता थे, सम्पूर्ण के नही। इसके बाद नक्षत्रादि पाँच आचार्य ऐसे हुए जो एकादशागधारी थे और बारहवें अग के चौदह पूर्वों के अशधर ही थे। एक भी पूर्व सम्पूर्ण इन्हें ज्ञात नही था। उसके बाद सुभद्रादि चार आचार्य ऐसे हुए जो केवल आचाराग को सम्पूर्ण रूप से किन्तु शेष अगो और पूर्वो के एक देश को ही जानते थे। इसके बाद सम्पूर्ण आचाराग के धारक भी कोई नही हुए और केवल सभी अगो के एक देश को और सभी पूर्वो के एक देश को जानने वाले आचार्यों की परम्परा चली। यही परम्परा धरसेन तक चली है।[2]

---

१ केनोनिकल लिटरेचर, प्रकरण ४

२ धवला पु० १, पृ० ६५-६७, जयधवला, पृ० ८३

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि सकलश्रुतधर होने में द्वादशाग का जानना जरूरी है। अंगबाह्य ग्रन्थो का आधार ये ही द्वादशाग थे अतएव सकलश्रुतधर होने में अगबाह्य महत्त्व के नही। यह भी स्पष्ट होता है कि इसमें क्रमश अगधरो अर्थात् अगविच्छेद की ही चर्चा है। धवला मे ही आवश्यकादि १४ अग-बाह्यो का उल्लेख है[1] किन्तु उनके विच्छेद की चर्चा नही है। इससे यह फलित होता है कि कम से कम धवला के समय तक अगबाह्यो के विच्छेद की कोई चर्चा दिगम्बर आम्नाय में थी ही नही। आचार्य पूज्यपाद ने श्रुतविवरण में सर्वार्थसिद्धि में अगबाह्य और अगो की चर्चा की है किन्तु उन्होंने आगमविच्छेद की कोई चर्चा नही की। आचार्य अकलक जो धवला से पूर्व हुए हैं उन्होने भी अग या अगबाह्य आगमविच्छेद की कोई चर्चा नही की है। अतएव धवला की चर्चा से हम इतना ही कह सकते हैं कि धवलाकार के समय तक दिगम्बर आम्नाय में अगविच्छेद की बात तो थी किन्तु आवश्यक आदि अगबाह्य के विच्छेद की कोई मान्यता नही थी। अतएव यह सशोधन का विषय है कि अगबाह्य के विच्छेद की मान्यता दिगम्बर परम्परा में कब से चली ? खेद इस बात का है कि प० कैलाशचन्द्रजी ने आगमविच्छेद की बहुत बडी चर्चा अपनी पीठिका में की है किन्तु इस मूल प्रश्न की छानबीन किये बिना ही दिगम्बरो की साम्प्रतकालीन मान्यता का उल्लेख कर दिया है और उसका समर्थन भी किया है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि आगम की सुरक्षा का प्रश्न जब आचार्यों के समक्ष था तब द्वादशागरूप गणिपिटक की सुरक्षा का ही प्रश्न था क्योकि ये ही मौलिक आगम थे। अन्य आगम ग्रन्थ तो समय और शक्ति के अनुसार बनते रहते हैं और लुप्त होते रहते हैं। अतएव आगमवाचना का प्रश्न मुख्यरूप से अगो के विषय में ही है। इन्ही की सुरक्षा के लिए कई वाचनाएँ की गई हैं। इन वाचनाओं के विषय में प० कैलाशचन्द्र ने जो चित्र उपस्थित किया है (पीठिका पृ० ४९६ से) उस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता है। वह यथासमय किया जायगा।

यहाँ तो हम विद्वानो का ध्यान इस बात की ओर खीचना चाहते हैं कि आगम पुस्तकाकार रूप में लिखे जाते थे या नही, और इस पर भी कि श्रुत विच्छेद की जो बात है वह लिखित पुस्तक की है या स्मृत श्रुत की ? आगम पुस्तक में लिखे जाते थे इसका प्रमाण अनुयोगद्वारसूत्र जितना तो प्राचीन है ही। उसमें आवश्यकसूत्र की व्याख्या के प्रसग से स्थापना-आवश्यक की चर्चा

१ धवला, पृ० ९६ (पु० १)

में पोत्थकम्म को स्थापना-आवश्यक कहा है।[1] इसी प्रकार श्रुत के विषय में स्थापना-श्रुत में भी पोत्थकम्म को स्थापना-श्रुत कहा है (अनुयोगद्वार सूत्र ३१ पृ० ३२ अ)। द्रव्यश्रुत के भेद रूप से ज्ञायकशरीर और भव्यशरीर के अतिरिक्त जो द्रव्यश्रुत का भेद है उसमें स्पष्ट रूप से लिखा है कि "पत्तयपोत्थय-लिहियं" (सूत्र ३७) उस पद की टीका में अनुयोगद्वार के टीकाकार ने लिखा है—"पत्रकाणि तलतास्यादिसबन्धीनि, तत्सघातनिष्पन्नास्तु पुस्तका, ततश्च पत्रकाणि च पुस्तकाश्च, तेषु लिखित पत्रकपुस्तकलिखितम्। अथवा 'पोत्थय'ति पोत वस्त्र पत्रकाणि च पोत च, तेषु लिखित पत्रकपोतलिखित ज्ञशरीरभव्यशरीर व्यतिरिक्त द्रव्यश्रुतम्। अत्र च पत्रकादिलिखितस्य श्रुतस्य भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतत्वमेव अवसेयम्।" पृ० ३४।

इस श्रुतचर्चा मे अनुयोगद्वार को भावश्रुतरूप से कौन सा श्रुत विवक्षित है यह भी आगे की चर्चा से स्पष्ट हो जाता है। आगे लोकोत्तर नोआगम भाव-श्रुत के भेद में तीर्थंकरप्रणीत द्वादशाग गणिपिटक आचार आदि को भावश्रुत में गिना है।[2] इससे शका को कोई स्थान नही रहना चाहिए और यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अनुयोगद्वार के समय में आचार आदि अग पुस्तकरूप में लिखे जाते थे।

अग आगम पुस्तक मे लिखे जाते थे किन्तु पठन पाठन प्रणाली में तो गुरुमुख से ही आगम की वाचना लेनी चाहिए यह नियम था। अन्यथा करना अच्छा नही समझा जाता था। अतएव प्रथम गुरुमुख से पढ कर ही पुस्तक में लेखन या उसका उपयोग किया जाता होगा ऐसा अनुमान होता है। विशेषावश्यकभाष्य में वाचना के शिक्षित आदि गुणो[3] के वर्णन में आचार्य जिनभद्र ने 'गुरुवायणो-वगय'—गुरुवाचनोपगत का स्पष्टीकरण किया है कि "ण चोरित पोत्थयातो-वा"—गा० ८५२। उनकी स्वकृत व्याख्या में लिखा है कि "गुरुनिर्वाचितम्, न चौर्यात् कर्णाघाटित, स्वतत्रेण वाऽधीत पुस्तकात्"—विशेषा० स्वोपज्ञ व्याख्या गा० ८५२। तात्पर्य यह है कि गुरु किसी अन्य को पढाते हो और उसे चोरी से सुनकर या पुस्तक से श्रुत का ज्ञान लेना यह उचित नही है। वह तो

---

१ अनुयोग की टीका मे लिखा है—"अथवा पोत्थ पुस्तक तच्चेह सपुटकरूप गृह्यते तत्र कर्म तन्मध्ये वर्तिकालिखित रूपकमित्यर्थ। अथवा पोत्थ ताड-पत्रादि तत्र कर्म तच्छेदनिष्पन्न रूपकम्" पृ० १३ अ।

२ अनुयोगद्वार—सूत्र ४२, पृ० ३७ अ।

३ अनुयोगद्वार में शिक्षित, स्थित, जित आदि गुणो का निर्देश है उनकी व्याख्या जिनभद्र ने की है—अनु० सू० १३

गुरुमुख से उनकी सम्मति से सुन कर ही करना चाहिए। इससे भी स्पष्ट है कि अनुयोगद्वार के पहले ग्रन्थ लिखे जाते थे किन्तु उनका पठन सवप्रथम गुरुमुख से होना जरूरी था। यह परम्परा जिनभद्र तक तो मान्य थी ही ऐसा भी कहा जा सकता है। गुरु के मुख से सुनकर अपनी स्मृति का भार हलका करने के लिए कुछ नोधरूप (टिप्पणरूप) आगम प्रारम्भ में लिखे जाते होगे। यह भी कारण है कि उसका मूल्य उतना नही हो सकता जितना श्रुतधर की स्मृति में रहे हुए आगमो का। यह सब अनुमान ही है। किन्तु जब आगम पुस्तको में लिखे गये थे फिर भी वाचनाओ का महत्त्व माना गया, तो उससे यही अनुमान हो सकता है जो सत्य के निकट है। गुरुमुख से वाचना मे जो आगम मिले वही आगम परम्परागत कहा जायेगा। पुस्तक से पढ कर किया हुआ ज्ञान, या पुस्तक में लिखा हुआ आगम उतना प्रमाण नही माना जायगा जितना गुरुमुख से पढा हुआ। यही गुरुपरम्परा की विशेषता है। अतएव पुस्तक में जो कुछ भी लिखा हो किन्तु महत्त्व तो उसका है जो वाचक की स्मृति में है। अतएव पुस्तको में लिखित होने पर भी उसके प्रामाण्य को यदि महत्त्व नही मिला तो उसका मूल्य भी कम हुआ। इसी के कारण पुस्तक में लिखे रहने पर भी जब-जब सघ को मालूम हुआ हो कि श्रुतधरो का ह्रास हो रहा है, श्रुतसकलन के प्रयत्न की आवश्यकता पडी होगी और विभिन्न वाचनाएँ हुई होगी।

अब आगमविच्छेद के प्रश्न पर विचार किया जाय। आगमविच्छेद के विषय में भी दो मत हैं। एक के अनुसार सुत्त विनष्ट हुआ है, तब दूसरे के अनुसार सुत्त नही किन्तु सुत्तधर—प्रधान अनुयोगधर विनष्ट हुए हैं।[1] इन दोनों मान्यताओ का निर्देश नन्दी-चूर्णि जितना तो पुराना है ही। आश्चर्य तो इस बात का है कि दिगम्बर परम्परा के धवला (पृ० ६५) में तथा जयधवला (पृ० ८३) में दूसरे पक्ष को माना गया है अर्थात् श्रुतधरो के विच्छेद की चर्चा प्रधानरूप से की गई है और श्रुतधरो के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद फलित माना गया है। किन्तु आज का दिगम्बर समाज श्रुत का ही विच्छेद मानता है। इससे भी सिद्ध है कि पुस्तक में लिखित आगमो का उतना ही महत्त्व नही है जितना श्रुतधरो की स्मृति में रहे हुए आगमों का।

जिस प्रकार धवला में श्रुतधरो के विच्छेद की बात कही है उसी प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक में श्रुत के विच्छेद की चर्चा की गई है। वह इस प्रकार है—

---

१ नन्दी-चूर्णि, पृ० ८

प्रथम भगवान् महावीर से भद्रबाहु तक की परम्परा दी गई है और स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास चौदहपूर्व की वाचना लेने गये इस बात का निर्देश है। यह निर्दिष्ट है कि दसपूर्वधरो मे अन्तिम सर्वमित्र थे। उसके बाद निर्दिष्ट है कि वीरनिर्वाण के १००० वर्ष बाद पूर्वों का विच्छेद हुआ। यहाँ पर यह ध्यान देना जरूरी है कि यही उल्लेख भगवती सूत्र में (२८) भी है। तित्थोगाली में उसके बाद निम्न प्रकार से क्रमश श्रुतविच्छेद की चर्चा की गई है—

ई० ७२३ = वीर-निर्वाण १२५० में विवाहप्रज्ञप्ति और छ अगो का विच्छेद
ई० ७७३ = ,, १३०० में समवायाग का विच्छेद
ई० ८२३ = ,, १३५० में ठाणाग का ,,
ई० ८७३ = ,, १४०० में कल्प-व्यवहार का ,,
ई० ९७३ = ,, १५०० में दशाश्रुत का ,,
ई० १३७३ = ,, १९०० में सूत्रकृताग का ,,
ई० १४७३ = ,, २००० में विशाख मुनि के समय में निशीथ का ,,
ई० १७७३ = ,, २३०० में आचाराग का ,,

दुसमा के श्रुत में दुप्पसह मुनि के होने के बाद यह कहा गया है कि वे ही अन्तिम आचारधर होगे। उसके बाद अनाचार का साम्राज्य होगा। इसके बाद निर्दिष्ट है कि—

ई० १९९७३ = वीरनि० २०५०० में उत्तराध्ययन का विच्छेद
ई० २०३७३ = ,, २०९०० में दशवैकालिक सूत्र का विच्छेद
ई० २०४७३ = ,, २१००० में दशवैकालिक के अर्थ का विच्छेद, दुप्पसह मुनि की मृत्यु के बाद।
ई० २०४७३ = ,, पर्यन्त आवश्यक, अनुयोगद्वार और नन्दी सूत्र अव्यवच्छिन्न रहेंगे।

—तित्थोगाली गा० ६९७–८६६

तित्थोगालीय प्रकरण श्वेताम्बरों के अनुकूल ग्रन्थ है ऐसा उसके अध्ययन से प्रतीत होता है। उसमें तीर्थंकरो की माताओ के १४ स्वप्नो का उल्लेख है गा० १००, १०२४, स्त्री-मुक्ति का समर्थन भी इसमें किया गया है गा० ५५६, आवश्यकनियुंक्ति की कई गाथाएँ इसमें आती हैं गा० ७० से, ३८३ से इत्यादि, अनुयोगद्वार और नन्दी का उल्लेख और उनके तीर्थपर्यन्त टिके रहने की बात, दशआश्चर्य की चर्चा गा० ८८७ से, नन्दीसूत्रगत सघस्तुतिका अवतरण गा० ८४८ से है।

आगमो के क्रमिक विच्छेद की चर्चा जिस प्रकार जैनो में है उसी प्रकार बौद्धों के अनागतवश में भी त्रिपिटक के विच्छेद को चर्चा की गई है। इससे प्रतीत होता है कि श्रमणो को यह एक सामान्य धारणा है कि श्रुत का विच्छेद क्रमश होता है। तित्योगाली में अगविच्छेद की चर्चा है। इस बात को व्यवहार-भाष्य के कर्ता ने भी माना है—

"तित्थोगाली एत्थं वत्तव्वा होइ आणुपुव्वीए।
जे तस्स उ अगस्स वुच्छेदो जहिं विणिद्दिट्ठो॥"
—व्य० भा० १० ७०४

इससे जाना जा सकता है कि अगविच्छेद की चर्चा प्राचीन है और यह दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो में चली है। ऐसा होते हुए भी यदि श्वेताम्बरो ने अगो के अश को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया और वह अश आज हमे उपलब्ध है—यह माना जाय तो इसमें क्या अनुचित है?

एक बात का और भी स्पष्टीकरण जरूरी है कि दिगम्बरो में भी धवला के अनुसार सर्व अगो का सम्पूर्ण रूप से विच्छेद माना नही गया है किन्तु यह माना गया है कि पूर्व और अग के एकदेशधर हुए हैं और उनकी परम्परा चली है। उस परम्परा के विच्छेद का भय तो प्रदर्शित किया है किन्तु वह परम्परा विच्छिन्न हो गई ऐसा स्पष्ट उल्लेख धवला या जयधवला में भी नही है। वहाँ स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद भारतवर्ष में जितने भी आचार्य हुए हैं वे सभी "सव्वेसिमगपुव्वाणमेकदेसधारया जादा" अर्थात् सर्व अग-पूर्व के एकदेशधर हुए हैं—जयधवला भा० १, पृ० ८६, धवला पृ० ६७।

तिलोयपण्णत्ति में भी श्रुतविच्छेद की चर्चा है और वहाँ भी आचारागधारी तक का समय वीरनि० ६८३ बताया गया है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भी अग श्रुत का सर्वथा विच्छेद मान्य नहीं है। उसे भी अग-पूर्व के एकदेशधर के अस्तित्व में सन्देह नही है। उसके अनुसार भी अगबाह्य के विच्छेद का कोई प्रश्न उठाया नही गया है। वस्तुत तिलोयपण्णत्ति के अनुसार श्रुततीर्थ का विच्छेद वीरनि० २०३१७ में होगा अर्थात् तब तक श्रुत का एकदेश विद्यमान रहेगा ही (देखिए, ४ गा० १४७५—१४९३)।

तिलोयपण्णत्ति में प्रक्षेप की मात्रा अधिक है, फिर भी उसका समय डा० उपाध्ये ने जो निश्चित किया है वह माना जाय तो वह ई० ४७३ और ६०९ के बीच है। तदनुसार भी उस समय तक सर्वथा श्रुतविच्छेद की चर्चा नही थी। तिलोयपण्णत्ति का ही अनुसरण धवला में माना जा सकता है।

ऐसी ही बात यदि श्वेताम्बर परम्परा में भी हुई हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है। उसमें भी सम्पूर्ण नही, किन्तु अग-आगमो का एकदेश सुरक्षित रहा हो और उसे ही सकलित कर सुरक्षित रखा गया हो तो इसमें क्या असगति है ? दोनो परम्पराओ में अग-आगमो का जो परिणाम बताया गया है उसे देखते हुए श्वेताम्बरों के अग-आगम एकदेश ही सिद्ध होते हैं। ये आगम आधुनिक दिगम्बरो को मान्य हों या न हों यह एक दूसरा प्रश्न है। किन्तु श्वेताम्बरो ने जिन अगो को सकलित कर सुरक्षित रखा है उसमें अगो का एक अश—बडा अश विद्यमान है—इतनी बात में तो शका का कोई स्थान होना नही चाहिए। साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उन अगो में यत्र-तत्र प्रक्षेप भी हैं और प्रश्नव्याकरण तो नया ही बनाया गया है।

इस चर्चा के प्रकाश में यदि हम निम्न वाक्य जो प० कैलाशचन्द्र ने अपनी पीठिका में लिखा है उसे निराधार कहें तो अनुचित नही माना जायगा। उन्होने लिखा है—"और अन्त में महावीरनिर्वाण से ६८३ वर्ष के पश्चात् अगो का ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो गया।" पीठिका पृ० ५१८। उनका यह मत स्वय धवला और जयधवला के अभिमतो से विरुद्ध है और अपनी कल्पना के आधार पर खडा किया गया है।

श्रुतावतार

श्रुतावतार की परम्परा श्वेताम्बर-दिगम्बरो में एक सी है किन्तु प० कैलाशचन्द्रजी ने उसमें भी भेद बताने का प्रयत्न किया है। अतएव यहाँ प्रथम दोनो सम्प्रदायों में इसी विषय में किस प्रकार ऐक्य है, सर्व प्रथम इसकी चर्चा करके बाद में पण्डितजी के कुछ प्रश्नो का समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है। भगवान् महावीर शासन के नेता थे और उनके अनेक गणधर थे इस विषय में दोनो सम्प्रदायो में कोई मतभेद नही। भगवान् महावीर या अन्य कोई तीर्थंकर अर्थ का ही उपदेश देते हैं, सूत्र की रचना नही करते इसमें भी दोनो सम्प्रदायो का ऐकमत्य है।

श्रुतावतार का क्रम बताते हुए अनुयोगद्वार में कहा गया है—

"अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। त जहा अत्तागमे अणतरागमे परपरागमे। तित्थगराण अत्थस्स अत्तागमे, गणहराण सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणतरागमे, गणहरसीसाण सुत्तस्स अणतरागमे अत्थस्स परपरागमे। तेण पर सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अणतरागमे परपरागमे।" अनुयोगद्वार सू० १४४, पृ० २१९। इसी का पुनरावर्तन निशीथचूर्णि (पृ०४) आदि में भी किया गया है।

पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में इस विषय में जो लिखा है वह इस प्रकार है—"तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्ट । तस्य साक्षात् शिष्यै बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तै, गणधरै श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनम्—अङ्गपूर्वलक्षणम् ।"–सर्वार्थसिद्धि १ २० ।

स्पष्ट है कि पूज्यपाद के समय तक ग्रन्थरचना के विषय में श्वेताम्बर-दिगम्बर में कोई मतभेद नही है । यह भी स्पष्ट है कि केवल एक ही गणधर सूत्र रचना नही करते किन्तु अनेक गणधर सूत्ररचना करते हैं । पूज्यपाद को तो यही परम्परा मान्य है जो श्वेताम्बरो के सम्मत अनुयोग में दी गई है यह स्पष्ट है । इसी परम्परा का समर्थन आचार्य अकलक और विद्यानन्द ने भी किया है—

बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरै अनुस्मृतग्रन्थरचनम्—आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमुच्यते ।"—राजवार्तिक १ २० १२, पृ० ७२ । "तस्याप्यर्थत सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धे, 'अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवै ग्रथितम्' इति वचनात् ।" तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६, "द्रव्यश्रुत हि द्वादशाङ्ग वचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतम् तदुभयमपि गणधरदेवाना भगवदर्हत्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात् स्वमतिश्रुतिज्ञानावरणवीर्यान्तिरायक्षयोपशमातिशयाच्च उत्पद्यमान कथमाप्तायत्तं न भवेत् ?" वही पृ० १ ।

इस तरह आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलक और आचार्य विद्यानन्द ये सभी दिगम्बर आचार्य स्पष्ट रूप से मानते हैं कि सभी गणधर सूत्र-रचना करते हैं ।

ऐसी परिस्थिति में इन आचार्यों के मत के अनुसार यही फलित होता है कि गौतम गणधर ने और अन्य सुधर्मा आदि ने भी ग्रन्थरचना की थी । केवल गौतम ने ही ग्रन्थरचना की हो और सुधर्मा आदि ने न की हो यह फलित नही होता । यह परिस्थिति विद्यानन्द तक तो मान्य थी ऐसा प्रतीत होता है । ऐसा ही मत श्वेताम्बरो का भी है ।

प० कैलाशचन्द्र ने यह लिखा है कि "हमने इस बात को खोजना चाहा कि जैसे दिगम्बर परम्परा के अनुसार प्रधान गणधर गौतम ने महावीर की देशना को अगो में गूथा वैसे श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर की वाणी को सुनकर उसे अगो में किसने निवद्ध किया ? किन्तु खोजने पर भी हमें किसी खास गणधर का निर्देश इस सम्बन्ध में नही मिला ।"—पीठिका पृ० ५३० ।

इस विषय में प्रथम यह बता देना जरूरी है कि यहाँ पं० कैलाशचन्द्रजी यह वात 'केवल गौतम ने ही अगरचना की थी'—इस मन्तव्य को मानकर ही

कर रहे है । और यह मन्तव्य धवला से उन्हें मिला है जहाँ यह कहा है गया कि गौतम ने अगज्ञान सुधर्मा को दिया । अतएव यह फलित किया गया कि सुधर्मा ने अगग्रथन नही किया था, केवल गौतम ने किया था ।

हमने ऊपर जो पूज्यपाद आदि धवला से प्राचीन आचार्यों के अवतरण दिये है उससे तो यही फलित होता है कि धवलाकार ने अपना यह नया मन्तव्य प्रचलित किया है यदि—जैसा पण्डित कैलाशचन्द्र ने माना है–यही सच हो । अतएव धवलाकार के वाक्य की सगति बैठाना हो तो इस विषय में दूसरा ही मार्ग लेना होगा या यह मानना होगा कि धवलाकार प्राचीन आचार्यों से पृथक् मतान्तर को उपस्थित कर रहे हैं, जिसका कोई प्राचीन आधार नही है । यह केवल उन्ही का चलाया हुआ मत है । हमारा मत तो यही है कि धवलाकार के वाक्य की सगति बैठाने का दूसरा ही मार्ग लेना चाहिए, न कि पूर्वाचार्यों के मत के साथ उनकी विसगति का ।

अब यह देखा जाय कि क्या श्वेताम्बरो ने किसी गणधर व्यक्ति का नाम सूत्र के रचयिता के रूप में दिया है कि नही जिसकी खोज तो प० कैलाशचन्द ने की किन्तु वे विफल रहे ।

आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा है—

"एक्कारस वि गणधरे पवायए पवयणस्स वदामि ।
सव्व गणधरवंस वायगवस पवयण च ॥ ८० ॥

—विशेषा० १०६२

इसकी टीका में आचार्य मलधारी ने स्पष्ट रूप से लिखा है—

"गौतमादीन् वन्दे । कथ भूतान् प्रकर्षेण प्रधाना आदौ वा वाचका प्रवाचका प्रवचनस्य आगमस्य ।" पृ० ४९० ।[1]

इसी निर्युक्ति गाथा को भाष्यगाथाओ की स्वोपज्ञ टीका मे जिनभद्र ने भी लिखा है—

"यथा अर्हन्नर्थस्य वक्तेति पूज्यस्तथा गणधरा गौतमादय सूत्रस्य वक्तार इति पूज्यन्ते मङ्गलत्वाच्च ।"

प्रस्तुत में गौतमादि का स्पष्ट उल्लेख होने से 'श्वेताम्बरो मे साधारण रूप से गणधरो का उल्लेख है किन्तु खास नाम नहीं मिलता'—यह पण्डितजी का कथन निर्मूल सिद्ध होता है ।

---

१ यह पुस्तक पण्डितजी ने देखी है अतएव इसका अवतरण यहाँ दिया है ।

यहाँ यह भी बता देना जरूरी है कि पण्डितजी ने अपनी पीठिका में जिन "तवनियमनाण" इत्यादि नियुक्ति की दो गाथाओ को विशेषावश्यक से उद्धृत किया है (पीठिका पृ० ५३० की टिप्पणी] उनकी टीका तो पण्डितजी ने अवश्य ही देखी होगी—उसमें आचार्य हेमचन्द्र स्पष्टरूप से लिखते हैं—

"तेन विमलवुद्धिमयेन पटेन गणधरा गौतमादयो"—विशेषा० टीका० गा० १०९५, पृ० ५०२। ऐसा होते हुए भी पण्डितजी को श्वेताम्बरो में सूत्र के रचयिता के रूप में खास गणधर के नाम का उल्लेख नही मिला—यह एक आश्चर्यजनक घटना ही है। और यदि पण्डितजी का मतलब यह हो कि किसी खास=एक ही व्यक्ति का नाम नही मिलता तो यह बता देना जरूरी है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो के मत से जब सभी गणधर प्रवचन की रचना करते हैं तो किसी एक ही का नाम तो मिल ही नही सकता। ऐसी परिस्थिति में इसके आधार पर पण्डितजी ने श्रुतावतार की परम्परा में दोनो सम्प्रदायो के भेद को मानकर जो कल्पनाजाल खडा किया है वह निरर्थक है।

प० कैलाशचन्द्रजी मानते हैं कि श्वेताम्बर-वाचनागत अगज्ञान सार्वजनिक है "किन्तु दिगम्बर-परम्परा में अगज्ञान का उत्तराधिकार गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में ही प्रवाहित होता हुआ माना गया है। उसके अनुसार अगज्ञान ने कभी भी सार्वजनिक रूप नही लिया।"—पीठिका पृ० ५४३। यहाँ पण्डितजी का तात्पर्य ठीक समझ में नही आता। गुरु अपने एक ही शिष्य को पढ़ाता था और वह फिर गुरु बनकर अपने शिष्य को—इस प्रकार की परम्परा दिगम्बरो में चली है—क्या पण्डितजी का यह अभिप्राय है ? यदि गुरु अनेक शिष्यो को पढाता होगा तब तो अगज्ञान श्वेताम्बरो की तरह सार्वजनिक हो जायगा। और यदि यह अभिप्राय है कि एक ही शिष्य को, तब शास्त्रविरोध पण्डितजी के ध्यान के बाहर गया है—यह कहना पडता है। षट्खण्डागम की धवला में परिपाटी और अपरिपाटी से सकल श्रुत के पारगामी का उल्लेख है। उसमें अपरिपाटी से—'अपरिवाडिए पुण सयलसुदपारगा संखेज्जसहस्सा" (धवला पृ० ६५) का उल्लेख है—इसका स्पष्टीकरण पण्डितजी क्या करेंगे ? हमें तो यह समझ में आता है कि युगप्रधान या वशपरम्परा में जो क्रमश आचार्य-गणधर हुए अर्थात् गण के मुखिया हुए उनका उल्लेख परिपाटीक्रम में समझना चाहिए और गण के मुख्य आचार्य के अलावा जो श्रुतधर थे वे परिपाटीक्रम से सम्बद्ध न होने से अपरिपाटी में गिने गये। वैसे अपरिपाटी में सहस्रो की सख्या में सकल श्रुतधर थे। तो यह अगश्रुत श्वेताम्बरो की तरह दिगम्बरो में भी सार्वजनिक था ही यह मानना पडता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि जयधवला में यह स्पष्ट

लिखा है कि सुधर्मा ने केवल एक जम्बू को ही नही किन्तु अपने अनेक शिष्यों को अगो की वाचना दी थी—"तद्दिवसे चेव सुहम्माइरियो जबूसामियादीणमणेयाणमाइरियाण वक्खाणिददुवालसगो घाइचउक्कक्खयेण केवली जादो ।" —जयधवला पृ० ८४ ।

यहाँ स्पष्ट रूप से जम्बू ने अपने शिष्य ऐसे एक नही किन्तु अनेक आचार्यों को द्वादशाग पढाया है—ऐसा उल्लेख है। इस पर से क्या हम कल्पना नही कर सकते कि सघ मे श्रुतधरो की सख्या बहुत बडी होती थी ? ऐसी स्थिति में श्वेताम्बर-दिगम्बरो मे जिस विषय मे कभी भेद रहा नहीं उस विषय मे भेद की कल्पना करना उचित नही है। प्राचीन परम्परा के अनुसार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो में यही मान्यता फलित होती है कि सभी गणधर सूत्ररचना करते थे और अपने अनेक शिष्यो को उसकी वाचना देते थे। एक बात और यह भी है कि अगज्ञान सार्वजनिक हो गया श्वेताम्बरो में और दिगम्बरो में नही हुआ—इससे पडितजी का विशेष तात्पर्य क्या यह है कि केवल दिगम्बर परम्परा में ही गुरु शिष्य परम्परा से ही अगज्ञान प्रवाहित हुआ और श्वेताम्बरो मे नही ? यदि ऐसा ही उनका मन्तव्य है जैसा कि उनके आगे उद्धृत अवतरण से स्पष्ट है तो यह भी उनका कहना उचित नही जँचता। हमने आचार्य जिनभद्र के अवतरणो से यह स्पष्ट किया ही है कि उनके समय तक यही परम्परा थी कि शिष्य को गुरुमुख से ही और वह भी उनको अनुमति से ही, चोरी से नही, श्रुत का पाठ लेना जरूरी था और यही परम्परा विशेषावश्यक के टीकाकार हेमचन्द्र ने भी मानी है। इतना ही नही आज भी यह परम्परा श्वेताम्बरो मे प्रचलित है कि योगपूर्वक, तपस्यापूर्वक गुरुमुख से ही श्रुतपाठ शिष्य को लेना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह उसका पाठी कहा जायगा। ऐसी स्थिति मे श्वेताम्बर-परम्परा में वह सार्वजनिक हो गया और दिगम्बर-परम्परा मे गुरुशिष्य परम्परा तक सीमित रहा—पडितजी का यह कहना कहाँ तक सगत है ?

सार्वजनिक से तात्पर्य यह हो कि कई साधुओ ने मिल कर अग की वाचना निश्चित की अतएव श्वेताम्बरो मे वह व्यक्तिगत न रहा और सार्वजनिक हो गया। इस प्रकार सार्वजनिक हो जाने से ही दिगम्बरो ने अगशास्त्र को मान्यता न दी हो यह बात हमारी समझ से तो परे है। कोई एक व्यक्ति कहे वही सत्य और अनेक मिलकर उनकी सचाई की मोहर दें तो वह सत्य नही—ऐसा मानने वाला उस काल का दिगम्बर सम्प्रदाय होगा—ऐसा मानने को हमारा मन तो तैयार नही। इसके समर्थन में कोई उल्लेख भी नही है। आज दिगम्बर समाज जिस किसी कारण से श्वेताम्बर सम्मत आगमो को न मानता हो उसकी खोज करना

जरूरी है किन्तु उनका कारण यह तो नही हो सकता कि चूकि अग सार्वजनिक हो गये थे, अतएव वे दिगम्बर समाज में मान्य नही रहे । अतएव पडितजी का यह लिखना कि "उसने इस विषय में जन-जन की स्मृति को प्रमाण नही माना" निराधार है, कोरी कल्पना है। आखिर जिनके लिए पडितजी ने जन-जन शब्द का प्रयोग किया है वे कौन थे ? क्या उन्होने अपने गुरुओ से अगज्ञान लिया ही नहीं था ? अपनी कल्पना से ही अगो का सकलन कर दिया था ? हमारा तो विश्वास है कि जिनको पडितजी ने 'जन-जन' कहा है वे किसी आचार्य के शिष्य ही थे और उन्होंने अपने आचार्य से सीखा हुआ श्रुत ही वहाँ उपस्थित किया था। इसीलिए तो कहा गया है कि जिसको जितना याद था उसने उतना वहाँ उपस्थित किया।



अंग आगम

प्रकरण १

जैन श्रुत

जैन श्रमण व शास्त्रलेखन

अचेलक परम्परा व श्रुतसाहित्य

श्रुतज्ञान

अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत

सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत

सादिक, अनादिक, सपर्यवसित व अपर्यवसित श्रुत

गमिक-अगमिक, अंगप्रविष्ट-अनंगप्रविष्ट व कालिक-उत्कालिक श्रुत

प्रथम प्रकरण

जैन श्रुत

महान् लिपिशास्त्री श्री ओझाजी का निश्चित मत है कि ताडपत्र, भोजपत्र, कागज, स्याही, लेखनी आदि का परिचय हमारे पूर्वजों को प्राचीन समय से ही था। ऐसा होते हुए भी किसी भारतीय अथवा एशियाई धर्म-परम्परा के मूलभूत धर्मशास्त्र अधिकांशतया रचना के समय ही ताडपत्र अथवा कागज पर लिपिबद्ध हुए हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

आज से पचीस सौ वर्ष अथवा इससे दुगुने समय पहले के जिज्ञासु अपने-अपने धर्मशास्त्रों को आदर व विनयपूर्वक अपने-अपने गुरुओं द्वारा प्राप्त कर सकते थे। वे इस प्रकार से प्राप्त होनेवाले शास्त्रों को कठाग्र करते तथा कठाग्र पाठों को बार-बार स्मरण कर याद रखते। धर्मवाणी के शुद्ध उच्चारण सुरक्षित रहें, इसका वे पूरा ध्यान रखते। कहीं काना, मात्रा, अनुस्वार, विसर्ग आदि निरर्थकरूप से प्रविष्ट न हो जायें अथवा निकल जायें, इसकी भी वे पूरी सावधानी रखते।

अवेस्ता एवं वेदों के विशुद्ध उच्चारणों की सुरक्षा का आवेस्तिक पंडितों एवं वैदिक पुरोहितों ने पूरा ध्यान रखा है। इसका समर्थन वर्तमान में प्रचलित अवेस्ता गाथाओं एवं वेद-पाठों की उच्चारण-प्रक्रिया से होता है।

जैन परम्परा में भी आवश्यक क्रियाकाण्ड के सूत्रों की अक्षरसंख्या, पदसंख्या, लघु एवं गुरु अक्षरसंख्या आदि का खास विधान है। सूत्र का किस प्रकार उच्चारण करना, उच्चारण करते समय किन-किन दोषों से दूर रहना—इत्यादि का अनुयोगद्वार आदि में स्पष्ट विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में जैन परम्परा में भी उच्चारण विषयक कितनी सावधानी रखी जाती थी। वर्तमान में भी विधिज्ञ इसी प्रकार परम्परा के अनुसार सूत्रोच्चारण करते हैं एवं यति आदि का पालन करते हैं।

इस प्रकार विशुद्ध रीति से संचित श्रुतसम्पत्ति को गुरु अपने शिष्यों को सौंपते तथा शिष्य पुनः अपनी परम्परा के प्रशिष्यों को सौंपते। इस तरह श्रुत की परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक निरन्तर प्रवाह के रूप में चलती रही।

महावीर-निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद अर्थात् विक्रम की चौथी-पाँचवी शताब्दी मे जब वलभी में आगमो को पुस्तकारूढ किया गया तब से कठाग्र-प्रथा धीरे धीरे कम होने लगी और अब तो यह बिलकुल मद हो गई है।

जिस समय कठाग्रपूर्वक शास्त्रो को स्मरण रखने की प्रथा चालू थी उस समय इस कार्य को सुव्यवस्थित एव अविसवादी रूप मे सम्पन्न करने के लिए एक विशिष्ट एव आदरणीय वर्ग विद्यमान था जो उपाध्याय के रूप मे पहचाना जाता था। जैन परम्परा मे अरिहत आदि पाँच परमेष्ठी माने जाते है। उनमे इस वर्ग का चतुर्थ स्थान है। इस प्रकार सघ मे इस वर्ग की विशेष प्रतिष्ठा है।

धर्मशास्त्र प्रारम्भ मे लिखे गये न थे अपितु कठाग्र थे एव स्मृति द्वारा सुरक्षित रखे जाते थे, इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए शास्त्रो के लिए वर्तमान में प्रयुक्त श्रुति, स्मृति एव श्रुत शब्द पर्याप्त है।

विद्वज्जगत् जानता है कि ब्राह्मण परम्परा के मुख्य प्राचीन शास्त्रो का नाम श्रुति है एव तदनुवर्ती बाद के शास्त्रो का नाम स्मृति है। श्रुति एव स्मृति—ये दोनो शब्द रूढ नही अपितु यौगिक है तथा सर्वथा अन्वर्थक है। जैन परम्परा के मुख्य प्राचीन शास्त्रो का नाम श्रुत है। श्रुति एव स्मृति की ही भाति श्रुत शब्द भी यौगिक है। अत इन नामो वाले शास्त्र सुन-सुन कर सुरक्षित रखे गये है, ऐसा स्पष्टतया फलित होता है। आचाराग आदि सूत्र 'सुय मे' आदि वाक्यो से शुरू होते है। इसका अर्थ यही है कि शास्त्र सुने हुए है एव सुनते-सुनते चलते आये है।

प्राचीन जैन आचार्यो ने जो श्रुतज्ञान का स्वरूप बताया है एव उसके विभाग किये है उसके मूल में भी यह 'सुय' शब्द रहा हुआ है, ऐसा मानने में कोई हर्ज नही है।

वैदिक परम्परा मे वेदो के सिवाय अन्य किसी भी ग्रन्थ के लिए श्रुति शब्द का प्रयोग नही हुआ है जबकि जैन परम्परा में समस्त शास्त्रो के लिए, फिर चाहे वे प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन, श्रुत शब्द का प्रयोग प्रचलित है। इस प्रकार श्रुत शब्द मूलत यौगिक होते हुए भी अब रूढ हो गया है।

जैसा कि पहले कहा गया है, हजारो वर्ष पूर्व भी धर्मोपदेशको को लिपियो तथा लेखन-साधनो का ज्ञान था। वे लेखन-कला में निपुण भी थे। ऐसा होते हुए भी जो जैन धर्मशास्त्रो को सुव्यवस्थित रखने की व्यवस्था करने वाले थे अर्थात् जैन शास्त्रो मे काना-मात्रा जितना भी परिवर्तन न हो, इसका सतत ध्यान रखने वाले महानुभाव थे उन्होने इन शास्त्रो को सुन-सुन कर स्मरण रखने का महान् मानसिक भार क्यो कर उठाया होगा ?

अति प्राचीन काल से चली आने वाली जैन श्रमणो की चर्या, साधना एव परिस्थिति का विचार करने पर इस प्रश्न का समाधान स्वत हो जाता है।

जैन श्रमण व शास्त्रलेखन :

जैन मुनियो की मन, वचन व काया से हिंसा न करने, न करवाने एव करते हुए का अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा होती है। प्राचीन जैन मुनि इस प्रतिज्ञा का अक्षरश पालन करने का प्रयत्न करते थे। जिसे प्राप्त करने में हिंसा की तनिक भी सम्भावना रहती ऐसी वस्तुओ को वे स्वीकार न करते थे। आचाराग आदि उपलब्ध सूत्रो को देखने से उनकी यह चर्या स्पष्ट मालूम होती है। बौद्ध ग्रन्थ भी उनके लिए 'दीघतपस्सी' (दीर्घतपस्वी) शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार अत्यन्त कठोर आचार परिस्थिति के कारण ये श्रमण धर्मरक्षा के नाम पर भी अपनी चर्या में अपवाद की आकाक्षा रखने वाले न थे। यही कारण है कि उन्होने हिंसा एव परिग्रह की सम्भावना वाली लेखन-प्रवृत्ति को नही अपनाया।

यद्यपि धर्म-प्रचार उन्हें इष्ट था किन्तु वह केवल आचरण एव उपदेश द्वारा ही। हिंसा एव परिग्रह की सम्भावना के कारण व्यक्तिगत निर्वाण के अभिलाषी इन नि स्पृह मुमुक्षुओ ने शास्त्र-लेखन की प्रवृत्ति की उपेक्षा की। उनकी इस अहिंसा-परायणता का प्रतिबिम्ब बृहत्कल्प नामक छेद सूत्र में स्पष्टतया प्रतिबिम्बित है। उसमें स्पष्ट विधान है कि पुस्तक पास में रखनेवाला श्रमण प्रायश्चित्त का भागी होता है (बृहत्कल्प, गा ३८२४-३८३१, पृ १०५४-१०५७)।

इस उल्लेख से यह भी सिद्ध होता है कि कुछ साधु पुस्तकें रखते भी होगे। अत यह नही कहा जा सकता कि भगवान् महावीर के बाद हजार वर्ष तक कोई भी आगमग्रन्थ पुस्तकरूप में लिखा ही न गया हो। हाँ, यह कहा जा सकता है कि पुस्तक-लेखन की प्रवृत्ति विधानरूप से स्वीकृत न थी। अहिंसा के आचार को रूढरूप से पालने वाले पुस्तकें नही लिखते किन्तु जिन्हें ज्ञान से विशेष प्रेम था वे पुस्तकें अवश्य रखते होगे। ऐसा मानने पर ही अग के अतिरिक्त समग्र विशाल साहित्य की रचना सम्भव हो सकती है।

बृहत्कल्प में यह भी बताया गया है कि पुस्तक पास में रखने वाले श्रमण में प्रमाद-दोष उत्पन्न होता है। पुस्तक पास मे रहने से धर्म-वचनों के स्वाध्याय का आवश्यक कार्य टल जाता है। धर्म वचनो को कठस्थ रख कर उनका बार-बार स्मरण करना स्वाध्यायरूप आन्तरिक तप है। पुस्तकें पास रहने से यह तप मन्द होने लगता है तथा गुरुमुख से प्राप्त सूत्रपाठो को उदात्त-अनुदात्त आदि मूल उच्चारणो में सुरक्षित रखने का श्रम भाररूप प्रतीत होने लगता है। परिणामत सूत्रपाठो के मूल उच्चारणो में परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाता है। इसका

सोरठ (सौराष्ट्र] प्रदेश में स्थित गिरनार की चन्द्रगुफा में रहते थे। वे अष्टागमहानिमित्त शास्त्र मे पारगत थे। उन्हें ऐसा मालूम हो गया कि अब श्रुतसाहित्य का विच्छेद हो जाएगा ऐसा भयकर समय आ गया है। यह जानकर भयभीत हुए प्रवचनप्रेमी धरसेन ने दक्षिण प्रदेश में विचरने वाले महिमा नगरी में एकत्रित आचार्यो को एक पत्र लिख भेजा। पत्र पढकर आचार्यों ने आंध्र प्रदेश के बेन्नातट नगर के विशेष बुद्धिसम्पन्न दो शिष्यो को आचार्य धरसेन के पास भेज दिया। आये हुए शिष्यो की परीक्षा करने के बाद उन्हें धरसेन ने अपनी विद्या अर्थात् श्रुतसाहित्य पढ़ाना प्रारम्भ किया। पढते-पढते आषाढ शुक्ला एकादशी का दिवस आ पहुँचा। इस दिन ठीक दोपहर में उनका अध्ययन पूर्ण हुआ। आचार्य दोनो शिष्यो पर बहुत प्रसन्न हुए एव उनमें से एक का नाम भूतवली व दूसरे का नाम पुष्पदन्त रखा। इसके बाद दोनो शिष्यो को वापस भेजा। उन्होने सोरठ से वापस जाते हुए (अकुलेश्वर या अकलेश्वर) नामक ग्राम में चातुर्मास किया। तदनन्तर आचार्य पुष्पदन्त वनवास के लिए गये एव आचार्य भूतवली द्रमिल (द्रविड) में गये। आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित नामक शिष्य को दीक्षा दी। फिर बीस सूत्रो की रचना की एव जिनपालित को पढाकर उसे द्रविड देश मे आचार्य भूतवली के पास भेजा। भूतवली ने यह जानकर कि आचार्य पुष्पदन्त अल्प आयु वाले हैं तथा महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत सम्बन्धी जो कुछ श्रुतसाहित्य है वह उनकी मृत्यु के बाद नही रह सकेगा, द्रव्यप्रमाणानुयोग को प्रारम्भ में रखकर षट्खण्डागम की रचना की। इस खडसिद्धान्तश्रुत के कर्ता के रूप में आचार्य भूतवली तथा पुष्पदन्त दोनो माने जाते हैं।[1] इस कथानक में सोरठ प्रदेश का उल्लेख आता है। श्री देवर्धिगणि की ग्रथलेखन-प्रवृत्ति का सम्बन्ध भी सोरठ प्रदेश की ही वलभी नगरी के साथ है।

जब विक्रम की तेरहवी शताब्दी में आचार्य अभयदेव ने अगग्रन्थों पर वृत्तियाँ लिखी तब कुछ श्रमण उनके इस कार्य से असहमत थे, यह अभयदेव के प्रबन्ध में स्पष्टतया उल्लिखित है।

इसे देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि जब ग्रन्थलेखन की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई होगी तब तत्कालीन समस्त जैन परम्परा की इस कार्य में सहमति रही होगी। फिर भी जिन्होने अपवाद-मार्ग का अवलम्बन लेकर भी ग्रन्थलेखन द्वारा धर्मवचनो को सुरक्षित रखने का पवित्रतम कार्य किया है उनका हमपर—विशेषकर सशोधको पर महान् उपकार है।

श्रुतज्ञान .

जैन परम्परा में प्रचलित 'श्रुत' शब्द केवल जैन शास्त्रों के लिए ही रूढ नही

---

१ षट्खण्डागम, प्रथम भाग, पृ० ६७-७१

हैं। शास्त्रों के अतिरिक्त 'श्रुत' शब्द में लिपियाँ भी समाविष्ट हैं। 'श्रुत' के जितने भी कारण अर्थात् निमित्तकारण हैं, वे सब 'श्रुत' में समाविष्ट होते हैं। ज्ञानरूप कोई भी विचार भावश्रुत कहलाता है। यह केवल आत्मगुण होने के कारण सदा अमूर्त होता है। विचार को प्रकाशित करने का निमित्त कारण शब्द है अतः वह भी निमित्त-नैमित्तिक के कथंचित् अभेद की अपेक्षा से 'श्रुत' कहलाता है। शब्द मूर्त होता है। इसे जैन परिभाषा में 'द्रव्यश्रुत' कहते हैं। शब्द की ही भांति भावश्रुत को सुरक्षित एवं स्थायी रखने के जो भी निमित्त अर्थात् कारण हैं वे सभी 'द्रव्यश्रुत' कहलाते हैं। इनमें समस्त लिपियों का समावेश होता है। इनके अतिरिक्त कागज, स्याही, लेखनी आदि भी परम्परा की अपेक्षा से 'श्रुत' कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि ज्ञानपंचमी अथवा श्रुतपंचमी के दिन सब जैन सामूहिक रूप से एकत्र होकर इन साधनों का तथा समस्त प्रकार की जैन पुस्तकों का विशाल प्रदर्शन करते हैं एवं उत्सव मनाते हैं। देव-प्रतिमा के समान इनके पास घृत-दीपक जलाते हैं एवं वंदन, नमन, पूजन आदि करते हैं। प्रत्येक शब्द, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो—व्यक्त हो अथवा अव्यक्त—'द्रव्यश्रुत' में समाविष्ट होता है। प्रत्येक भावसूचक संकेत—जैसे छींक, खखार आदि—का भी व्यक्त शब्द के ही समान द्रव्यश्रुत में समावेश होता है। द्रव्यश्रुत एवं भावश्रुत के विषय में आचार्य देववाचक ने स्वचरित नन्दिसूत्र में विस्तृत एवं स्पष्ट चर्चा की है।

नन्दिसूत्रकार ने ज्ञान के पाँच प्रकार बताये हैं: मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान। जैन परम्परा में 'प्रत्यक्ष' शब्द के दो अर्थ स्वीकृत हैं। पहला अक्ष अर्थात् आत्मा। जो ज्ञान सीधा आत्मा द्वारा ही हो, जिसमें इन्द्रियों अथवा मन की सहायता की आवश्यकता न हो वह ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। दूसरा अक्ष अर्थात् इन्द्रियाँ एवं मन। जो ज्ञान इन्द्रियों एवं मन की सहायता से उत्पन्न हो वह व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। उक्त पाँच ज्ञानों में अवधि, मनःपर्यय एवं केवल ये तीन पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं एवं मति व्यावहारिक प्रत्यक्ष है।

श्री भद्रबाहुविरचित आवश्यक-निर्युक्ति, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणरचित विशेषावश्यकभाष्य, श्रीहरिभद्रविरचित आवश्यक-वृत्ति आदि ग्रन्थों में पंचज्ञानविषयक विस्तृत चर्चा की गई है। इसे देखते हुए ज्ञान अथवा प्रमाण के स्वरूप, प्रकार आदि की चर्चा प्रारम्भ में कितनी संक्षिप्त थी तथा धीरे-धीरे कितनी विस्तृत होती गई, इसका स्पष्ट पता लग जाता है। ज्यों-ज्यों तर्कदृष्टि का विकास होता गया त्यों त्यों इस चर्चा का भी विस्तार होता गया।

यहाँ इस लम्बी चर्चा के लिए अवकाश नहीं है। केवल श्रुतज्ञान का परिचय देने के लिए तत्सम्बद्ध प्रासंगिक विषयों का स्पर्श करते हुए आगे बढ़ा जाएगा।

इन्द्रियो तथा मन द्वारा होने वाले बोध को मतिज्ञान कहते हैं। इसे अन्य दार्शनिक 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। जबकि जैन परम्परा में इसे 'व्यावहारिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है। इन्द्रिय-मन-निरपेक्ष एव सीधा आत्मा द्वारा न होने के कारण मतिज्ञान वस्तुत परोक्ष ही है।

दूसरा श्रुतज्ञान है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, श्रुतज्ञान के मुख्य दो भेद हैं द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। भावश्रुत आत्मोपयोगरूप अर्थात् चेतनारूप होता है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत की उत्पत्ति में निमित्तरूप व जनकरूप होता है एव भावश्रुत से जन्य भी होता है। यह भाषारूप एव लिपिरूप है। कागज, स्याही, लेखनी, दावात, पुस्तक इत्यादि समस्त श्रुतसाधन द्रव्यश्रुत के ही अन्तर्गत हैं।

श्रुतज्ञान के परस्पर विरोधी सात युग्म कहे गये हैं अर्थात् देववाचक ने श्रुतज्ञान के सब मिलाकर चौदह भेद बताए हैं। इन चौदह भेदो में सब प्रकार का श्रुतज्ञान समाविष्ट हो जाता है। यहाँ निम्नोक्त छ युग्मो की चर्चा विवक्षित है —

१ अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत, २ सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत, ३ सादिकश्रुत व अनादिकश्रुत, ४ सपर्यवसित अर्थात् सान्तश्रुत व अपर्यवसित अर्थात् अनन्त-श्रुत, ५ गमिकश्रुत व अगमिकश्रुत, ६ अगप्रविष्टश्रुत व अनगप्रविष्ट अर्थात् अगबाह्यश्रुत।

अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत

इस युग्म में प्रयुक्त 'अक्षर' शब्द भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न अर्थ का बोध कराता है। अक्षरश्रुत भावरूप है अर्थात् आत्मगुणरूप है। उसे प्रकट करने में तथा उसकी वृद्धि एव विकास करने में जो अक्षर अर्थात् ध्वनियाँ, स्वर अथवा व्यञ्जन निमित्तरूप होते हैं उनके लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग होता है। ध्वनियो के सकेत भी 'अक्षर' कहलाते हैं। सक्षेप में अक्षर का अर्थ है—अक्षरात्मक ध्वनियाँ तथा उनके समस्त सकेत। ध्वनियों में समस्त स्वर-व्यञ्जन समाविष्ट होते हैं। सकेतो में समस्त अक्षररूप लिपियो का समावेश होता है।

आज के इस विज्ञानयुग में भी अमुक देश अथवा अमुक लोग अपनी अभीष्ट अमुक प्रकार की लिपियो अथवा अमुक प्रकार के सकेतो को ही विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं तथा अमुक प्रकार की लिपियो व सकेतो को कोई महत्त्व नही देते, जब कि आज से हजारों वर्ष पहले जैनाचार्यों ने श्रुत के एक भेद अक्षरश्रुत में समस्त प्रकार की लिपियों एव अक्षर-सकेतों को समाविष्ट किया था। प्राचीन जैन परम्परा में भाषा, लिपि अथवा सकेतो को केवल विचार-प्रकाशन के वाहन के रूप

मे ही स्वीकार किया गया है। उन्हें ईश्वरीय समझ कर किसी प्रकार की विशेष पूजा प्रतिष्ठा नही दी गई है। इतना ही नही, जैन आगम तो यहाँ तक कहते है कि चित्र विचित्र भाषाएँ, लिपिया अथवा सकेत मनुष्य को वासना के गर्त मे गिरने मे नही बचा सकते। वासना के गर्त मे गिरने मे बचाने के असाधारण साधन विवेकयुक्त सदाचरण, सयम, शील, तप इत्यादि है। जैन परम्परा एव जैन शास्त्रो मे प्रारम्भ मे ही यह घोषणा चली आती है कि किसी भी भाषा, लिपि अथवा सकेत राग चित्त मे जड जमाये हुए राग-द्वेषादिक की परिणति को कम करनेवाली विवेकयुक्त विचारधारा ही प्रतिष्ठायोग्य है। इस प्रकार का मान्यता मे ही अहिंसा की स्थापना व आचरण निहित है। व्यावहारिक दृष्टि से भी इसी मे मानवजाति का कल्याण है। इसके अभाव मे विषमता, वर्गविग्रह व क्लेशवर्धन की ही सम्भावना रहती है।

जिस प्रकार अक्षरश्रुत मे विविध भाषाएँ, विविध लिपियाँ एव विविध सकेत समाविष्ट है उसी प्रकार अनक्षरश्रुत मे श्रूयमाण अव्यक्त ध्वनियो तथा दृश्यमान शारीरिक चेष्टाओ का समावेश किया गया है। इस प्रकार की ध्वनियाँ एव चेष्टाएँ भी अमुक प्रकार के बोध का निमित्त बनती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बोध के समस्त निमित्त, श्रुत मे समाविष्ट है। इस प्रकार कराह, चीत्कार नि श्वास खखार, खासी, छीक आदि बोध-निमित्त सकेत अनक्षरश्रुत मे समविष्ट है। रोगी की कराह उसकी व्यथा की ज्ञापक होती है। चीत्कार व्यथा अथवा वियोग की ज्ञापक हो सकती है। नि श्वास दु ख एव विरह का सूचक है। छीक किसी विशिष्ट सकेत की सूचक हो सकती है। थूकने की चेष्टा निन्दा अथवा तिरस्कार की भावना प्रकट कर सकती है अथवा किसी अन्य तथ्य का सकेत कर सकती है। इसी प्रकार आँख के इशारे भी विभिन्न चेष्टाओ को प्रकट करते है।

एक पुरुष अपनी परिचित एक स्त्री के घर मे घुसा। घर में स्त्री की सास थी। उसे देख कर स्त्री ने गाली देते हुए जोर से उसकी पीठ पर एक थप्पा लगाया। कपडे पर भरे हुए मले हाथ की पाँचो उगलिया उठ आई। इस सकेत का पुरुष ने यह अथ निकाला कि कृष्णपक्ष की पचमी के दिन फिर आना। पुरुष का निकाला हुआ यह अर्थ ठीक था। उस स्त्री ने इसी अर्थ के सकेत के लिए थप्पा लगाया था।

इस प्रकार अव्यक्त ध्वनियाँ एव विशिष्ट प्रकार की चेष्टाएँ भी अमुक प्रकार के बोध का निमित्त बनती है। जो लोग इन ध्वनियो एव चेष्टाओ का रहस्य समझते है उन्हें इनसे अमुक प्रकार का निश्चित बोध होता है।

मतिज्ञान एव श्रुतज्ञान के सर्वसम्मत सार्वत्रिक साहचर्य को ध्यान में रखते हुए यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि साकेतिक भाषा के अतिरिक्त साकेतिक चेष्टाएँ भी श्रुतज्ञान में समाविष्ट हैं। ऐसा होते हुए भी इस विषय में भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में, वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकवृत्ति में तथा आचार्य मलयगिरि ने नन्दिवृत्ति में जो मत व्यक्त किया है उसका यहाँ निर्देश करना आवश्यक है।

उक्त तीनो आचार्य लिखते हैं कि अश्रूयमाण शारीरिक चेष्टाओ को अनक्षर-श्रुत में समाविष्ट न करने की रूढ परम्परा है। तदनुसार जो सुनने योग्य है वही श्रुत है, अन्य नही। जो चेष्टाएँ सुनाई न देती हो उन्हें श्रुतरूप नही समझना चाहिए।[1] यहाँ 'श्रुत' शब्द को रूढ न मानते हुए यौगिक माना गया है।

अचेलक परम्परा के तत्त्वार्थ-राजवार्तिक नामक ग्रन्थ में बताया गया है कि 'श्रुतशब्दोऽय रूढिशब्द इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्वसिद्धिर्भवति' अर्थात् श्रुत' शब्द रूढ है। श्रुतज्ञान में किसी भी प्रकार का मतिज्ञान कारण हो सकता है।[2] इस व्याख्या के अनुसार श्रूयमाण एव दृश्यमान दोनो प्रकार के सकेतो द्वारा होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान की कोटि में आता है।

मेरी दृष्टि से श्रुत' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए श्रूयमाण व दृश्यमान दोनो प्रकार के सकेतो व चेष्टाओ को श्रुतज्ञान में समाविष्ट करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

इस प्रकार अक्षरश्रुत व अनक्षरश्रुत इन दो अवान्तर भेदो के साथ श्रुतज्ञान का व्यापक विचार जैन परम्परा में अति प्राचीन समय से होता आया है। इसका उल्लेख ज्ञान के स्वरूप का विचार करने वाले समस्त जैन ग्रन्थो में आज भी उपलब्ध है।

सम्यक्श्रुत व मिथ्याश्रुत

ऊपर बताया गया है कि भाषासापेक्ष, अव्यक्तध्वनिसापेक्ष तथा सकेतसापेक्ष समस्तज्ञान श्रुत की कोटि में आता है। इसमें झूठा ज्ञान, चौर्य को सिखाने वाला ज्ञान, अनाचार का पोषक ज्ञान इत्यादि मुक्तिविरोधी एव आत्मविकासबाधक ज्ञान भी समाविष्ट हैं। सासारिक व्यवहार की अपेक्षा से भले ही ये समस्त ज्ञान 'श्रुत' कहे जाएँ किन्तु जहाँ आध्यात्मिक दृष्टि की मुख्यता हो एव इसी एक लक्ष्य को

१ विशेषावश्यकभाष्य, गा ५०३, पृ २७५, हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति, पृ २५, गा २०, मलयगिरि नन्दिवृत्ति, पृ १८९, सू ३९.

२ अ १, सू २०, पृ १

दृष्टि में रखते हुए समस्त प्रकार के प्रयत्न करने की वार-वार प्रेरणा दी गई हो वहाँ केवल तद्मार्गोपयोगी अक्षरश्रुत एव अनक्षरश्रुत ही श्रुतज्ञान की कोटि में समाविष्ट हो सकता है।

इस प्रकार के मार्ग के लिए तो जिस वक्ता अथवा श्रोता की दृष्टि शमसम्पन्न हो, सवेगसम्पन्न हो, निर्वेदयुक्त हो, अनुकम्पा अर्थात् करुणावृत्ति से परिपूर्ण हो एव देहभिन्न आत्मा में श्रद्धाशील हो उसी का ज्ञान उपयोगी सिद्ध होता है। इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए नन्दिसूत्रकार ने बतलाया है कि शमादियुक्त वक्ता अथवा श्रोता का अक्षर-अनक्षररूपश्रुत ही सम्यक्श्रुत होता है। शमादिरहित वक्ता अथवा श्रोता का वही श्रुत मिथ्याश्रुत कहलाता है। इस प्रकार उक्त श्रुत के पुन दो विभाग किये गये हैं। प्रस्तुत श्रुत-विचारणा में आत्मविकासोपयोगी श्रुत को ही सम्यक्श्रुत कहा गया है। यह विचारणा सम्प्रदायनिरपेक्ष है। इसी का परिणाम है कि तथाकथित जैन सम्प्रदाय के न होते हुए भी अनेक व्यक्तियो के विषय में अर्हत्व अथवा सिद्धत्व का निर्देश जैन आगमो मे मिलता है।

जैन शास्त्रो के द्वितीय अग सूयगड—सूत्रकृताग के तृतीय अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक की प्रथम चार गाथाओ में वैदिक परम्परा के कुछ प्रसिद्ध पुरुषो के नाम दिये गये हैं एव उन्हें महापुरुष कहा गया है। इतना ही नहीं, उन्होंने सिद्धि प्राप्त की, यह भी बताया गया है। इन गाथाओ में यह भी बताया गया है कि वे शीत जल का उपयोग करते अर्थात् ठण्डा पानी पीते, स्नान करते, ठडे पानी में खडे रह कर साधना भी करते तथा भोजन में बीज एव हरित अर्थात हरी-कच्ची वनस्पति भी लेते थे। इन महापुरुषो के विषय मे मूल गाथा मे आने वाले 'तप्त-तपोधन' शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि वे तपोधन थे अर्थात् पचाग्नि तप तपते थे तथा कद, मूल, फल, बीज एव हरित अर्थात् हरी-कच्ची वनस्पति का भोजनादि मे उपयोग करते थे। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूल गाथाओ मे निर्दिष्ट उपर्युक्त महापुरुष जैन सम्प्रदाय के क्रियाकाण्ड के अनुसार जीवन व्यतीत नही करते थे। फिर भी वे सिद्धि को प्राप्त हुए थे। यह बात आर्हत प्रवचन मे स्वीकार की गई है। यह तथ्य जैन प्रवचन की विशालता एव सम्यक्श्रुत की उदारतापूर्ण व्याख्या को स्वीकार करने के लिए पर्याप्त है। जिनकी दृष्टि सम्यक् है अर्थात् शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एव आस्तिक्य से परिप्लावित है उनका श्रुत भी सम्यक्श्रुत है अर्थात् उनका सम्यग्ज्ञानी होना स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था मे वे सिद्धि प्राप्त करें, इसमे आश्चर्य क्या है? जैन प्रवचन में जिन्हें अन्यलिंगसिद्ध कहा गया है वे इस प्रकार के महापुरुष हो

सकते हैं। जो जैन सम्प्रदाय के वेष में न हो अर्थात् जिनका बाह्य क्रियाकाण्ड जैन सम्प्रदाय का न हो फिर भी जो आन्तरिक शुद्धि के प्रभाव से सिद्धि—मुक्ति को प्राप्त हुए हो वे अन्यलिंगसिद्ध कहलाते हैं। उपर्युक्त गाथाओ में अन्यलिंग से सिद्धि प्राप्त करने वालो के जो नाम बताये हैं वे ये हैं असित, देवल, द्वैपायन, पाराशर, नमीविदेही, रामपुत्त, बाहुक तथा नारायण। ये सब महापुरुष वैदिक परम्परा के महाभारत आदि ग्रन्थो में सुप्रसिद्ध हैं। इन गाथाओं में 'एते पुव्वि महापुरिसा आहिता इह समता' इस प्रकार के निर्देश द्वारा मूलसूत्रकार ने यह बताया है कि ये सब प्राचीन समय के प्रसिद्ध महापुरुष हैं तथा इन्हें 'इह' अर्थात् आर्हत प्रवचन में सिद्धरूप से स्वीकार किया गया है। यहाँ 'इह' का सामान्य अर्थ आर्हत प्रवचन तो है ही किन्तु वृत्तिकार ने 'ऋषिभाषितादौ' अर्थात् 'ऋषिभाषित आदि ग्रन्थो में' इस प्रकार का विशेष अर्थ भी बताया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषिभाषित ग्रन्थ इतना अधिक प्रमाणप्रतिष्ठित है कि इसका निर्देश वृत्तिकार के कथनानुसार स्वय मूलसूत्रकार ने भी किया है।

सूत्रकृताग में 'ऋषिभाषित' नाम का परोक्ष रूप से उल्लेख है किन्तु स्थानाग व समवायाग में तो इसका स्पष्ट निर्देश है। इनमें उसकी अध्ययन-सख्या भी बताई गई है। स्थानाग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनो के नाम बताते हुए 'ऋषिभाषित' नाम का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[1] 'ऋषिभाषित के चौवालीस अध्ययन देवलोक में से मनुष्यलोक में आये हुए जीवो द्वारा कहे गये हैं' इस प्रकार 'ऋषिभाषित' नाम का तथा उसके चौवालीस अध्ययनो का निर्देश समवायाग के चौवालीसवें समवाय में है। इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ प्रामाण्य की दृष्टि से विशेष प्रतिष्ठित होने के साथ ही विशेष प्राचीन भी है। इस ग्रन्थ पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी जिससे इसकी प्रतिष्ठा व प्रामाणिकता में विशेष वृद्धि होती है।

सद्भाग्य से ऋषिभाषित ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। यह आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसमें जैन सम्प्रदाय के न होने पर भी जैन परम्परा द्वारा मान्य अनेक महापुरुषो के नामो का उनके वचनो के साथ निर्देश किया गया है। जिस प्रकार इस ग्रन्थ में भगवान् वर्धमान-महावीर एव भगवान् पार्श्व के नाम का उल्लेख 'अर्हत् ऋषि' विशेषण के साथ किया गया है उसी प्रकार इसमें याज्ञवल्क्य, बुद्ध, मखलिपुत्त आदि के नामो के साथ भी 'अर्हत् ऋषि' विशेषण

1 स्थान १०, सूत्र ७५५

लगाया गया है।[1] यही कारण है कि सूत्रकृताग की पूर्वोक्त गाथाओ में बताया गया है कि ये महापुरुष सिद्धिप्राप्त है।

ऋषिभाषित में जिन अर्हद्रूप ऋषियो का उल्लेख है उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं —

(१) असित देवल, (२) अगरिसि—अगिरस—भारद्वाज, (३) महाकश्यप, (४) मखलिपुत्त, (५) जण्णवक्क—याज्ञवल्क्य, (६) बाहुक, (७) मधुरायग—माथुरायण, (८) सोरियायण, (९) वरिसव कण्ह, (१०) आरियायण, (११) गाथापतिपुत्र तरुण, (१२) रामपुत्र, (१३) हरिगिरि, (१४) मातग, (१५) वायु, (१६) पिंग माहणपरिव्वायअ—ब्राह्मणपरिव्राजक, (१७) अरुण महासाल, (१८) तारायण, (१९) सातिपुत्र—शाक्यपुत्र बुद्ध, (२०) दीवायण—द्वैपायन, (२१) सोम, (२२) यम, (२३) वरुण, (२४) वैश्रमण।

इनमे से असित, मखलिपुत्त, जण्णवक्क, बाहुक, मातग, वायु, सातिपुत्र बुद्ध, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण व दीवायण—इन नामो के विषय मे थोडा-बहुत वर्णन उपलब्ध होता है। असित, बाहुक, द्वैपायन, मातग व वायु के नाम महाभारत आदि वैदिक ग्रन्थो में मिलते हैं तथा उनमे इनका कुछ वृत्तान्त भी आता है। मखलिपुत्त श्रमणपरम्परा के इतिहास में गोशालक के नाम से प्रसिद्ध है। इसे जैन आगमो व बौद्ध पिटको मे मखलिपुत्त गोसाल कहा गया है। जण्णवक्क याज्ञवल्क्य ऋषि का नाम है जो विशेषत बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रसिद्ध है। सातिपुत्त बुद्ध शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध का नाम है।

प्राचीन व अर्वाचीन अनेक जैन ग्रन्थो में मखलिपुत्र गोशालक की खूब हँसी उडाई गई है। शाक्यमुनि बुद्ध का भी पर्याप्त परिहास किया गया है। इनमें जैनश्रुत के अतिरिक्त अन्य समस्त शास्त्रो को मिथ्या कहा गया है। जिनदेव के अतिरिक्त अन्य समस्त देवो को कुदेव तथा जैनमुनि के अतिरिक्त अन्य समस्त मुनियो को कुगुरु कहा गया है। जबकि ऋषिभाषित का सकलन करनेवालो ने जैनसम्प्रदाय के लिंग तथा कर्मकाण्ड से रहित मखलिपुत्र, बुद्ध, याज्ञवल्क्य आदि को 'अर्हत्' कहा है तथा उनके वचनो का सकलन किया है। यही नही, इस ग्रन्थ को आगमकोटि का माना है। तात्पर्य यह है कि जिनकी दृष्टि सम्यक् है उनके कैसे भी सरल वचन सम्यक्श्रुतरूप है तथा जिनकी दृष्टि शम सवेगादि गुणो से रहित है उनके भाषा, काव्य, रस व गुण की दृष्टि से श्रेष्ठतम वचन भी मिथ्याश्रुतरूप हैं। वेद, महाभारत आदि ग्रन्थो को मिथ्याश्रुतरूप मानने वाले आचार्यों

---

१ अध्ययन २९ व ३१।

चार वेद, कपिल-दर्शन, महाभारत, रामायण, वैशेषिक-शास्त्र, बुद्ध-वचन, व्याकरण-शास्त्र, नाटक तथा समस्त कलाएँ अर्थात् बहत्तर कलाएँ मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत एवं सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत हैं। अथवा सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति में निमित्तरूप होने के कारण ये सब मिथ्यादृष्टि के लिये भी सम्यक्श्रुत हैं।

नन्दिसूत्रकार के इस कथन में ऐसा कहीं नहीं बताया गया है कि अमुक शास्त्र अपने आप ही सम्यक् हैं अथवा अमुक शास्त्र अपने आप ही मिथ्या हैं। सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से ही शास्त्रों को सम्यक् एवं मिथ्या कहा गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी प्रकारान्तर से इसी बात का समर्थन किया है।

आचार्य हरिभद्र के लगभग दो सौ वर्ष बाद होने वाले शीलांकाचार्य ने अपनी आचारांग-वृत्ति में जैनाभिमत क्रियाकाण्ड की समभावपूर्वक साधना करने की सूचना देते हुए लिखा है कि चाहे कोई मुनि दो वस्त्रधारी हो, तीन वस्त्रधारी हो, एक वस्त्रधारी हो अथवा एक भी वस्त्र न रखता हो अर्थात् अचेलक हो किन्तु जो एक-दूसरे की अवहेलना नहीं करते वे सब भगवान् की आज्ञा में विचरते हैं। संहनन, धृति आदि कारणों से जो भिन्न-भिन्न कल्पवाले हैं—भिन्न-भिन्न बाह्य आचार वाले हैं किन्तु एक-दूसरे का अपमान नहीं करते, न अपने को हीन ही मानते हैं वे सब आत्मार्थी जिन भगवान् की आज्ञानुसार राग-द्वेषादिक की परिणति का विनाश करने का यथाविधि प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार का विचार रखने व इसी प्रकार परस्पर सविनय व्यवहार करने का नाम ही सम्यक्त्व अथवा सम्यक्त्व का अभिज्ञान है।[1]

---

१ एतद्विषयक मूलपाठ व वृत्ति इस प्रकार है :—

मूलपाठ

'जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्त (समत्त) एव समभिजाणिज्जा"

—आचारांग, अ० ६, उ० ३, सू १८[illegible]

वृत्ति

"यथा—येन प्रकारेण 'इदम्' इति यदुक्तम्, वक्ष्यमाणं च—एतद् भगवता वीरवर्धमानस्वामिना प्रकर्षेण आदौ वा वेदितम्—प्रवेदितम्—इति। उपकरण-लाघवम् आहारलाघवं वा अभिसमेत्य—ज्ञात्वा कथम्? सर्वतः इति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतश्च। द्रव्यतः आहार-उपकरणादौ, क्षेत्रतः सर्वत्र ग्रामादौ, कालतः अहनि रात्रौ वा दुर्भिक्षादौ वा सर्वात्मना भावतः कृत्रिमकल्काद्यभावेन। तथा सम्यक्त्वम्—इति प्रशस्तम् शोभनम् एकम् संगतं वा तत्त्वम्, सम्यक्त्वम्,

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी प्रणीत द्वादशांग गणिपिटक चतुर्दशपूर्वधर यावत् दशपूर्वधर के लिए सम्यक्श्रुतरूप है। इसके नीचे के किसी भी अधिकारी के लिए वह सम्यक्श्रुत हो भी सकता है और नहीं भी। अधिकारी के सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होने पर उसके लिए वह सम्यक्श्रुत होता है व अधिकारी के मिथ्यादृष्टि होने पर उसके लिए वह मिथ्याश्रुत होता है।

नन्दिसूत्रकार के कथनानुसार अज्ञानियों अर्थात् मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रणीत वेद, महाभारत, रामायण, कपिलवचन, बुद्धवचन आदि शास्त्र मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुतरूप व सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुतरूप हैं। इन शास्त्रों में भी कई प्रसंग ऐसे आते हैं जिन्हें सोचने-समझने से कभी-कभी मिथ्यादृष्टि भी अपना दुराग्रह छोड़ कर सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

नन्दिसूत्रकार के सम्यक्श्रुतसम्बन्धी उपर्युक्त कथन में पढ़ने वाले, सुनने वाले अथवा समझने वाले की विशेषदृष्टि पर विशेष भार दिया गया है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होता है उसके लिए प्रत्येक शास्त्र सम्यक् होता है। इससे विपरीत दृष्टि वाले के लिए प्रत्येक शास्त्र मिथ्या होता है। दूध साँप भी पीता है व सज्जन भी, किन्तु अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उसका परिणाम विभिन्न होता है। साँप के शरीर में वह दूध विष बनता है जब कि सज्जन के शरीर में वही दूध अमृत बनता है। यही बात शास्त्रों के लिए भी है।

सम्यग्दृष्टि का अर्थ जैन एवं मिथ्यादृष्टि का अर्थ अजैन नहीं है। जिसके चित्त में शम, संवेग, निर्वेद, करुणा व आस्तिक्य—इन पाँच वृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ हो व आचरण भी तदनुसार हो वह सम्यग्दृष्टि है। जिसके चित्त में इनमें से एक भी वृत्ति का प्रादुर्भाव न हुआ हो वह मिथ्यादृष्टि है। यह बात पारमार्थिक दृष्टि से जैनप्रवचन-सम्मत है।

तदेवभूत सम्यक्त्वमेव समत्वमेव वा समभिजानीयात—सम्यग् आभिमुख्येन जानीयात—परिच्छिन्द्यात्। तथाहि—अचेल अपि एकचेलआदिक नावमन्यते। यत उक्तम्—

जो वि दुवत्थ-तिवत्थो एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं सव्वेऽवि य ते जिणाणाए॥
जे खलु विसरिसकप्पा संघयणधिइयादिकारणं पप्प।
णऽवमन्नइ ण य हीणं अप्पाणं मन्नइ तेहिं॥
सव्वेऽवि जिणाणाए जहाविहिं कम्मखवणअट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु सम्म अभिजाणइ एवं॥"

—आचारांग-वृत्ति, पृ० २२२,

हैं—अपौरुषेय हैं अत॰ उनमें प्रयुक्त शब्दो का अर्थ अथवा निर्वचन लौकिक रीति से लौकिक शब्दो द्वारा मनुष्य कैसे कर सकता है ? इस प्रकार की वेद-रक्षको की मनोवृत्ति होने के कारण भी सभवत॰ यास्क इस कार्य को सम्पूर्णतया न कर सके हो। इस निरुक्त के अतिरिक्त वेदो के शब्दो को तत्कालीन अर्थ-सन्दर्भ में समझने का कोई भी साधन न पहले था और न अभी है। सायण नामक विद्वान् ने वेदो पर जो भाष्य लिखा है वह वैदिक शब्दो को तत्कालीन वातावरण एव सदभ की दृष्टि से समझाने में असमर्थ है। ये अर्वाचीन भाष्यकार हैं। इन्होने अपनी अर्वाचीन परम्परा के अनुसार वेदो की ऋचाओ का मुख्यत यज्ञपरक अर्थ किया है। यह अर्थ ऐतिहासिक तथा प्राचीन वेदकालीन समाज की दृष्टि से ठीक है या नही, इसका वर्तमान सशोधको को विश्वास नही होता। अत यह कहा जा सकता है कि आज तक वेदो का ठीक-ठीक अर्थ हमारे सामने न आ सका। स्वामी दयानन्द ने वेदो पर एक नया भाष्य लिखा है किन्तु वह भी वेदकालीन प्राचीन वातावरण व सामाजिक परिस्थिति को पूर्णतया समझाने में असमर्थ ही है।

वेदाभ्यासी स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने अपनी 'ओरायन' नामक पुस्तक में लिखा हैं कि अवेस्ता को कुछ कथाएँ वदों के समझने में सहायक होती हैं। कुछ सशोधक विद्वान् वेदो को ठीक ठीक समझने के लिए जद, अवेस्ता-गाथा तथा वेदकालीन अन्य साहित्य के अभ्यासपूर्ण मनन, चिन्तन आदि पर भार देते है। दुर्भाग्यवश कुछ धर्मान्ध राजाओ ने जद, अवेस्ता-गाथा आदि साहित्य को ही नष्ट कर डाला हैं। वर्तमान में जो कुछ भी थोडा-बहुत साहित्य उपलब्ध है उसे सही-सही अर्थ में समझने की परम्परा अवेस्तागाथा को प्रमाणरूप मानने वाले पारसी अध्वर्यु के पास भी नही है और न उस शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित ही विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में वेदो के अध्ययन में रत किसी भी सशोधक विद्वान् को निराशा हाना स्वाभाविक ही है।

प्राचीन काल में शास्त्र के प्रामाण्य के लिए अपौरुपेयता एव अलौकिकता आवश्यक मानी जाती। जो शास्त्र नया होता व किसी पुरुष ने उसे अमुक समय बनाया होता उसकी प्रतिष्ठा अलौकिक तथा अपौरुषेय शास्त्र की अपेक्षा कम होती। सम्भवत इसीलिए वेदो को अलौकिक एव अपौरुषेय मानने की प्रथा चालू हुई हो। जब चिन्तन बढने लगा, तर्कशक्ति का प्रयोग अधिक होने लगा एव हिंसा, मद्यपान आदि से जनता की बरबादी बढ़ने लगी तब वैदिक अनुष्ठानो एव वेदो के प्रामाण्य पर भारी प्रहार होने लगे। यहाँ तक कि उपनिषद् के चिन्तको एव साख्यदर्शन के प्रणेता कपिल मुनि ने इसका भारी विरोध किया एव वेदोक्त

हिंसक अनुष्ठानों का अप्रामाण्य सिद्ध किया। उसे प्रकाश का मार्ग न कहते हुए धूम का मार्ग कहा। गीता में भगवान् कृष्ण ने 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' से प्रारम्भ कर 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'[1] तक के वचनों में इसी का समर्थन किया। द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय व तपोमय यज्ञ की महिमा बताई एवं समाज को आत्मशोधक यज्ञों की ओर मोड़ने का भरसक प्रयत्न किया। अनासक्त कर्म करते रहने की सर्वोत्तम प्रेरणा देकर भारतीय त्यागी वर्ग को अपूर्व शिक्षा दी। जैन एवं बौद्ध चिन्तकों ने तप, शम, दम इत्यादि की साधना कर हिंसा-विधायक वेदों के प्रामाण्य का ही विरोध किया एवं उनकी अपौरुषेयता तथा नित्यता का उन्मूलन कर उनके प्रामाण्य को सन्देहयुक्त बना दिया।

प्रामाण्य की विचारधारा में क्रान्ति के बीज बोने वाले जैन एवं बौद्ध चिंतकों ने कहा कि शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान स्वतन्त्र नहीं है—स्वयंभू नहीं है अपितु वक्ता की वचनरूप अथवा विचारणारूप क्रिया के साथ सम्बद्ध है। लेखक अथवा वक्ता यदि निस्पृह है, करुणापूर्ण है, शम-दमयुक्त है, समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझने वाला है, जितेन्द्रिय है, लोगों के आध्यात्मिक कष्टों को दूर करने में समर्थ है, असाधारण प्रतिभासम्पन्न विचारधारा वाला है तो तत्प्रणीत शास्त्र अथवा वचन भी सर्वजनहितकर होता है। उसके उपर्युक्त गुणों से विपरीत गुणयुक्त होने पर तत्प्रणीत शास्त्र अथवा वचन सर्वजनहितकर नहीं होता। अतएव शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान का प्रामाण्य तदाधारभूत पुरुष पर अवलम्बित है। जो शास्त्र अथवा वचन अनादि माने जाते हैं, नित्य माने जाते हैं अथवा अपौरुषेय माने जाते हैं उनकी भी उपर्युक्त ढंग से परीक्षा किए बिना उनके प्रामाण्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैनों ने यह भी स्वीकार किया कि शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान अनादि, नित्य अथवा अपौरुषेय अवश्य हो सकता है किन्तु वह प्रवाह—परम्परा की अपेक्षा से, न कि किसी विशेष शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान की अपेक्षा से। प्रवाह की अपेक्षा से ज्ञान, वचन अथवा शास्त्र भले ही अनादि, अपौरुषेय अथवा नित्य हो किन्तु उसका प्रामाण्य केवल अनादिता पर निर्भर नहीं है। जिस शास्त्रविशेष का जिस व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध हो उस व्यक्ति की परीक्षा पर ही उस शास्त्र का प्रामाण्य निर्भर है। जैनों ने अपने देश में अवश्य ही इस प्रकार का एक नया विचार शुरू किया है, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा।

---

१ अध्याय २, श्लोक ४२-४५

गीतोपदेशक भगवान् कृष्ण ने व सांख्य दर्शन के प्रवर्तक क्रांतिकारी कपिल मुनि ने वेदो के हिंसामय अनुष्ठानो को हानिकारक बताते हुए लोगो को वेद विमुख होने के लिए प्रेरित किया। जिस युग में वेदों की प्रतिष्ठा दृढमूल थी एव समाज उनके प्रति इतना अधिक आसक्त था कि उनसे जरा भी अलग होना नहीं चाहता था उस युग में परमात्मा कृष्ण एव आत्मार्थी कपिलमुनि ने वेदो की प्रतिष्ठा पर सीधा आघात करने के बजाय अनासक्त कर्म करने की प्रेरणा देकर स्वर्गकामनामूलक यज्ञो पर कुठाराघात किया एव धर्म के नाम पर चलने वाले हिंसामय व मद्यप्रचार यज्ञादिक कर्मकाण्डो के मार्ग को धममार्ग कहा। इतना ही नहीं, उपनिषद्कारो ने तो यज्ञ कराने वाले ऋत्विजो को डाकुओ एव लुटेरो की उपमा दी व लोगो को उनका विश्वास न करने की सलाह दी। फिर भी इनमें से किसी ने वेदो के निरपेक्ष—सर्वथा अप्रामाण्य की घोषणा की हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नही है।

धीरे-धीरे जब वैदिक पुरोहितो का जोर कम पडने लगा, क्षत्रियो में भी क्रान्तिकारक पुरुष पैदा होने लगे, गुरुपद पर क्षत्रिय आने लगे एव समाज की श्रद्धा वेदो से हटने लगी तब जैनो एव बौद्धो ने भारी जोखिम उठा कर भी वेदो के अप्रामाण्य की घोषणा की।[1] वेदो के अप्रामाण्य की घोषणा करने के साथ ही जैनो ने ग्रन्थप्रणेताओ की परिस्थिति, जीवनदृष्टि एव अन्तवृत्ति को प्रामाण्य का हेतु मानने की अर्थात् वक्ता अथवा ज्ञाता के आन्तरिक गुण-दोषो के आधार पर उसके वचन अथवा ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का निश्चय करने की नयी प्रणाली प्रारम्भ की। यह प्रणाली स्वत प्रामाण्य मानने वालो की पुरानी चली आने वाली परम्परा के लिए सर्वथा नयी थी। वहाँ श्रुत के विषय में जो अनादित्व एव नित्यत्व की स्थापना की गई है वह स्वत प्रामाण्य मानने वालो की प्राचीन परम्परा को लक्ष्य में रख कर की गई है। साथ ही श्रुत का जो आदित्व, अनित्यत्व अथवा पौरुषेयत्व स्वीकार किया गया है वह लोगो की परीक्षणशक्ति, विवेकशक्ति तथा सशोधनशक्ति को जाग्रत करने की दृष्टि से ही, जिससे कोई आत्मार्थी 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाण' यो कह कर पिता के कुए में न गिरे अपितु सावधान होकर पैर आगे बढाए।

अनेकान्तवाद, विभज्यवाद अथवा स्याद्वाद की समन्वय-दृष्टि के अनुसार जैन चल सकने योग्य प्राचीन विचारधारा को ठेस पहुँचाना नही चाहते थे। वे यह भी नहीं चाहते कि प्राचीन विचारसरणी के नाम पर वहम, अज्ञान अथवा जडता का पोषण हो। इसीलिए वे पहले से ही प्राचीन विचारधारा को सुरक्षित रखते हुए

[1] देखिये—महावीर-वाणी की प्रस्तावना।

क्रान्ति के नये विचार प्रस्तुत करने में लगे हुए हैं। यही कारण है कि उन्होने श्रुत को अपेक्षाभेद से नित्य व अनित्य दोनो माना है।

श्रुत सादि अर्थात् आदियुक्त है, इसका तात्पय यह है कि शास्त्र में नित्य नई नई शोधो का समावेश होता ही रहता है। श्रुत अनादि अर्थात् आदिरहित है, इसका तात्पय यह है कि नई-नई शोधो का प्रवाह निरन्तर चलता ही रहता है। यह प्रवाह कब व कहाँ से शुरू हुआ, इसके विषय में कोई निश्चित कल्पना नही की जा सकती। इसीलिए उसे अनादि अथवा नित्य कहना ही उचित है। इस नित्य का यह अर्थ नही कि अब इसमें कोई नई शोध हो ही नही सकती। इसीलिए शास्त्रकारो ने श्रुत को नित्य अथवा अनादि के साथ ही साथ अनित्य अथवा सादि भी कहा है। इस प्रकार गहराई से विचार करने पर मालूम होगा कि कोई भी शास्त्र किसी भी समय अक्षरश वैसा का वैसा ही नही रहता। उसमें परिवतन होते ही रहते है। नये-नये सशोधन सामने आते ही रहते हैं। वह नित्य नया-नया होता रहता है।

यह कहा जा चुका है कि हमारे देश के प्राचीनतम शास्त्र वेद और अवेस्ता है। इसके बाद ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् व जैनसूत्र तथा बौद्धपिटक हैं। इनके बाद हैं दर्शनशास्त्र। इनमे सशोधन का प्रवाह सतत चला आता है। अवेस्ता अथवा वेद तथा ब्राह्मणो के काल में जो अनुष्ठान-परम्परा स्वर्गप्राप्ति का साधन मानी जाती थी वह उपनिषद् आदि के समय मे परिवर्तित होने लगी व धीरे-धीरे निन्दनीय मानी जाने लगी।

उपनिषदो के विचारक कहने लगे कि ये यज्ञ टूटी हुई नाव के समान हैं। जो लोग इन यज्ञो पर विश्वास रखते हैं वे बार बार जन्म मरण प्राप्त करते रहते हैं।[1] इन यज्ञो पर विश्वास रखाने वाले व रखने वाले लोगो की स्थिति अधे के नेतृत्व में चलने वाले अधो के समान होती है। वे अविद्या में निमग्न रहते हैं, अपने-आप को पडित समझते हैं एव जन्म-मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं।[2]

ये विचारक इतना ही कहकर चुप न हुए। उन्होने यहाँ तक कहा कि जिस

---

१ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति।

—मुडकोपनिषद् १ २ ७।

२ अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीरा पण्डित मन्यमाना।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धा॥

—कठोपनिषद् १ २ ५।

प्रकार निषाद व लुटेरे धनिकों को जगल में ले जाकर पकडकर गड्ढे मे फेंक देते हैं एव उनका धन लूट लेते हैं उसी प्रकार ऋत्विज् व पुरोहित यजमानो को गड्ढे मे फेंक कर (यज्ञादि द्वारा) उनका धन लूट लेते हैं।[1] इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि शास्त्रो का विकास निरन्तर होता आया है। जो पद्धतियाँ पुरानी हो गई एव नये युग व नये सशोधनो के अनुकूल न रही वे मिटती गई तथा उनके बजाय नवयुगानुकूल नवीन पद्धतियाँ व नये विचार आते गये।

जैन परम्परा में भी यह प्रसिद्ध है कि अर्हत् पार्श्व के समय में सवस्त्र श्रमणो की परम्परा थी एव चातुर्याम धर्म था। भगवान् महावीर के समय में नया सशोधन हुआ एव अवस्त्र श्रमणों की परम्परा को भी स्थान मिला। साथ ही साथ चार के बजाय पाच याम—पचयाम की प्रथा प्रारम्भ हुई। इस प्रकार श्रुत अर्थात् शास्त्र परिवर्तन की अपेक्षा से सादि भी है तथा प्रवाह की अपेक्षा से अनादि भी है।

इस प्रकार जैसे अमुक दृष्टि से वेद नित्य हैं, अविनाशी हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं, अपौरुषेय हैं वैसे ही जैनशास्त्र भी अमुक अपेक्षा से नित्य हैं, अनादि है, अनन्त हैं एव अपौरुषेय हैं।

बौद्धों ने तो अपने पिटको को आदि-अनादि की कोई चर्चा ही नही की। भगवान् बुद्ध ने लोगो से स्पष्ट कहा कि यदि आपको ऐसा मालूम हो कि इन शास्त्रो से हमारा हित होता है तो इन्हें मानना अन्यथा इनका आग्रह मत रखना।

गमिक-अगमिक, अगप्रविष्ट-अनगप्रविष्ट व कालिक-उत्कालिक श्रुत

श्रुत की शैली की दृष्टि से गमिक व अगमिक सूत्रो में विशेषता है। श्रुत के रचयिता के भेद से अगप्रविष्ट व अनगप्रविष्ट भेद प्रतिष्ठित हैं। श्रुत के स्वाध्याय के काल की अपेक्षा से कालिक व उत्कालिक सूत्रो में अन्तर है।

गमिकश्रुत का स्वरूप समझाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि दृष्टिवाद नामक शास्त्र गमिकश्रुतरूप है एव समस्त कालिकश्रुत अगमिकश्रुतरूप हैं।

गमिक अर्थात् 'गम' युक्त। सूत्रकार ने 'गम' का स्वरूप नही बताया है। चूर्णिकार एव वृत्तिकार 'गम' का स्वरूप बताते हुए कहते हैं —"इह आदि-मध्य अवसानेषु किञ्चित् विशेषत भूयोभूय तस्यैव सूत्रस्य उच्चारण गम। तत्र आदौ 'सुय मे आउसं तेण भगवया एवमक्खाय।' "इह खलु'

---

१ यथाह वा इद निषादा वा सेलगा वा पापकृतो वा वित्तवन्त पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव ते ऋत्विजो यजमान कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमेवविदो याजयन्ति।

—ऐतरेय ब्राह्मण, ८ ११।

(बावीस परीसहा समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइया) इत्यादि। एव मध्य-अवमानयो अपि यथासभव द्रष्टव्यम्। गमा अस्य विद्यन्ते इति गमिकम्" (नदिवृत्ति, पृ० २०३, सू० ८४)।

गम का अर्थ है प्रारभ मे, मध्य मे एव अन्त मे किंचित् परिवर्तन के साथ पुन -पुन उसी सूत्र का उच्चारण। जिस श्रुत मे 'गम' हो अर्थात् इस प्रकार के सदृश—समान पाठ हो वह गमिकश्रुत है।

विशेषावश्यकभाष्य में 'गम' शब्द के दो अर्थ किये हैं —

> भग-गणियाइ गमिय ज सरिसगम च कारणवसेण।
> गाहाइ अगमिय खलु कालियसुय दिट्ठिवाए वा ॥५४९॥

इस गाथा की वृत्ति में बताया गया है कि विविध प्रकार के भगो—विकल्पों का नाम 'गम' है। अथवा गणित—विशेष प्रकार की गणित की चर्चा का नाम 'गम' है। इस प्रकार के 'गम' जिस सूत्र मे हो वह गमिकश्रुत कहलाता है। अथवा सदृश पाठो को 'गम' कहते है। जिस सूत्र मे कारणवशात् सदश पाठ आते हो वह गमिक कहलाता है।[1] समवायाग की वृत्ति में अर्थपरिच्छेदा को 'गम' कहा गया है। नन्दिसूत्र की वृत्ति में भी 'गम' का अथ अर्थपरिच्छेद ही बताया है। श्रुत अर्थात् सूत्र के प्रत्येक वाक्य में से मेधावी शिष्य जो विशिष्ट अथ प्राप्त करते हैं उसे अथपरिच्छेद कहते है। इस प्रकार जिस श्रुत मे 'गम' आते हो उसका नाम अगमिकश्रुत है।

उदाहरण के तौर पर वर्तमान आचाराग आदि एकादशागरूप कालिक सूत्र[2] अगमिकश्रुतान्तगत हैं[3] जबकि बारहवा अग दृष्टिवाद (लुप्त) गमिकश्रुत है।

सारा श्रुत एक समान है, समानविषयो की चर्चा वाला है एव उसके प्रणेता आत्मार्थी त्यागी मुनि हैं। ऐसा होते हुए भी अमुक सूत्र अगरूप हैं एव अमुक अगबाह्य, ऐसा क्यो? 'अग' शब्द का अथ है मुख्य एव 'अगबाह्य' का अथ है गौण। जिस प्रकार वेदरूप पुरुष के छन्द, ज्योतिष आदि छ अगो की कल्पना अति प्राचीन है उसी प्रकार श्रुत अर्थात् गणिपिटकरूप पुरुष के द्वादशागो की कल्पना भी प्राचीन है। पुरुष के बारह अग कौन-कौन-से हैं, इसका निर्देश करते हुए कहा गया है —

---

१ गमा सदृशपाठा ते च कारणवशेन यत्र बहवो भवन्ति तद् गमिकम्।

२ जो दिवस एव रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहररूप काल में पढे जाते हैं वे कालिक कहलाते हैं।

३ तच्च प्राय आचारादि कालिकश्रुतम्, असदृशपाठात्मकत्वात्।

—मलयगिरिकृत नदिवृत्ति-

पायदुग जघा उरू गायदुगद्ध तु दो य बाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो बारसअगो सुयविसिट्ठो॥

—नदिवृत्ति, पृ० २०२

इस गाथा का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं — इह पुरुषस्य द्वादश अङ्गानि भवन्ति तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जङ्घे, द्वे उरुणी, द्वे गात्रार्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा, शिरश्च, एव श्रुतरूपस्य अपि परमपुरुषस्य आचारादीनि द्वादशअङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि श्रुतपुरुषस्य अगेषु प्रविष्टम्—अगभावेन व्यवस्थितमित्यर्थ। यत् पुनरेतस्यैव द्वादशाङ्गात्मकस्य श्रुतपुरुषस्य व्यतिरेकेण स्थितम्—अगबाह्यत्वेन व्यवस्थित तद् अनङ्गप्रविष्टम्।'

इस प्रकार वृत्तिकार के कथनानुसार श्रुतरूप परमपुरुष के आचारादि बारह अगो को निम्न रूप से समझा जा सकता है —

आचार व सूत्रकृत श्रुतपुरुष के दो पैर हैं, स्थान व समवाय दो जघाएँ हैं, व्याख्याप्रज्ञप्ति ज्ञाताधर्मकथा दो घुटने हैं, उपासक व अतकृत दो गात्रार्ध हैं (शरीर का ऊपरी एव नीचे का भाग अथवा अगला (पेट आदि) एव पिछला (पीठ आदि) भाग गात्रार्ध कहलाता है), अनुत्तरौपपातिक व प्रश्नव्याकरण दो बाहुएँ हैं, विपाकसूत्र ग्रीवा—गर्दन है तथा दृष्टिवाद मस्तक है।

तात्पर्य यह है कि आचारादि बारह अग जैनश्रुत में प्रधान हैं, विशेष प्रतिष्ठित हैं एव विशेष प्रामाण्ययुक्त हैं तथा मूल उपदेष्टा के आशय के अधिक निकट हैं जबकि अनग अर्थात् अगबाह्य सूत्र अगो की अपेक्षा गौण हैं, कम प्रतिष्ठा वाले हैं एव अल्प प्रामाण्ययुक्त हैं तथा सूत्र उपदेष्टा के प्रधान आशय के कम निकट हैं।

विशेषावश्यकभाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अग-अनग की विशेषता बताते हुए कहते हैं —

गणहर-थेरकय वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुव-चलविसेसओ वा अगाणगेसु नाणत्तं॥५५०॥

अगश्रुत का सीधा सम्बन्ध गणधरो से है जबकि अनग—अगबाह्यश्रुत का सीधा सम्बन्ध स्थविरो से है। अथवा गणधरो के पूछने पर तीर्थंकर ने जो बताया वह अगश्रुत है एव बिना पूछे अपने-आप बताया हुआ श्रुत अगबाह्य है। अथवा जो श्रुत सदा एकरूप है वह अगश्रुत है तथा जो श्रुत परिवर्तित अर्थात् न्यूनाधिक होता रहता है वह अगबाह्यश्रुत है। इस प्रकार स्वयं भाष्यकार ने भी अगबाह्य की अपेक्षा अगश्रुत की प्रतिष्ठा कुछ विशेष ही बताई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय श्रमणसघ में किस शास्त्र को विशेष महत्त्व दिया जाय व किस शास्त्र को विशेष महत्त्व न दिया जाय, यह प्रश्न उठा तब उसके समाधान के लिए समन्वयप्रिय आगमिक भाष्यकार ने एक साथ उपर्युक्त तीन विशेषताएँ बताकर समस्त शास्त्रो की एव उन शास्त्रो को मानने वालो की प्रतिष्ठा सुरक्षित रखी। ऐसा होते हुए भी अग एव अगबाह्य का भेद तो बना ही रहा एव अगबाह्य सूत्रो की अपेक्षा अगो की प्रतिष्ठा भी विशेष ही रही।

वर्तमान में जो अग एव उपागरूप भेद प्रचलित है वह अति प्राचीन नही है। यद्यपि 'उपाग' शब्द चूर्णियो एव तत्त्वार्थभाष्य जितना प्राचीन है तथापि अमुक अग का अमुक उपाग है, ऐसा भेद उतना प्राचीन प्रतीत नही होता। यदि अगो-पागरूप भेद विशेष प्राचीन होता तो नदीसूत्र में इसका उल्लेख अवश्य मिलता। इससे स्पष्ट है कि नन्दी के समय में श्रुत का अग व उपागरूप भेद करने की प्रथा न थी अपितु अग व अनग अर्थात् अगप्रविष्ट व अगबाह्यरूप भेद करने की परि-पाटी थी। इतना ही नही, नदीसूत्रकार ने तो वर्तमान में प्रचलित समस्त उपागो को 'प्रकीर्णक' शब्द से भी सम्बोधित किया है।

उपागो के वर्तमान क्रम में पहले औपपातिक आता है, बाद में राजप्रश्नीय आदि, जबकि तत्त्वार्थवृत्तिकार हरिभद्रसूरि तथा सिद्धसेनसूरि के उल्लेखानुसार (अ० १, सू० २०) पहले राजप्रसेनकीय (वर्तमान राजप्रश्नीय) व बाद में औप-पातिक आदि आते है। इससे प्रतीत होता है कि इस समय तक उपागो का वर्त-मान क्रम निश्चित नहीं हुआ था।

नदीसूत्र में निर्दिष्ट अगबाह्य कालिक एव उत्कालिक शास्त्रो में वर्तमान में प्रचलित उपागरूप समस्त ग्रन्थो का समावेश किया गया है। कुछ उपाग कालिक श्रुतान्तर्गत है व कुछ उत्कालिक श्रुतान्तर्गत।

उपागो के क्रम के विषय में विचार करने पर मालूम होता है कि यह क्रम अगो के क्रम से सम्बद्ध नही है। जो विषय अग में हो उसी से सम्बन्धित विषय उसके उपाग में भी हो तो उस अग और उपाग का पारस्परिक सम्बन्ध बैठ सकता है। किन्तु बात ऐसी नही है। षष्ठ अग ज्ञातधर्मकथा का उपाग जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति कहा जाता है एव सप्तम अग उपासकदशा का उपाग चन्द्रप्रज्ञप्ति कहा जाता है जबकि इनके विषयो में कोई समानता अथवा सामजस्य नही है। यही बात अन्य अगोपागो के विषय में भी कही जा सकती है। इस प्रकार बारह अगो का उनके उपागो के साथ कोई विषयैक्य प्रतीत नही होता।

एक बात यह है कि उपाग व अगबाह्य इन दोनो शब्दो के अर्थ में बडा अन्तर अगबाह्य शब्द से ऐसा आभास होता है कि इन सूत्रो का सम्बन्ध अगो के

साथ नही है अथवा बहुत कम है जब कि उपाग शब्द अगो के साथ सीधा सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि अगबाह्यो की प्रतिष्ठा बढाने के लिये अथवा अग के समकक्ष उनके प्रामाण्यस्थापन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए किसी गीतार्थ ने इन्हें उपाग नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ किया होगा।

दूसरी बात यह है कि अगो के साथ सम्बन्ध रखने वाले दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि सूत्रो को उपागो में न रख कर औपपातिक से उपागो की शुरुआत करने का कोई कारण भी नही दिया गया है। सम्भव है कि दशवैकालिक आदि विशेष प्राचीन होने के कारण अगबाह्य होते हुए भी प्रामाण्ययुक्त रहे हो एव औपपातिक आदि के विषय में एतद्विषयक कोई विवाद खडा हुआ हो और इसीलिए इन्हें उपाग के रूप में माना जाने लगा हो।

एक बात यह भी है कि ये औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना आदि ग्रन्थ देवर्धिगणिक्षमाश्रमण के सम्मुख थे ही और इसलिए उन्होंने अगसूत्रों में जहाँ-तहाँ 'जहा उववाइमे, जहा पन्नवणामे, जहा जीवाभिगमे' इत्यादि पाठ दिये है। ऐसा होते हुए भी 'जहा उववाइमउवागे, जहा पन्नवणाउवागे' इस प्रकार उपाग' शब्दयुक्त कोई पाठ नही मिलता। इससे अनुमान होता है कि कदाचित् देवर्धिगणिक्षमाश्रमण के बाद ही इन ग्रन्थो को उपाग कहने का प्रयत्न हुआ हो। श्रुत का यह सामान्य परिचय प्रस्तुत प्रयोजन के लिए पर्याप्त है।



प्रकरण २

अंग ग्रन्थों का बाह्य परिचय

आगमों की ग्रन्थबद्धता
अचेलक परम्परा में अंगविषयक उल्लेख
अंगों का बाह्य रूप
नाम-निर्देश
आचारादि अंगों के नामों का अर्थ
अंगों का पद-परिमाण
पद का अर्थ
अंगों का क्रम
अंगों की शैली व भाषा
प्रकरणों का विषयनिर्देश
परम्परा का आधार
परमतों का उल्लेख
विषय-वैविध्य
जैन परम्परा का लक्ष्य

द्वितीय प्रकरण

अंग ग्रन्थों का बाह्य परिचय

सर्वप्रथम अगग्रथो के बाह्य तथा अतरग परिचय से क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्टीकरण आवश्यक है। अगो के नामो का अर्थ, अगो का पदपरिमाण अथवा श्लोकपरिमाण, अगो का क्रम, अगो की शैली तथा भाषा, प्रकरणो का विषय-निर्देश, विषयविवेचन की पद्धति, वाचनावैविध्य इत्यादि की समीक्षा बाह्य परिचय में रखी गई है। अगो में चर्चित स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्तसम्बन्धी तथ्य, उनकी विशेष समीक्षा, उनका पृथक्करण, तन्निष्पन्न ऐतिहासिक अनुसधान, तदन्तर्गत विशिष्ट शब्दों का विवेचन इत्यादि बातें अतरग परिचय में समाविष्ट हैं।

आगमो की ग्रन्थबद्धता :

जैनसघ की मुख्य दो परम्पराएँ हैं : अचेलक परम्परा व सचेलक परम्परा[1]। दोनो परम्पराएँ यह मानती हैं कि आगमो के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अखण्ड रूप में कायम न रही। दुष्काल आदि के कारण आगम अक्षरशः सुरक्षित न रखे जा सके। आगमो में वाचनाभेद—पाठभेद बराबर बढ़ते गये। सचेलक परम्परा द्वारा मान्य आगमो को जब पुस्तकारूढ किया गया तब श्रमणसघ ने एकत्र होकर जो माथुरी वाचना मान्य रखी वह ग्रन्थबद्ध की गई, साथ ही उपर्युक्त वाचनाभेद अथवा पाठभेद भी लिखे गये। अचेलक परम्परा के आचार्य धरसेन, यतिवृषभ, कुदकुद, भट्ट अकलक आदि ने इन पुस्तकारूढ आगमो अथवा इनसे पूर्व के उपलब्ध आगमो के आशय को ध्यान में रखते हुए नवीन साहित्य का सर्जन किया। आचार्य कुदकुदरचित साहित्य में आचारपाहुड, सुत्तपाहुड, स्थानपाहुड, समवायपाहुड आदि पाहुडान्त ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। इन पाहुडो के नाम सुनने से आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग आदि की स्मृति हो आती है। आचार्य कुदकुद ने उपर्युक्त पाहुडो की रचना इन अगों के आधार से की प्रतीत होती है। इसी प्रकार षट्खण्डागम, जयधवला, महाधवला आदि ग्रन्थ भी उन-उन आचार्यों ने आचाराग से लेकर दृष्टिवाद तक के आगमो के आधार से बनाये हैं। इनमें स्थान-स्थान पर परिकर्म आदि का निर्देश किया

---

१ यहाँ अचेलक शब्द दिगम्बरपरम्परा के लिए और सचेलक शब्द श्वेताम्बर-परम्परा के लिए प्रयुक्त है। ये ही प्राचीन शब्द हैं जिनसे इन दोनों परम्पराओ का प्राचीन काल में बोध होता था।

ने अथवा उनकी भाँति अचेलक परम्परा के अन्य किन्ही महानुभावो ने अग आदि सूत्रो पर वृत्तियाँ आदि लिखी हो जो उपलब्ध न हो। इस विषय में विशेष अनुसधान की आवश्यकता है।

सचेलक परम्परा में अगो की निर्युक्तियाँ, भाष्य, चूर्णियाँ, अवचूर्णियाँ, वृत्तियाँ, टवे आदि उपलब्ध हैं। इनसे अगों के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती है।

अगो का बाह्य रूप :

अगो के बाह्य रूप का प्रथम पहलू है अगो का श्लोकपरिमाण अथवा पद-परिमाण। ग्रन्थो की प्रतिलिपि करने वाले लेखक अपना पारिश्रमिक श्लोको की सख्या पर निर्धारित करते हैं। इसलिए वे अपने लिखे हुए ग्रन्थ के अन्त में 'ग्रन्थाग्र' शब्द द्वारा श्लोक-सख्या का निर्देश अवश्य कर देते हैं। अथवा कुछ प्राचीन ग्रन्थकार स्वयमेव अपने ग्रन्थ के अन्त में उसके श्लोक परिमाण का उल्लेख कर देते हैं। ग्रन्थ पूर्णतया सुरक्षित रहा है अथवा नही, वह किसी कारण से खण्डित तो नही हो गया है अथवा उसमें किसी प्रकार की वृद्धि तो नही हुई है—इत्यादि बातें जानने में यह प्रथा अति उपयोगी है। इससे लिपि-लेखकों को पारिश्रमिक देने में भी सरलता होती है। एक श्लोक बत्तीस अक्षरो का मान कर श्लोकसख्या बताई जाती है, फिर चाहे रचना गद्य में ही क्यों न हो। वर्तमान में उपलब्ध अगों के अन्त में स्वय ग्रन्थकारो ने कही भी श्लोकपरिमाण नही बताया है। अत यह मानना चाहिए कि यह सख्या किन्ही अन्य ग्रन्थप्रेमियो अथवा उनकी नकल करने वालो ने लिखी होगी।

अपने ग्रन्थ में कौन-कौन से विषय चर्चित हैं, इसका ज्ञान पाठक को प्रारम्भ में ही हो जाय, इस दृष्टि से प्राचीन ग्रन्थकार कुछ ग्रन्थो अथवा ग्रन्थगत प्रकरणो के प्रारम्भ में सग्रहणी गाथाएँ देते हैं किन्तु यह कहना कठिन है कि अगगत वैसी गाथाएँ खुद ग्रन्थकारों ने बनाई हैं अथवा अन्य किन्ही सग्राहको ने।

कुछ अगो की निर्युक्तियो में उनके कितने अध्ययन हैं एव उन अध्ययनो के क्या नाम हैं, यह भी बताया गया है। इनमें ग्रन्थ के विषय का निर्देश करने वाली कुछ सग्रहणी गाथाएँ भी उपलब्ध होती हैं।

समवायाग व नन्दीसूत्र में जहाँ आचाराग आदि का परिचय दिया हुआ है वहाँ अगो की सग्रहणियाँ अनेक हैं', ऐसा उल्लेख मिलता है। यह 'सग्रहणी' शब्द विषयनिर्देशक गाथाओं के अर्थ में विवक्षित हो तो यह मानना चाहिए कि जहाँ-जहाँ 'सग्रहणिया अनेक हैं' यह बताया गया है वहाँ-वहाँ उन-उन सूत्रो के विषय-निर्देश अनेक प्रकार के हैं, यही बताया गया है। अथवा इससे यह समझना

चाहिए कि आचारागादि का परिचय सक्षेप-विस्तार मे अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विषय-निर्देश भले ही भिन्न-भिन्न शब्दो द्वारा अथवा भिन्न भिन्न शैलियो द्वारा विविध ढग से किया गया हो किन्तु उसमे कोई मौलिक भेद नही है।

अचेलक व सचेलक दोनो परम्पराओ के ग्रन्थो मे जहाँ अगो का परिचय आता है वहाँ उनके विषय तथा पद-परिमाण या निर्देश करने वाले उल्लेख उपलब्ध होते है। अगो का ग्रन्थाग्र अर्थात् श्लोकपरिमाण कितना है, यह अब देखें। बृहट्टिप्पनिका नामक एक प्राचीन जैनग्रन्थसूची उपलब्ध है। यह आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व लिखी गई मालूम होती है। इसमें विविध विषय वाले अनेक ग्रन्थो की श्लोकसख्या बताई गई है, साथ ही लेखनसमय व ग्रन्थलेखक का भी निर्देश किया गया है। ग्रन्थ सवृत्तिक है अथवा नही, जैन है अथवा अजैन, ग्रन्थ पर अन्य कितनी वृत्तियाँ हैं, आदि बातें भी इसमें मिलती हैं। अगविषयक जो कुछ जानकारी इसमें दी गई है उसका कुछ उपयोगी साराश नीचे दिया जाता है[1] —

आचाराग—श्लोकसख्या २५२५, सूत्रकृताग—श्लोकसख्या २१००, स्थानाग—श्लोकसख्या ३६००, समवायाग—श्लोकसख्या १६६७, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति)—श्लोकसख्या १५७५२ (इकतालीस शतकयुक्त), ज्ञातधर्मकथा—श्लोकसख्या ५४००, उपासकदशा—श्लोकसख्या ८१२, अतकृद्दशा—श्लोकसख्या ८९९, अनुत्तरौपपातिकदशा—श्लोकसख्या १९२, प्रश्नव्याकरण—श्लोकसख्या १२५६, विपाकसूत्र—श्लोकसख्या १२१६, समस्त अगो की श्लोकसख्या ३५३३९।

नाम-निर्देश

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में केवल अगो के नामो का उल्लेख है। इसमें पाचवें अग का नाम 'भगवती' न देते हुए 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' दिया गया है। बारहवें अग का भी नामोल्लेख किया गया है।

अचेलक परम्पराभिमत पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति में अगो के जो नाम दिये हैं उनमें थोडा अन्तर है। इसमें ज्ञातधर्मकथा के बजाय ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा के बजाय उपासकाध्ययन, अतकृद्दशा के बजाय अतकृद्दशम् एव अनुत्तरौपपातिकदशा के बजाय अनुत्तरोपपादिकदशम् नाम है। दृष्टिवाद के भेदरूप पाँच नाम बताये हैं परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत एव चूलिका। इनमें से पूर्वगत के भेदरूप चौदह नाम इस प्रकार हैं १ उत्पादपूर्व, २ अग्रायणीय, ३. वीर्यानुप्रवाद, ४ अस्तिनास्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद,

---

१ जैन साहित्य सशोधक, प्रथम भाग, पृ० १०५

७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यान, १० विद्यानुप्रवाद, ११ कल्याण, १२ प्राणावाय, १३ क्रियाविशाल, १४ लोकबिन्दुसार।

इसी प्रकार अकलंककृत तत्त्वार्थराजवार्तिक में फिर थोड़ा परिवर्तन है। इसमें अन्तकृद्दशम् एवं अनुत्तरोपपादिकदशम् के स्थान पर फिर अन्तकृद्दशा एवं अनुत्तरौपपादिकदशा का प्रयोग हुआ है।

श्रुतसागरकृत वृत्ति में ज्ञातृधर्मकथा के स्थान पर केवल ज्ञातृकथा का प्रयोग है। इसमें अन्तकृद्दशम् एवं अनुत्तरौपपादिकदशम् नाम मिलते हैं।

गोम्मटसार नामक ग्रन्थ में द्वितीय अंग का नाम सुद्दयड है, पंचम अङ्ग का नाम विवायपण्णत्ति है, षष्ठ अङ्ग का नाम नाहस्स धम्मकहा है, अष्टम अंग का नाम अन्तयडदसा है।

अंगपण्णत्ति नामक ग्रन्थ में द्वितीय अंग का नाम सूदयड, पंचम अंग का नाम विवायपण्णत्ति (संस्कृतरूप 'विपाकप्रज्ञप्ति' दिया हुआ है) एवं षष्ठ अंग का नाम णाहधम्मकहा है। दृष्टिवाद के सम्बन्ध में कहा गया है कि इसमें ३६३ दृष्टियों का निराकरण किया गया है। साथ ही क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद एवं विनयवाद के अनुयायियों के मुख्य-मुख्य नाम भी दिये गये हैं। ये सब नाम प्राकृत में हैं। राजवार्तिक में भी इसी प्रकार के नाम बताये गये हैं। वहाँ ये सब संस्कृत में हैं। इन दोनों स्थानों के नामों में कुछ कुछ अन्तर आ गया है।

इस प्रकार दोनों परम्पराओं में अंगों के जो नाम बताये गये हैं उनमें कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता। श्वेताम्बर परम्परा के समवायांग, नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में अंगों के जो नाम आये हैं उनका उल्लेख करने के बाद दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में प्रसिद्ध इन सब नामों में जो कुछ परिवर्तन हुआ है उसकी चर्चा की जायगी। समवायांग आदि में ये नाम इस प्रकार हैं —

१ समवायांग (प्राकृत)	२ नन्दीसूत्र (प्राकृत)	३ पाक्षिकसूत्र (प्राकृत)	४. तत्त्वार्थभाष्य (संस्कृत)
१ आयारे	आयारो	आयारो	आचार
२ सूयगडे	सूयगडो	सूयगडो	सूत्रकृतम्
३ ठाणे	ठाणं	ठाणं	स्थानम्
४ समवाओ, समाए	समवाओ, समाए	समवाओ, समाए	समवाय
५ विवाहपन्नत्ती	विवाहपन्नत्ती	विवाहपन्नत्ती	
वियाहे	विवाहे	विवाहे	व्याख्याप्रज्ञप्ति
६ णायाधम्म-	णायाधम्म-	णायाधम्म-	
कहाओ	कहाओ	कहाओ	ज्ञातधर्मकथा

७ उवासगदसाओ	उवासगदमाओ	उवासगदसाओ	उपासकाध्ययनदशा
८ अन्तगडदमाओ	अन्तगडदसाओ	अन्तगडदसाओ	अन्तकृद्दशा
९ अणुत्तरोववाइय-दसाओ	अणुत्तरोववाइय-दसाओ	अणुत्तरोववाइय-दसाओ	अनुत्तरोपपातिक-दशा
१० पण्हावागरणाइ	पण्हावागरणाइ	पण्हावागरणाइ	प्रश्नव्याकरणम्
११ विवागसुअे	विवागसुअ	विवागसुअ	विपाकश्रुतम्
१२. दिट्ठिवाअे	दिट्ठिवाओ	दिट्ठिवाओ	दृष्टिपात

इन नामो में कोई विशेष भेद नही है। जो थोडा भेद दिखाई देता है वह केवल विभक्ति के प्रत्यय अथवा एकवचन-बहुवचन का है।

पचम अग का सस्कृत नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। इसे देखते हुए उसका प्राकृत नाम वियाहपन्नत्ति होना चाहिए जबकि सर्वत्र प्राय विवाहपन्नति रूप ही देखने को मिलता है। प्रतिलिपि-लेखको की असावधानी व अर्थ के अज्ञान के कारण ही ऐसा हुआ मालूम होता है। अति प्राचीन ग्रन्थों में वियाहपन्नति रूप मिलता भी है जो कि व्याख्याप्रज्ञप्ति का शुद्ध प्राकृत रूप है।

सस्कृत ज्ञातधर्मकथा व प्राकृत नायाधम्मकहा अथवा णायाधम्मकहा मे कोई अन्तर नही है। 'ज्ञात' का प्राकृत में 'नाय' होता है एव समास में 'दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' (८ १४—हेमप्रा० व्या०) इस नियम द्वारा 'नाय' के ह्रस्व 'य' का दीर्घ 'या' होने पर 'नाया' हो जाता है। अचेलक परम्परा में नायाधम्मकहा के बजाय ज्ञातृधर्मकथा, ज्ञातृकथा, नाहस्स धम्मकहा, नाहधम्मकहा आदि नाम प्रचलित हैं। इन शब्दो में नाममात्र का अर्थभेद है। ज्ञातधर्मकथा अथवा ज्ञाताधर्मकथा का अर्थ है जिनमें ज्ञात अर्थात् उदाहरण प्रधान हो ऐसी धमकथाएँ। अथवा जिस ग्रन्थ में ज्ञातो वाली अर्थात् उदाहरणो वाली एव धर्मवाली कथाएँ हो वह ज्ञाता-धर्मकथा है। ज्ञातृधमकथा का अर्थ है जिसमें ज्ञातृ अर्थात् ज्ञाता अथवा ज्ञातृवश के भगवान् महावीर द्वारा कही हुई धर्मकथाएँ हो वह ग्रन्थ। यही अर्थ ज्ञातृकथा का भी है। नाहस्स धम्मकहा अथवा नाहधम्मकहा भी नायधम्मकहा का ही एक-रूप मालूम होता है। उच्चारण की गडबडी व लिपि-लेख के प्रमाद के कारण 'नाय' शब्द 'नाह' के रूप में परिणत हो गया प्रतीत होता है। भगवान् महावीर के वश का नाम नाय-नात-ज्ञात-ज्ञातृ है। ज्ञातृवशोत्पन्न भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मकथाओ के आधार पर भी ज्ञातृधर्मकथा आदि नाम फलित किये जा सकते हैं।

द्वितीय अग का सस्कृत नाम सूत्रकृत है। राजवार्तिक आदि में भी इसी नाम का निर्देश है। धवला एव जयधवला में सूदयद, गोम्मटसार में सुद्दयड तथा

अगपण्णत्ति में सूदयड नाम मिलते हैं। सचेलक परम्परा में सुत्तगड अथवा सूयगड नाम का उल्लेख मिलता है। इन सब नामो में कोई अन्तर नही है। केवल शौरसेनी भाषा के चिह्न के रूप में अचेलक परम्परा मे 'त' अथवा 'त्त' के बजाय 'द' अथवा 'द्द' का प्रयोग हुआ है।

पचम अग का नाम धवला व जयधवला में वियाहपण्णति तथा गोम्मटसार में विवायपण्णत्ति है जो सस्कृतरूप व्याख्याप्रज्ञप्ति का ही रूपान्तर है। अगपण्णत्ति मे विवायपण्णत्ति अथवा विवागपण्णत्ति नाम बताया गया है एव छाया मे विपाकप्रज्ञप्ति शब्द रखा गया है। इनमें मुद्रण की अशुद्धि प्रतीत होती है। मूल में विवाहपण्णत्ति होना चाहिए। ऐसा होने पर छाया मे व्याख्याप्रज्ञप्ति रखना चाहिए। यहाँ भी आदि पद 'वियाह' के स्थान पर असावधानी के कारण 'विवाय' हो गया प्रतीत होता है। सचेलक परम्परा में सस्कृत में व्याख्याप्रज्ञप्ति एव प्राकृत में वियाहपण्णत्ति सुप्रसिद्ध है। पचम अग का यही नाम ठीक है। ऐसा होते हुए भी वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने विवाहपण्णत्ति व विवाहपण्णत्ति नाम स्वीकार किए है एव विवाहपण्णत्ति का अर्थ किया है विवाहप्रज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान के विविध प्रवाहो की प्रज्ञप्ति और विवाहपण्णत्ति का अर्थ किया है विबाधप्रज्ञप्ति अर्थात् बिना बाधा वाली—प्रमाणसिद्ध प्रज्ञप्ति। श्री अभयदेव को वियाहपण्णत्ति, विवाहपण्णत्ति एव विवाहपण्णत्ति—ये तीन पाठ मिले मालूम होते हैं। इनमें से वियाहपण्णत्ति पाठ ठीक है। शेष दो प्रतिलिपि-लेखक की त्रुटि के परिणामरूप है।

आचारादि अंगो के नामो का अर्थ

आयार—प्रथम अग का आचार—आयार नाम तद्गत विषय के अनुरूप ही है। इसके प्रथम विभाग में आतरिक व बाह्य दोनो प्रकार के आचार की चर्चा है।

सुत्तगड—सूत्रकृत का एक अर्थ है सूत्रो द्वारा अर्थात् प्राचीन सूत्रो के आधार से बनाया हुआ अथवा सक्षिप्त सूत्रो—वाक्यो द्वारा बनाया हुआ। इसका दूसरा अर्थ है सूचना द्वारा अर्थात् प्राचीन सूचनाओं के आधार पर बनाया हुआ। इस नाम से ग्रन्थ के विषय का स्पष्ट पता नही लग सकता। इससे इसकी रचना-पद्धति का पता अवश्य लगता है।

ठाण—स्थान व समवाय नाम आचार की भाँति स्फुटार्थक नही कि जिन्हें सुनते ही अर्थ की प्रतीति हो जाय। जैन साधुओं की सख्या के लिए 'ठाणा' शब्द जैन परम्परा में सुप्रचलित है। यहाँ कितने 'ठाणे' है? इस प्रकार के प्रश्न का अर्थ सब जैन समझते हैं। इस प्रश्न में प्रयुक्त 'ठाणा' के अर्थ की ही भाँति तृतीय अग 'ठाण' का भी अर्थ सख्या ही है। 'समवाय' नाम की भी यही स्थिति है। इस नाम से यह प्रकट होता है कि इसमें बडी सख्या का समवाय है। इस प्रकार

ठाण नामक तृतीय अग जैन तत्त्व-सख्या का निरूपण करने वाला है एव समवाय नामक चतुर्थ अग जैन तत्त्व के समवाय का अर्थात् बडी सख्या वाले तत्त्व का निरूपण करने वाला है ।

वियाहपण्णत्ति—व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पचम अग का अर्थ ऊपर बताया जा चुका है । यह नाम ग्रन्थगत विषय के अनुरूप है ।

णायाधम्मकहा—ज्ञातधमकथा नाम कथासूचक है, यह नाम से स्पष्ट है । इस कथाग्रन्थ के विषय मे भी ऊपर कहा जा चुका है ।

उवासगदसा—उपासकदशा नाम से यह प्रकट होता है कि यह अग उपासको से सम्बन्धित है । जैन परिभाषा में 'उपासक' शब्द जैनधर्मानुयायी श्रावको—गृहस्थो के लिए रूढ है । उपासक के साथ जो 'दशा शब्द जुडा हुआ है वह दश—दस सख्या का सूचक है अथवा दशा—अवस्था का द्योतक भी हो सकता है । यहाँ दोनो अर्थ समानरूप से सगत हैं । उपासकदशा नामक सप्तम अग मे दस उपासको की दशा का वर्णन है ।

अतगडदसा—जिन्होने आध्यात्मिक साधना द्वारा राग-द्वेष का अन्त किया है तथा मुक्ति प्राप्त की है वे अन्तकृत हैं । उनसे सम्बन्धित शास्त्र का नाम अत-गडदसा–अतकृतदशा है । इस प्रकार अष्टम अग का अतकृतदशा नाम सार्थक है ।

अणुत्तरोववाइयदसा—इसी प्रकार अनुत्तरौपपातिकदशा अथवा अनुत्तरौप-पादिकदशा नाम भी सार्थक है । जैन मान्यता के अनुसार स्वग में बहुत ऊँचा अनुत्तरविमान नामक एक देवलोक है । इस विमान में जन्म ग्रहण करने वाले तपस्वियो का वृत्तान्त इस अनुत्तरौपपातिकदशा नामक नवम अग मे उपलब्ध है । इसका 'दशा' शब्द भी सख्यावाचक व अवस्थावाचक दोनो प्रकार का है । ऊपर जो औपपातिक व औपपादिक ये दो शब्द आये हैं उन दोनो का अर्थ एक ही है । जैन व बौद्ध दोनो परम्पराओ में उपपात अथवा उपपाद का प्रयोग देवो व नारको के जन्म के लिए हुआ है ।

पण्हावागरणाइ—प्रश्नव्याकरण नाम के प्रारभ का 'प्रश्न' शब्द सामान्य प्रश्न के अर्थ मे नही अपितु ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र आदि से सम्बन्धित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार के प्रश्नो का व्याकरण जिसमें किया गया हो उसका नाम प्रश्नव्याकरण है । उपलब्ध प्रश्नव्याकरण के विषयो को देखते हुए यह नाम सार्थक प्रतीत नही होता । प्रश्न का सामान्य अर्थ चर्चा किया जाय अर्थात् हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य आदि से सम्बन्धित चर्चा के अर्थ में प्रश्न शब्द लिया जाय तो वतमान प्रश्नव्याकरण सार्थक नाम वाला कहा जा सकता है ।

विवागसुय—ग्यारहवें अंग का नाम है विपाकश्रुत, विपाकसूत्र, विवायसुअ, विवागसुय अथवा विवागसुत्त । ये सब नाम एकार्थक एव समान हैं । विपाक शब्द का प्रयोग पातजल योगदर्शन एव चिकित्साशास्त्र में भी हुआ है । चिकित्साशास्त्र का विपाक शब्द खानपान इत्यादि के विपाक का सूचक है। यहाँ विपाक का यह अर्थ न लेते हुए आध्यात्मिक अर्थ लेना चाहिए अर्थात सदसत् प्रवृत्ति द्वारा होने वाले आध्यात्मिक सस्कार के परिणाम का नाम ही विपाक है। पापप्रवृत्ति का परिणाम पापविपाक है एव पुण्यप्रवृत्ति का परिणाम पुण्यविपाक है। प्रस्तुत अग का विपाकश्रुत नाम सार्थक है क्योकि इसमें इस प्रकार के विपाक को भोगने वाले लोगों की कथाओ का सग्रह है।

दिट्ठिवाय—बारहवा अग दृष्टिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यह अभी उपलब्ध नही है। अत इसके विषयो का हमें ठीक-ठीक पता नही है। दृष्टि का अर्थ है दर्शन और वाद का अर्थ है चर्चा। इस प्रकार दृष्टिवाद का शब्दार्थ होता है दर्शनो की चर्चा। इस अग में प्रधानतया दार्शनिक चर्चाएँ रही होगी, ऐसा ग्रन्थ नाम से प्रतीत होता है। इसके पूर्वगत विभाग में चौदह पूर्व समाविष्ट हैं जिनके नाम पहले गिनाये जा चुके हैं। इन पूर्वों को लिखने में कितनी स्याही खर्च हुई होगी, इसका अदाज लगाने के लिए सचेलक परम्परा में एक मजेदार कल्पना की गई है। कल्पसूत्र के अर्वाचीन वृत्तिकार कहते हैं कि प्रथम पूर्व को लिखने के लिए एक हाथी के वजन जितनी स्याही चाहिए द्वितीय पूर्व को लिखने के लिए दो हाथियो के वजन जितनी, तृतीय के लिए चार हाथियो के वजन जितनी, चतुर्थ के लिए आठ हाथियो के वजन जितनी, इस प्रकार उत्तरोत्तर दुगुनी-दुगुनी करते-करते अंतिम पूर्व को लिखने के लिए आठ हजार एक सौ बानवे हाथियो के वजन जितनी स्याही चाहिए।

कुछ मुनियो ने ग्यारह अगो तथा चौदह पूर्वो का अध्ययन केवल बारह वर्ष में किया है, ऐसा उल्लेख व्याख्याप्रज्ञप्ति में आता है। इतना विशाल साहित्य इतने अल्प समय में कैसे पढा गया होगा ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसे ध्यान मे रखते हुए उपर्युक्त कल्पना को महिमावर्धक व अतिशयोक्तिपूर्ण कहना अनुचित न होगा। इतना अवश्य है कि पूर्वगत साहित्य का परिमाण काफी विशाल रहा है।

स्थानागसूत्र में[1] बारहवें अग के दस पर्यायवाची नाम बताये हैं १ दृष्टि-वाद, २ हेतुवाद, ३ भूतवाद, ४ तथ्यवाद, ५ सम्यग्वाद, ६ धर्मवाद ७ भाषाविचय अथवा भाषाविजय, ८ पूर्वगत, ९ अनुयोगगत और १० सर्वजीव-

---

१ स्थानाग, १०.७४२

तालिका—१

सचेलक परम्परा

ग्यारह अग

१ अग का नाम	२ समवायागगत पदसख्या	३ नन्दिगतपदसख्या	४ समवायाग-वृत्ति	५. नन्दि-वृत्ति
१ आचाराग	अठारह हजार पद	अठारह हजार पद	अठारह हजार पद आचाराग की निर्युक्ति तथा शीलाक-कृत वृत्ति में लिखा है कि आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के (नौ अध्ययनो के) अठारह हजार पद हैं एव द्वितीय-श्रुतस्कन्ध के इससे भी अधिक हैं।	नन्दी के वृत्तिकार ने सब समवायाग की वृत्ति के अनुसार ही लिखा है। साथ में इसके समर्थन में नन्दी सूत्र की चूर्णि का पाठ दिया है।
२ सूत्रकृताग	छत्तीस हजार पद	छत्तीस हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
३ स्थानाग	बहत्तर हजार पद	बहत्तर हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
४ समवायाग	एक लाख चौआलीस हजार पद	एक लाख चौआलीस हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही
५ व्याख्याप्रज्ञप्ति	चौरासी हजार पद	दो लाख अठासी हजार पद	समवायाग के मूल के अनुसार ही	नन्दी के मूल के अनुसार ही

६ ज्ञाताधर्मकथा	सख्येय हजार पद	सख्येय हजार पद	पाच लाख छिहत्तर हजार पद अथवा सूत्रालापकरूप सख्येय हजार पद	समवायाग की वृत्ति के अनुसार ही सब समझना चाहिए। विशेषतया उपसर्गपद, निपातपद, नामिकपद, आख्यातपद एव मिश्रपद की अपेक्षा से पाच लाख छिहत्तर हजार पद समझने चाहिए।
७ उपासकदशा	सख्येय लाख पद	सख्येय हजार पद	ग्यारह लाख बावन हजार पद	ग्यारह लाख बावन हजार पद अथवा सूत्रालापकरूप सख्येय हजार पद
८ अतकृद्दशा	सख्येय हजार पद	सख्येय हजार पद	तेईस लाख चार हजार पद	सख्येय हजार पद अर्थात् तेईस लाख चार हजार पद
९ अनुत्तरोप-पातिकदशा	सख्येय लाख पद	सख्येय हजार पद	छियालीस लाख आठ हजार पद	छियालीस लाख आठ हजार पद
१० प्रश्नव्याकरण	सख्येय लाख पद	सख्येय हजार पद	बानबे लाख सोलह हजार पद	बानबे लाख सोलह हजार पद
११ विपाकसूत्र	सख्येय लाख पद	सख्येय हजार पद	एक करोड चौरासी लाख बत्तीस हजार पद	एक करोड चौरासी लाख बत्तीस हजार पद

तालिका—२

सचेलक परम्परा

बारहवें अग दृष्टिवाद के चौदह पूर्व

१ पूर्व का नाम	२. समवायाग-गत पदसख्या	३ नदिगत पदसख्या	४ समवा-याग-वृत्ति	५ नदि-वृत्ति
१ उत्पाद	×	×	एक करोड पद	एक करोड पद
२ अग्रायणीय	×	×	छियानवे लाख पद	छियानवे लाख पद
३ वीर्य प्रवाद	×	×	सत्तर लाख पद	सत्तर लाख पद
४ अस्ति-नास्ति-प्रवाद	×	×	साठ लाख पद	साठ लाख पद
५ ज्ञानप्रवाद	×	×	एक कम एक करोड पद	एक कम एक करोड पद
६ सत्यप्रवाद	×	×	एक करोड छ पद	एक करोड छ पद
७ आत्मप्रवाद	×	×	छब्बीस करोड पद	छब्बीस करोड पद
८ कर्मप्रवाद	×	×	एक करोड अस्सी हजार पद	एक करोड अस्सी हजार पद
९ प्रत्याख्यानपद	×	×	चौरासी लाख पद	चौरासी लाख पद
१० विद्यानुवाद	×	×	एक करोड दस लाख पद	एक करोड दस लाख पद
११ अवध्य	×	×	छब्बीस करोड पद	छब्बीस करोड पद
१२ प्राणायु	×	×	एक करोड छप्पन लाख पद	एक करोड छप्पन लाख पद
१३ क्रियाविशाल	×	×	नौ करोड पद	नौ करोड पद
१४ लोकबिन्दुसार	×	×	साढे बारह करोड पद	साढे बारह करोड पद

तालिका—३

अचेलक परम्परा

ग्यारह अग

१ अग का नाम	२ पदपरिमाण	३ किस ग्रन्थ मे निर्देश
१ आचाराग	१८०००	धवला, जयधवला, गोम्मट-सार एव अगपण्णत्ति
२ सूत्रकृताग	३६०००	"
३ स्थानाग	४२०००	"
४ समवायाग	१६४०००	"
५ व्याख्याप्रज्ञप्ति	२२८०००	"
६ ज्ञाताधर्मकथा	५५६०००	"
७. उपासकदशा	११७००००	"
८ अन्तकृद्दशा	२३२८०००	"
९ अनुत्तरौपपातिकदशा	९२४४०००	"
१० प्रश्नव्याकरण	९३१६०००	"
११ विपाकश्रुत	१८४०००००	"

तालिका—४

अचेलक परम्परा

चौदह पूर्व

१ पूर्व का नाम	२ पदसख्या	३ किस ग्रन्थ मे निर्देश
१. उत्पाद	एक करोड पद	धवला, जयधवला, गोम्मट-सार एव अगपण्णत्ति
२ अग्रायण-अग्रायणीय	छियानवे लाख पद	"
३ वीर्यप्रवाद-वीर्यानु-प्रवाद	सत्तर लाख पद	"

१ पूर्व का नाम	२ पदसख्या	३ किस ग्रन्थ मे निर्देश
४ अस्तिनास्तिप्रवाद	साठ लाख पद	धवला, जयधवला, गोम्मट-सार एव अगपण्णत्ति
५ ज्ञानप्रवाद	एक कम एक करोड पद	"
६ सत्यप्रवाद	एक करोड छ पद	"
७ आत्मप्रवाद	छब्बीस करोड पद	"
८ कर्मप्रवाद	एक करोड अस्सी लाख पद	"
९ प्रत्याख्यान	चौरासी लाख पद	"
१० विद्यानुवाद-विद्यानुप्रवाद	एक करोड दस लाख पद	"
११ कल्याण (अवन्ध्य)	छब्बीस करोड पद	"
१२ प्राणवाद प्राणावाय (प्राणायु)	तेरह करोड पद	"
१३ क्रियाविशाल	नौ करोड पद	"
१४ लोकविन्दुसार	बारह करोड पचास लाख पद	"

पूर्वो की पदसख्या में दोनो परम्पराओ में अत्यधिक साम्य है। ग्यारह अगो की पदसख्या में विशेष भेद है। सचेलक परम्परा में यह सख्या प्रथम अग से प्रारम्भ होकर आगे क्रमश दुगुनी-दुगुनी होती गई मालूम होती है। अचेलक परम्परा के उल्लेखो में ऐसा नही है। वर्तमान में उपलब्ध अगसूत्रो की पदसख्या उपर्युक्त दोनो प्रकार की पदसख्या से भिन्न है।

प्रथम अग में अठारह हजार पद बताये गये हैं। आचाराग (प्रथम अग) के दो विभाग हैं प्रथम श्रुतस्कन्ध व पाच चूलिकाओं सहित द्वितीय श्रुतस्कन्ध। इनमें से पाचवी चूलिका निशीथ सूत्ररूप एक स्वतन्त्र ग्रथ ही है। अत यह यहाँ अभिप्रेत नही है। दूसरे शब्दो में यहाँ केवल चार चूलिकाओ सहित द्वितीय श्रुतस्कन्ध ही विवक्षित है। अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त अठारह हजार पद दोनों श्रुतस्कधों के हैं अथवा केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के? इस विषय में आचाराग-नियुक्तिकार, आचाराग-वृत्तिकार, समवायाग वृत्तिकार एव नन्दि-वृत्तिकार—ये चारों एकमत हैं कि अठारह हजार पद केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पदसख्या अलग ही है। समवायाग व नन्दी सूत्र के मूलपाठ में जहाँ पदसख्या बताई गई है वहाँ इस प्रकार का कोई स्पष्टीकरण नही किया

गया है। वहाँ केवल इतना ही बताया गया है कि आचाराग के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पचीस अध्ययन हैं, पचासी उद्देशक हैं, पचासी समुद्देशक हैं, अठारह हजार पद है, सख्येय अक्षर हैं। इस पाठ को देखते हुए यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अठारह हजार पद पूरे आचाराग के अर्थात् आचाराग के दोनो श्रुतस्कन्धों के है, किसी एक श्रुतस्कन्ध के नही। जिस प्रकार पचीस अध्ययन, पचासी उद्देशक आदि दोनो श्रुतस्कन्धो के मिलाकर हैं उसी प्रकार अठारह हजार पद भी दोनो श्रुतस्कन्धो के मिलाकर ही हैं।

पद का अर्थ

पद क्या है? पद का स्वरूप बताते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार[1] कहते हैं कि पद अर्थ का वाचक एव द्योतक होता है। बैठना, बोलना, अश्व, वृक्ष इत्यादि पद वाचक है। प्र, परि, च, वा इत्यादि पद द्योतक है। अथवा पद के पाच प्रकार हैं नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातिक व मिश्र। अश्व, वृक्ष आदि नामिक है। खलु, हि इत्यादि नैपातिक हैं। परि, अप, अनु, आदि औपसर्गिक है। दौडता है, जाता है, आता है इत्यादि आख्यातिक है। सयत, प्रवर्धमान, निवर्तमान आदि पद मिश्र है। इसी प्रकार अनुयोगद्वारवृत्ति[2], अगस्त्यसिंहविरचित दशवैकालिकचूर्णि,[3] हरिभद्रकृत दशवैकालिकवृत्ति,[4] शीलाककृत आचारागवृत्ति[5] आदि में पद का सोदाहरण स्वरूप बताया गया है। प्रथम कर्मग्रन्थ की सातवी गाथा के अन्तर्गत पद की व्याख्या करते हुए देवेन्द्रसूरि कहते हैं —"पद तु अर्थसमाप्ति इत्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित् पदेन अष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात् श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात्। तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाण न ज्ञायते।" अर्थात् अर्थसमाप्ति का नाम पद है किन्तु प्रस्तुत में जिस किसी पद से आचाराग आदि ग्रथो के अठारह हजार एव यथाक्रम अधिक पद समझने चाहिए। ऐसे ही पद की इस श्रुतज्ञानरूप द्वादशाग के परिमाण में चर्चा है। इस प्रकार के पद के परिमाण के सम्बन्ध में हमारे पास कोई परम्परा नही है कि जिससे पद का निश्चित स्वरूप जाना जा सके।

---

१ विशेषावश्यकभाष्य, गा १००३, पृ ४६७

२ पृ० २४३-४

३ पृ० ९

४ प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा

५. प्रथम श्रुतस्कन्ध का प्रथम सूत्र

नदी आदि में उल्लिखित पदसख्या और सचेलक परम्परा के आचारागादि विद्यमान ग्रन्थो की उपलब्ध श्लोकसख्या के समन्वय का किसी भी टीकाकार ने प्रयत्न नही किया है ।

अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि एव श्लोकवार्तिक में एतद्विषयक कोई उल्लेख नही है। जयधवला में पद के तीन प्रकार बताये गये हैं प्रमाणपद, अर्थपद व मध्यमपद। आठ अक्षरो के परिमाण वाला प्रमाणपद है। ऐसे चार प्रमाणपदों का एक श्लोक होता है। जितने अक्षरो द्वारा अर्थ का बोध हो उतने अक्षरों वाला अर्थपद होता है। १६३४८३०७८८८ अक्षरो वाला मध्यमपद कहलाता है। धवला, गोम्मटसार एव अगपण्णत्ति में भी यही व्याख्या की गई है। आचाराग आदि में पदो की जो सख्या बताई गई है उनमे प्रत्येक पद में इतने अक्षर समझने चाहिए। इस प्रकार आचाराग के १८००० पदों के अक्षरो की सख्या २९४२६९५४१९८४००० होती है। अगपण्णत्ति आदि में ऐसी सख्या का उल्लेख किया गया है। साथ ही आचाराग के अठारह हजार पदो के श्लोकों की सख्या ९१९५९२३११८७००० बताई गई है। इसी प्रकार अन्य अगो के श्लोकों एव अक्षरो को सख्या भी बताई गई है। वर्तमान में उपलब्ध अगों से न तो सचेलकसमत पदसख्या का और न अचेलकसमत पद-सख्या का मेल है।

बौद्ध ग्रन्थों में उनके पिटको के परिमाण के विषय में उल्लेख उपलब्ध है। मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, सयुत्तनिकाय आदि की जो सूत्रसख्या बताई गई है उसमें भी वतमान में उपलब्ध सूत्रों की सख्या से पूरा मेल नही है।

वैदिक परम्परा में 'शतशाख सहस्रशाख' इस प्रकार की उक्ति द्वारा वेदो की सैकडो-हजारों शाखाएँ मानी जाती हैं। ब्राह्मणो, आरण्यको, उपनिषदो तथा महाभारत के लाखों श्लोक होने की मान्यता प्रचलित है। पुराणो के भी इतने ही श्लोक होने की कथा प्रचलित है।

अगो का क्रम

ग्यारह अगो के क्रम में सर्वप्रथम आचाराग है। आचाराग को क्रम में सर्वप्रथम स्थान देना सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि सघव्यवस्था में सबसे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचाराग की प्राथमिकता के विषय में दो भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं।[1] कोई कहता है कि पहले पूर्वों की रचना हुई बाद में आचाराग आदि बने। कोई कहता है कि सर्वप्रथम आचाराग बना व बाद में अन्य रचनाएँ हुई। चूर्णिकारो एव वृत्तिकारो ने इन दो परस्पर विरोधी उल्लेखो

१ आचारागनिर्युक्ति, गाथा ८-९, आचारागवृत्ति, पृ० ५

की सगति विठाने का आपेक्षिक प्रयास किया है। फिर भी यह मानना विशेष उपयुक्त एव बुद्धिग्राह्य है कि सर्वप्रथम आचाराग की रचना हुई। 'पूर्व' शब्द के अर्थ का आधार लेकर यह कल्पना को जाती है कि पूर्वों की रचना पहले हुई, किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इनमें भी आचाराग आदि शास्त्र समाविष्ट ही हैं। अत पूर्वों में भी सर्वप्रथम आचार की व्यवस्था न की गई हो, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? 'पूर्व' शब्द से केवल इतना ही ध्वनित होता है कि उस सघप्रवर्तक के सामने कोई पूर्व परम्परा अथवा पूर्व परम्परा का साहित्य विद्यमान था जिसका आधार लेकर उसने समयानुसार अथवा परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन के साथ नई आचार-योजना इस प्रकार तैयार की कि जिसके द्वारा नवनिर्मित सघ का आध्यात्मिक विकास हो सके।

भारतीय साहित्य में भाषा आदि की दृष्टि से वेद सबसे प्राचीन हैं, ऐसा विद्वानो का निश्चित मत है। पुराण आदि भाषा वगैरह की दृष्टि से बाद की रचना मानी गई है। ऐसा होते हुए भी 'पुराण' शब्द द्वारा जो प्राचीनता का भास होता है उसके आधार पर वायुपुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा ने सब शास्त्रो से पहले पुराणो का स्मरण किया। उसके बाद उनके मुख से वेद निकले।[1] जैन परम्परा में सभवत इसी प्रकार की कल्पना के आधार पर पूर्वों को प्रथम स्थान दिया गया हो। चूंकि पूर्व हमारे सामने नही हैं अत उनकी रचना आदि के विषय में विशेष कुछ नही कहा जा सकता।

आचाराग को सर्वप्रथम स्थान देने में प्रथम एव प्रमुख हेतु है उसका विषय। दूसरा हेतु यह है कि जहाँ जहाँ अगो के नाम आये हैं वहाँ-वहाँ मूल में अथवा वृत्ति में सबसे पहले आचाराग का ही नाम आया है। तीसरा हेतु यह है कि इसके नाम के प्रथम उल्लेख के विषय में किसी ने कोई विसवाद अथवा विरोध खडा नही किया।

आचाराग के बाद जो सूत्रकृताग आदि नाम आये हैं उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की, इसकी चर्चा के लिए हमारे पास कोई उल्लेखनीय साधन नही हैं। इतना अवश्य है कि सचेलक व अचेलक दोनों परम्पराओ में अगो का एकही क्रम है। इसमें आचाराग का नाम सर्वप्रथम आता है व बाद में सूत्रकृताग आदि का।

---

१ प्रथम सर्वशास्त्राणा पुराण ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तर च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनि सृता ॥
—वायुपुराण (पत्राकार), पत्र २.

अगो की शैली व भाषा

शैली की दृष्टि से प्रथम अग में गद्यात्मक व पद्यात्मक दोनो प्रकार की शैली है। द्वितीय अग में भी इसी प्रकार की शैली है। तीसरे से लेकर ग्यारहवें अग तक गद्यात्मक शैली का ही अवलम्बन लिया गया है। इनमें कही एक भी पद्य नही है, ऐसा तो नही कहा जा सकता किन्तु प्रधानतः ये सब गद्य में ही हैं। इनमे भी ज्ञाताधमकथा आदि मे तो वसुदेवहिंडी अथवा कादम्बरी की गद्य-शैली के समकक्ष कही जा सके ऐसी गद्यशैली का उपयोग हुआ है। यह शैली उनके रचना-समय पर प्रकाश डालने में भी समर्थ है। हमारे साहित्य में पद्यशैली अति प्राचीन है तथा काव्यात्मक गद्यशैली इसकी अपेक्षा अर्वाचीन है। गद्य को याद रखना बहुत कठिन होता है इसलिए गद्यात्मक ग्रन्थो में यत्रतत्र सग्रह-गाथाएँ दे दी जाती हैं जिनसे विषय को याद रखने में सहायता मिलती है। जैन ग्रथो पर भी यही बात लागू होती है।

इस प्रसग पर यह बताना आवश्यक है कि आचाराग सूत्र में पद्यसख्या अल्प नही है। किन्तु अति प्राचीन समय से चली आने वाली हमारे पूर्वजो की एत-द्विषयक अनभिज्ञता के कारण वर्तमान में आचाराग का अनेक बार मुद्रण होते हुए भी उसमें गद्य-पद्यविभाग का पूर्णतया पृथक्करण नही किया जा सका। ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तिकार शीलाक को भी एतद्विषयक पूर्ण परिचय न था। इनसे पूर्व विद्यमान चूर्णिकारो के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। वर्तमान महान् सशोधक श्री शुब्रिग ने अति परिश्रमपूर्वक आचाराग के समस्त पद्यो का पृथक्करण कर हम पर महान् उपकार किया है। खेद है कि इस प्रकार का सस्करण अपने समक्ष रहते हुए भी हम नव मुद्रण आदि में उसका पूरा उपयोग नही कर सके। आचाराग के पद्य त्रिष्टुभ्, जगती इत्यादि वैदिक पद्यो से मिलते हुए हैं।

भाषा की दृष्टि से जैन आगमों की भाषा साधारणतया अर्धमागधी कही जाती है। वैयाकरण इसे आर्ष प्राकृत कहते हैं। जैन परम्परा में शब्द अर्थात् भाषा का विशेष महत्त्व नही है। जो कुछ महत्त्व है वह अर्थ अर्थात् भाव का है। इसीलिए जैन शास्त्रो में भाषा पर कभी जोर नही दिया गया। जैन शास्त्रो में स्पष्ट बताया गया है कि चित्र-विचित्र भाषाएँ मनुष्य की चित्तशुद्धि व आत्म-विकास का निर्माण नही करती। जीवन की शुद्धि का निर्माण तो सत् विचारो द्वारा ही होता है। भाषा तो विचारो का केवल वाहन अर्थात् माध्यम है। अत माध्यम के अतिरिक्त भाषा का कोई मूल्य नही। परम्परा से चला आने वाला साहित्य भाषा की दृष्टि से परिवर्तित होता आया है। अत इसमें प्राकृत भाषा

का एक स्वरूप स्थिर रहा हुआ है, यह नही कहा जा सकता। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने जैन आगमो की भाषा को आर्ष प्राकृत नाम दिया है।

प्रकरणो का विषयनिर्देश

आचाराग के मूल सूत्रो के प्रकरणो का विषयनिर्देश निर्युक्तिकार ने किया है, यह उन्ही की सूझ प्रतीत होती है। स्थानाग, समवायाग एव विशेषावश्यकभाष्य व हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति आदि में अनेक स्थानो पर इस प्रकार के क्रम का अथवा अध्ययनो के नामो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। समवायाग एव नदी के मूल मे तो केवल प्रकरणो की सख्या ही दी गई है। अत इन सूत्रो के कर्ताओ के सामने नामवार प्रकरणो की परम्परा विद्यमान रही होगी अथवा नही यह निश्चित नही कहा जा सकता। इन नामो का परिचय स्थानाग आदि ग्रन्थो मे मिलता है। अत यह निश्चित है कि अगग्रन्थो को ग्रन्थबद्ध—पुस्तकारूढ करने वाले अथवा अगग्रन्थो पर निर्युक्ति लिखने वाले को इसका परिचय अवश्य रहा होगा।

परम्परा का आधार

आचाराग के प्रारभ में ही ऐसा वाक्य आता है कि 'उन भगवान् ने इस प्रकार कहा है।' इस वाक्य द्वारा सूत्रकार ने इस बात का निर्देश किया है कि यहा जो कुछ भी कहा जा रहा है वह गुरु-परम्परा के अनुसार है, स्वकल्पित नही। इस प्रकार के वाक्य अन्य धर्म परम्पराओ के शास्त्रों में भी मिलते है। बौद्ध पिटक ग्रन्थो में प्रत्येक प्रकरण के आदि में 'एव मे सुत। एक समय भगवा उक्कट्ठाय विहरति सुभगवने सालराजमूले।'[1]—इस प्रकार के वाक्य आते है। वैदिक परम्परा मे भी इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओ में अनेक स्थानो पर पूर्व परम्परा की सूचना देने के लिए 'अग्नि पूर्वेभि ऋषिभि ईड्य नूतनै उत' यो कह कर परम्परा के लिए 'पूर्वेभि.' अथवा 'नूतनै' इत्यादि पद रखने की प्रथा स्वीकार की गई है। उपनिषदो में कही प्रश्नोत्तर की पद्धति है तो कही अमुक ऋषि ने अमुक को कहा, इस प्रकार की प्रथा स्वीकृत है। सूत्रकृताग आदि मे आचाराग से भिन्न प्रकार की वाक्यरचना द्वारा पूर्व परम्परा का निर्देश किया गया है।

परमतो का उल्लेख

अगसूत्रो में अनेक स्थानो पर 'एगे पवयमाणा' ऐसा कहते हुए सूत्रकार ने परमतो का भी उल्लेख किया है। परमत का विशेष नाम देने की प्रथा न होते हुए भी उस मत के विवेचन से नाम का पता लग सकता है। बुद्ध का नाम सूत्र-

---

१ मज्झिमनिकाय का प्रारम्भ

कृताग मे स्पष्ट दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त मक्खलिपुत्र गोशाल के आजीविक मत का भी स्पष्ट नाम आता है। कही पर अन्नउत्थिया—अन्ययूथिका अर्थात् अन्य गण वाले यो कहते हैं, इस प्रकार कहते हुए परमत का निर्देश किया गया हैं। आचाराग मे तो नही किन्तु सूत्रकृताग आदि में कुछ स्थानो पर भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यो के लिए अथवा पार्श्वतीर्थ के अनुयायियो के लिए 'पासावच्चिज्जा' एव 'पासत्था' शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। आजीविक मत के आचार्य गोशालक के छ दिशाचर महायक थे। इन दिशाचरो के सम्बन्ध मे प्राचीन टीकाकारो एव चूर्णिकारो ने कहा है कि ये पासत्थ अर्थात् पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। कुछ स्थानो पर अन्य मत के अनुयायियो के कालादायी आदि नाम भी आये है। अन्य मत के लिये सर्वत्र 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं वह मिथ्या है, यो कहा गया है। आचाराग में हिंसा-अहिंसा की चर्चा के प्रसग पर 'पावादुया—प्रावादुका' शब्द भी अन्य मत के वादियो के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहाँ-कही भी अन्य मत का निरास किया गया है वहा किसी विशेष प्रकार की तार्किक युक्तियो का प्रयोग नहीवत् है। 'ऐसा कहने वाले मन्द है, बाल है, आरम्भ-समारभ तथा विषयो मे फँसे हुए हैं। वे दीर्घकाल तक भवभ्रमण करते रहेगे।' इस प्रकार के आक्षेप ही अधिकतर देखने को मिलते है। अर्थ की विशेष स्पष्टता के लिए यत्र-तत्र उदाहरण, उपमाएँ व रूपक भी दिये गये हैं। सूर्यग्रहणादि से सम्बन्धित तत्कालीन मिथ्या धारणाओ का निरसन करने का भी प्रयास किया गया है। ऊँच-नीच की जातिगत कल्पना का भी निरास किया गया है। बौद्ध पिटको मे इस प्रकार की कुश्रद्धाओ के निरसन के लिए जिस विशद चर्चा एव तर्कपद्धति का उपयोग हुआ है उस कोटि की चर्चा का अगसूत्रो में अभाव दिखाई देता है।

विषय-वैविध्य

अगग्रन्थो में निम्नोक्त विषयो पर भी प्रकाश डाला गया है स्वर्ग-नरकादि परलोक, सूर्य चन्द्रादि ज्योतिष्क देव, जम्बूद्वीपादि द्वीप, लवणादि समुद्र, विविध प्रकार के गर्भ व जन्म, परमाणु-कपन, परमाणु की शाश्वतता आदि। इस प्रकार इन सूत्रो में केवल अध्यात्म एव उसकी साधना की ही चर्चा नही है अपितु तत्सम्बद्ध अन्य अनेक विषयो की भी चर्चा की गई है। इनमें कही भी यह नही कहा गया है कि अमुक प्रश्न तो अव्याकृत है अर्थात् उसका व्याकरण—स्पष्टीकरण नही हो सकता। यहाँ तक कि मुक्तात्मा एव निर्वाण के विषय मे भी विस्तार से चर्चा की गई है। तत्कालीन समाजव्यवस्था, विद्याभ्यास की पद्धति, राज्यसस्था, राजाओ के वैभव-विलास, मद्यपान, गणिकाओ का राज्यसस्था में स्थान, विविध प्रकार की सामाजिक प्रणालियाँ, युद्ध, वादविवाद, अलकारशाला, क्षौरशाला,

जैन मुनियो की आचार-प्रणाली, अन्य मत के तापसो व परिव्राजकों की वेषभूषा, दीक्षा तथा आचार-प्रणाली, अपराधी के लिए दण्ड-व्यवस्था, जेलो के विविध प्रकार, व्यापार व्यवसाय, जैन व अजैन उपासको की चर्या, मनौती मनाने व पूरी करने की पद्धतिया, दासप्रथा, इन्द्र, रुद्र, स्कन्द, नाग, भूत, यक्ष, शिव, वैश्रमण, हरिणेगमेषी आदि देव, विविध-कलाएँ, नृत्य, अभिनय, लब्धिया, विकुर्वणाशक्ति, स्वर्ग में होने वाली चोरिया आदि, नगर, उद्यान, समवसरण (धर्मसभा), देवासुर-सग्राम, वनस्पति आदि विविध जीव, उनका आहार, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य, अध्यवसाय आदि अनेक विषयो पर अगग्रन्थो में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है ।

जैन परम्परा का लक्ष्य

जैन तीर्थंकरो का लक्ष्य निर्वाण है । वीतरागदशा की प्राप्ति उनका अन्तिम एव प्रधानतम ध्येय है । जैनशास्त्र कथाओ द्वारा, तत्त्वचर्चा द्वारा अथवा स्वर्ग-नरक, सूर्य-चन्द्र आदि के वर्णन द्वारा इसी का निरूपण करते हैं । जब वेदो की रचना हुई तब वैदिक परम्परा का मुख्य ध्येय स्वर्गप्राप्ति था । इसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर वेदो में विविध कर्मकाडो की योजना की गई है । उनमे हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, मदिरापान-अपान इत्यादि की चर्चा गौण है । धीरे-धीरे चिन्तनप्रवाह ने स्वर्गप्राप्ति के स्थान पर निर्वाण, वीतरागता एव स्थितप्रज्ञता को प्रतिष्ठित किया । बाह्य कर्मकाड भी इसी ध्येय के अनुकूल बने । ऐसा होते हुए भी इस नवीन परिवर्तन के साथ-साथ प्राचीन परम्परा भी चलती रही । इसी का परिणाम है कि जो ध्येय नही है अथवा अन्तिम साध्य नही है ऐसे स्वर्ग के वर्णनो को भी बाद के शास्त्रो में स्थान मिला । ऋग्वेद के प्रारभ में धनप्राप्ति की इच्छा से अग्नि की स्तुति की गई है जबकि आचाराग के प्रथम वाक्य में मैं क्या था ? इत्यादि प्रकार से आत्मरूप व्यक्ति के स्वरूप का चिन्तन है । सूत्रकृताग के प्रारम्भ में बन्धन व मोक्ष की चर्चा की गई है एव बताया गया है कि परिग्रह बन्धन है । थोडे से भी परिग्रह पर ममता रखने वाला दुःख से दूर नही रह सकता । इस प्रकार जैन परम्परा के मूल में आत्मा व अपरिग्रह है । इसमें स्वर्ग-प्राप्ति का महत्त्व नही है । जैनग्रन्थो में बताया गया है कि साधक की साधना में जब कोई दोष रह जाता है तभी उसे स्वर्गरूप ससार में भ्रमण करना पडता है । दूसरे शब्दो में स्वर्ग सयम का नही अपितु सयमगत दोष का परिणाम है । स्वर्ग-प्राप्ति को भवभ्रमण का नाम देकर यह सूचित किया है कि जैन परम्परा में स्वर्ग का कोई मूल्य नही है । अगसूत्रो में जितनी भी कथाएँ आई हैं सब में साधको के निर्वाण को ही प्रमुख स्थान दिया गया है ।

●

प्रकरण ३

अंग ग्रंथों का अंतरंग परिचय : आचारांग

में भी चर्चा है। इसमें उनके निवासस्थान का भी विचार किया गया है। साथ ही अचेलक—यथाजात श्रमण तथा उनकी मनोवृत्ति का भी निरूपण है। इसी प्रकार एकवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी तथा त्रिवस्त्रधारी भिक्षुओं एवं उनके वर्तनों व मनोवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस आचार गोचर की भूमिकारूप आध्यात्मिक योग्यता पर ही प्रारम्भिक अध्ययनों में भार दिया गया है।

विषय :

वर्तमान आचारांग में क्या उपर्युक्त विषयों का निरूपण है? यदि है तो जिस प्रकार से उपर्युक्त राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचारांग के विषयों का उल्लेख है वैसे इसमें व्यवस्थित व क्रमबद्ध हैं? कि ग्यारह अंगों में से प्रत्येक अंग में किसी न किसी प्रकार उनकी चर्चा आती ही है। इनका सम्बन्ध केवल आचारांग से ही नहीं है। अचेलक परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचारांग के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनमें केवल उसकी पद-संख्या के विषय में उल्लेख आता है। सचेलक परम्परा के समवायांग तथा नन्दी-सूत्र में बताया गया है कि आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं। इनमें पदसंख्या के विषय में भी उल्लेख मिलता है। आचारांग के दो श्रुतस्कन्धों में से प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। इसमें नौ अध्ययन होने के कारण इसे 'नवब्रह्मचर्य' कहा गया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिकारूप है। इसका दूसरा नाम 'आचाराग्र' भी है। वर्तमान में प्रचलित पद्धति के अनुसार इसे प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट भी कह सकते हैं। राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचारांग का जो विषय बताया गया है वह द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अक्षरशः मिल जाता है। इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार व चूर्णिकार कहते हैं कि स्थविर पुरुषों ने शिष्यों के हित की दृष्टि से आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अप्रकट अर्थ को प्रकट कर—विभाजित व स्पष्ट कर चूलिकारूप—आचाराग्ररूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की है। नवब्रह्मचर्य के प्रथम अध्ययन 'शस्त्रपरिज्ञा' में समारम्भ—असमारम्भ अथवा आरम्भ—अनारम्भ अर्थात् हिंसा के त्याग-संयम के विषय में जो विचार सामान्य तौर पर रखे गये हैं उन्हीं का यथोचित विभाग कर द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में पाँच महाव्रतों एवं उनकी भावनाओं के साथ ही साथ संयम की एकविधता, द्विविधता आदि का व चातुर्याम, पंचयाम, रात्रिभोजनत्याग इत्यादि का परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्ययन 'लोकविजय' के पाँचवें उद्देशक में आनेवाले 'सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधे परिव्वए' तथा 'अदिस्समाणे कय-विक्कएसु' इन वाक्यों में एवं आठवें विमोक्ष अथवा विमोह नामक अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में आने वाले 'से भिक्खू परक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा सुसाणंसि

तथा 'किसी भी प्राण का हनन नही करना चाहिए' इस प्रकार का कथन आया का है, इस मत की पुष्टि की गई है। 'अवरेण पुव्व न सरति एगे', 'तहागया उ' इत्यादि उल्लेखो द्वारा तथागत बुद्ध के मत का निर्देश किया गया है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' जैसे उपनिषद्-वाक्यो से मिलने-जुलने 'सव्वे सरा नियट्टति, तक्का जत्थ न विज्जइ' इत्यादि वाक्यो द्वारा आत्मा की अगोचरता बताई गई है। अचेलक—सर्वथा नग्न, एक वस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, तथा त्रिवस्त्रधारी भिक्षुओ की चर्या से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्रथम श्रुतस्कन्ध में उपलब्ध है। इन उल्लेखो मे सचेलकता और अचेलकता की सगतिरूप सापेक्ष मर्यादा का प्रतिपादन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे आने वाली सभी बातें जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से, जैनमुनियो की चर्या की दृष्टि से एव समग्र जैनसघ की अपरिग्रहात्मक व्यवस्था की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अचेलकता व सचेलकता

भगवान् महावीर की उपस्थिति मे अचेलकता-सचेलकता का कोई विशेष विवाद न था। सुधर्मास्वामी के समय मे भी अचेलक व सचेलक प्रथाओ की

सगति थी। आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में अचेलक अर्थात् वस्त्ररहित भिक्षु के विषय में तो उल्लेख आता है किन्तु करपात्री अर्थात् पाणिपात्री भिक्षु के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता। वीरनिर्वाण के हजार वर्ष बाद सकलित कल्पसूत्र के सामाचारी-प्रकरण की २५३, २५४ एव २५५ वी कडिका मे 'पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स' इन शब्दो में पाणिपात्री अथवा करपात्री भिक्षु का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है व आगे की कडिका में 'पडिग्गहधारिस्स भिक्खुस्स' इन शब्दो में पात्रधारी भिक्षु का भी उल्लेख है। इस प्रकार सचेलक परम्परा के आगम में अचेलक व सचेलक की भाँति करपात्री एव पात्रधारी भिक्षुओ का भी स्पष्ट उल्लेख है।

आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वस्त्रधारी भिक्षुओ के विषय में विशेष विवेचन आता है। इसमें सर्वथा अचेलक भिक्षु के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नही मिलता। वैसे मूल में तो भिक्षु एव भिक्षुणी जैसे सामान्य शब्दो का ही प्रयोग हुआ है। किन्तु जहा-जहा भिक्षु को ऐसे वस्त्र लेने चाहिए, ऐसे वस्त्र नही लेने चाहिए, ऐसे पात्र लेने चाहिए, ऐसे पात्र नही लेने चाहिए— इत्यादि चर्या का विधान है वहाँ सचेलक अथवा पाणिपात्र भिक्षु की चर्या के विषय में कोई स्पष्ट निर्देश नही है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध का झुकाव सचेलक प्रथा की ओर है। सम्भवत इसीलिए स्वय नियुक्तिकार ने इसकी रचना का दायित्व स्थविरो पर डाला है। सुधर्मास्वामी का झुकाव दोनो परम्पराओ की सापेक्ष सगति की ओर मालूम पडता है। इस झुकाव का प्रतिबिम्ब प्रथम श्रुतस्कन्ध में दिखाई देता है। दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि नग्नता तथा सचेलकता (जीर्णवस्त्रधारित्व अथवा अल्पवस्त्र-धारित्व) दोनो प्रथाओं की मान्यता होने के कारण जो समुदाय अपनी शारीरिक, मानसिक अथवा सामाजिक परिस्थितियो एव मर्यादाओ के कारण सचेलकता की ओर झुकने लगा हो उसका प्रतिनिधित्व दूसरे श्रुतस्कन्ध में किया गया हो। जिस युग का यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध है उस युग में भी अचेलकता समादरणीय मानी जाती थी एव सचेलकता की ओर झुका हुआ समुदाय भी अचेलकता को एक विशिष्ट तपश्चर्या के रूप में देखता था एव अपनी अमुक मर्यादाओ के कारण वह स्वय उस ओर नही जा सकता था। एतद्विषयक अनेक प्रमाण अङ्ग-शास्त्रों में आज भी उपलब्ध हैं। अगसाहित्य में अचेलकता एव सचेलकता दोनो प्रथाओ का सापेक्ष समर्थन मिलता है।

अचेलक अर्थात् यथाजात एव सचेलक अर्थात् अल्पवस्त्रधारी—इन दोनों प्रकार के साधक श्रमणों में अमुक प्रकार का श्रमण अपने को अधिक उत्कृष्ट समझे

एव दूसरे को अपकृष्ट समझे, यह ठीक नही। यह बात आचाराग्र के मूल में ही कही गई है। वृत्तिकार ने भी अपने शब्दो में इसी आशय को अधिक स्पष्ट किया है। उन्होने तत्सम्बन्धी एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है जो इस प्रकार है —

जो वि दुवत्थतिवत्थो बहुवत्थ अचेलओ व सथरइ।
न हु ते हीलति पर सव्वे वि अ ते जिणाणाए॥

—द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सू० २८६, पृ० ३२७ पर वृत्ति

कोई चाहे द्विवस्त्रधारी हो, त्रिवस्त्रधारी हो, बहुवस्त्रधारी हो अथवा निर्वस्त्र हो किन्तु उन्हें एक-दूसरे की अवहेलना नही करनी चाहिए। निर्वस्त्र ऐसा न समझे कि मैं उत्कृष्ट हूँ और ये द्विवस्त्रधारी आदि अपकृष्ट हैं। इसी प्रकार द्विवस्त्रधारी आदि ऐसा न समझें कि हम उत्कृष्ट है और यह त्रिवस्त्रधारी या निर्वस्त्र श्रमण अपकृष्ट हैं उन्हें एक-दूसरे का अपमान नही करना चाहिए क्योकि ये सभी जिन भगवान् की आज्ञा का अनुसरण करने वाले हैं।

इससे स्पष्ट है कि निर्वस्त्र व वस्त्रधारी दोनो के प्रति मूल सूत्रकार से लगा कर वृत्तिकारपर्यन्त समस्त आचार्यों ने अपना समभाव व्यक्त किया है। उत्तराध्ययन में आने वाले केशी-गौतमीय नामक २३ वें अध्ययन के सवाद में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

आचार के पर्याय

जहाँ-जहाँ द्वादशाग अर्थात् बारह अगग्रथो के नाम बताये गये हैं, सवत्र प्रथम नाम आचाराग का आता है। आचार के पर्यायवाची नाम नियुक्तिकार ने इस प्रकार बताये है आयार, आचाल, आगाल, आगर, आसास, आयरिस, अग, आइण्ण, आजाति एव आमोक्ष। इन दस नामो में आदि के दो नाम भिन्न नही अपितु एक ही शब्द के दो रूपान्तर है। 'आचाल' के 'च' का लोप नही हुआ है जबकि 'आयार' में 'च' लुप्त है। इसके अतिरिक्त 'आचाल' में मागधी भाषा के नियम के अनुसार 'र' का 'ल' हुआ है। 'आगाल' शब्द भी 'आयार' से भिन्न मालूम नही पडता। 'य' तथा 'ग' का प्राचीन लिपि की अपेक्षा से मिश्रण होना सभव है तथा वर्तमान हस्तप्रतियो में प्रयुक्त प्राचीन देवनागरी लिपि की अपेक्षा से भी इनका मिश्रण असम्भव नही है। ऐसी स्थिति में 'आयार' के बजाय 'आगाल' का वाचन सभव है। इसी प्रकार 'आगाल' एव 'आगर' भी भिन्न मालूम नही पडते। 'आगार' शब्द के 'गा' के 'आ' का ह्रस्व होने पर 'आगर' एव 'आगार' के 'र' का 'ल' होने पर 'आगाल' होना सहज है। 'आइण्ण' (आचीर्ण) नाम में 'चर' धातु के भूतकृदत का प्रयोग हुआ है। इसे देखते हुए 'आयार' के अन्तर्गत

इस नाम का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार आयार, आचाल, आगाल, आगर एव आइण्ण भिन्न-भिन्न शब्द नही अपितु एक ही शब्द के विभिन्न रूपान्तर हैं। आसास, आयरिस, अग, आजाति एव आमोक्ष शब्द आयार शब्द से भिन्न है। इनमें से 'अग' शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ रहा हुआ है जैसे आयारअग अथवा आयारग इत्यादि। आयार—आचार सूत्र श्रुतरूप पुरुष का एक विशिष्ट अग है अत. इसे आयारग—आचाराग कहा जाता है। 'आजाति' शब्द स्थानाग-सूत्र में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है जन्म के अर्थ में व आचारदशा नामक शास्त्र के दसवें अध्ययन के नाम के रूप में। सभवत आचारदशा व आचार के नाम-साम्य के कारण आचारदशा के अमुक अध्ययन का नाम समग्र आचाराग के लिए प्रयुक्त हुआ हो। आसास आदि शेष शब्दों की कोई उल्लेखनीय विशेषता प्रतीत नही होती।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन

नवब्रह्मचर्यरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनो के नामो का निर्देश स्थानाग व समवायाग में उपलब्ध है। इसी प्रकार का अन्य उल्लेख आचारागनिर्युक्ति (गा० ३१-२) में भी मिलता है। तदनुसार नौ अध्ययन इस प्रकार हैं १ सत्थपरिण्णा (शस्त्रपरिज्ञा), २ लोगविजय (लोकविजय), ३ सीओसणिज्ज (शीतोष्णीय), ४ सम्मत्त (सम्यक्त्व), ५ आवति (यावन्त), ६ धूम (धूत), ७ विमोह (विमोह अथवा विमोक्ष), ८ उवहाणसुअ (उपधानश्रुत), ९ महा-परिण्णा (महापरिज्ञा)। नदिसूत्र की हारिभद्रीय तथा मलयगिरिकृत वृत्ति मे महा-परिण्णा का क्रम आठवां तथा उवहाणसुअ का क्रम नववां है। आचाराग निर्युक्ति में धूअ के बाद महापरिण्णा, उसके बाद विमोह व उसके बाद उवहाणसुअ का निर्देश है। इस प्रकार अध्ययनक्रम में कुछ अन्तर होते हुए भी सख्या की दृष्टि से सब एकमत हैं। इन नवो अध्ययनो का एक सामान्य नाम नवब्रह्मचर्य भी है। यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द व्यापक अर्थ—सयम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचाराग की उपलब्ध वाचना में छठा धूअ, सातवा महापरिण्णा, आठवा विमोह एव नववा उवहाणसुअ—इस प्रकार का क्रम है। निर्युक्तिकार ने तथा वृत्तिकार शीलाक ने भी यही क्रम स्वीकार किया है। प्रस्तुत चर्चा में इसी क्रम का अनुसरण किया जाएगा।

उपर्युक्त नौ अध्ययनो में से प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा है। इसमे कुल मिलाकर सात उद्देशक—प्रकरण हैं। निर्युक्तिकार ने इन उद्देशको का विषयक्रम निरूपण करते हुए बताया है कि प्रथम उद्देशक में जीव के अस्तित्व का निरूपण है तथा आगे के छ उद्देशकों में पृथ्वीकाय आदि छः जीवनिकायो के

आरम्भ-समारम्भ की चर्चा है। इन प्ररूपणा में शस्त्र शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है एव लौकिक शस्त्र की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रकार के शस्त्र के अभिधेय का स्पष्ट परिज्ञान कराया गया है। अत शब्दार्थ की दृष्टि से भी इस अध्ययन का शस्त्रपरिज्ञा नाम सार्थक है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है। इसमें कुल छ उद्देशक हैं। कुछ स्थानो पर 'गढ़िए लोए, लोए पव्वहिए, लोगविपस्सी, विइत्ता लोग, वता लोगसन्न, लोगस्स कम्मसमारभा' इस प्रकार के वाक्यों में 'लोक' शब्द का प्रयोग तो मिलता है किन्तु सारे अध्ययन में कही भी 'विजय' शब्द का प्रयोग नही दिखाई देता। फिर भी समग्र अध्ययन में लोकविजय का ही उपदेश है, ऐसा कहा जा सकता है। यहा विजय का अर्थ लोकप्रसिद्ध जीत ही है। लोक पर विजय प्राप्त करना अर्थात् ससार के मूल कारणरूप क्रोध, मान, माया व लोभ—इन चार कषायो को जीतना। यही इस अध्ययन का सार है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के छहो उद्देशको का जो विषयानुक्रम बताया है वह उसी रूप मे उपलब्ध है। वृत्तिकार ने भी उसी का अनुसरण किया है। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वैराग्य बढाना, सयम मे दृढ करना, जातिगत अभिमान को दूर करना, भोगो की आसक्ति से दूर रखना, भोजनादि के निमित्त होने वाले आरम्भ-समारम्भ का त्याग करवाना, ममता छुड़वाना आदि है।

तृतीय अध्ययन का नाम सीओसणिज्ज—शीतोष्णीय है। इसके चार उद्देशक है। शीत अर्थात् शीतलता अथवा सुख एव उष्ण अर्थात् परिताप अथवा दु ख। प्रस्तुत अध्ययन मे इन दोनो के त्याग का उपदेश है। अध्ययन के प्रारम्भ में ही 'सीओसिणच्चाई' (शीतोष्णत्यागी) ऐसा शब्द-प्रयोग भी उपलब्ध है। इस प्रकार अध्ययन का शीतोष्णीय नाम सार्थक है। निर्युक्तिकार ने चारो उद्देशको का विषयानुक्रम इस प्रकार बताया है प्रथम उद्देशक मे असयमी को सुप्त—सोते हुए की कोटि मे गिना गया है। दूसरे उद्देशक मे बताया है कि इस प्रकार के सुप्त व्यक्ति महान् दु ख का अनुभव करते है। तृतीय उद्देशक में कहा गया है कि श्रमण के लिए केवल दु ख सहन करना अर्थात् देहदमन करना ही पर्याप्त नही है। उसे चित्तशुद्धि की भी वृद्धि करते रहना चाहिए। चतुर्थ अध्ययन में कषाय त्याग, पापकर्म-त्याग एव सयमोत्कर्ष का निरूपण है। यही विषयक्रम वर्तमान में भी उपलब्ध है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्मत्त—सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में अहिंसाधर्म की स्थापना व सम्यक्त्ववाद का निरूपण है। द्वितीय उद्देशक में हिंसा की स्थापना करने वाले अन्य यूथिको को अनार्य कहा गया है

एव उनसे प्रश्न किया गया है कि उन्हें मन की अनुकूलता सुखरूप प्रतीत होती है अथवा मन की प्रतिकूलता ? इस प्रकार इस उद्देशक में भी अहिंसाधर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उद्देशक में निर्दोष तप का अर्थात केवल देह-दमन का नही अपितु चित्तशुद्धिपोषक अक्रोध, अलोभ, क्षमा, सतोष आदि गुणो की वृद्धि करने वाले तप का निरूपण है । चतुर्थ उद्देशक में सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एव सम्यक्तप की प्राप्ति के लिए यत्न करने का उपदेश है। इस प्रकार यह अध्ययन सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देने वाला है। इसमें अनेक स्थानो पर 'सम्मत्तदसिणो, सम्म एव ति' आदि वाक्यो में सम्मत्त—सम्यक्त्व शब्द का साक्षात् निर्देश भी है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन का सम्यक्त्व नाम सार्थक है। विषयानुक्रम की दृष्टि से भी नियुक्तिकार व सूत्रकार में साम्य है।

नियुक्तिकार के कथनानुसार पाचवें अध्ययन के दो नाम हैं : आवंति व लोकसार। अध्ययन के प्रारम्भ में, मध्य एव अन्त में आवति शब्द का प्रयोग हुआ है अत: इसे आवति नाम दे सकते हैं। इसमें जो कुछ निरूपण है वह समग्र-लोक का साररूप है अत इसे लोकसार भी कहा जा सकता है। अध्ययन के प्रारम्भ में ही 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्यत्र भी अनेक बार 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है। समग्र अध्ययन में कही भी 'सार' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर नही होता। अध्ययन के अन्त में शब्दातीत एव बुद्धि व तर्क से अगम्य आत्मतत्त्व का निरूपण है। यही निरूपण साररूप है, यो समझ कर इसका नाम लोकसार रखा गया हो, यह सभव है। इसके छ उद्देशक है। नियुक्तिकार ने इनका जो विषयक्रम बताया है वह आज भी उसी रूप में उपलब्ध है। इनमें सामान्य श्रमणचर्या का प्रतिपादन है।

छठे अध्याय का नाम धूत है। अध्ययन के आरम्भ में ही 'अग्घाइ से धूय नाण' इस वाक्य में धूय—धून शब्द का उल्लेख है। आगे भी धूयवायं पवेएस्सामि' यो कह कर धूतवाद का निर्देश किया है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन का धूत नाम सार्थक है। हमारी भाषा में 'अवधूत' शब्द का जो अर्थ प्रचलित है वही अर्थ प्रस्तुत धूत शब्द का भी है। इस अध्ययन के पाँच उद्देशक हैं। इसमें तृष्णा को झटकने का उपदेश है। आत्मा में जो सयण याने सदन, शयन या स्वजन, उपकरण, शरीर, रस, वैभव, सत्कार आदि की तृष्णा विद्यमान है उसे झटक कर साफ कर देना चाहिए।

सातवें अध्ययन का नाम महापरिन्ना—महापरिज्ञा है। यह अध्ययन वर्तमान में अनुपलब्ध है किन्तु इस पर लिखी गई नियुक्ति उपलब्ध है। इससे पता

चलता है कि निर्युक्तिकार के सामने यह अध्ययन अवश्य रहा होगा। निर्युक्तिकार ने 'महापरिन्ना' के 'महा' एव 'परिन्ना' इन दो पदो का निरूपण करने के साथ ही परिन्ना के प्रकारो का भी निरूपण किया है एव अन्तिम गाथा में बताया है कि साधक को देवागना, नरागना, व तिर्यञ्चागना इन तीनों का मन, वचन व काया से त्याग करना चाहिए। इस परित्याग का नाम महापरिज्ञा है। इस अध्ययन का विषय निर्युक्तिकार के शब्दो में 'मोहसमुत्था परिसहुवसग्गा' अर्थात् मोहजन्य परीषह अथवा उपसर्ग हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार शीलाकदेव कहते हैं कि सयमी श्रमण को साधना में विघ्नरूप से उत्पन्न मोहजन्य परीषहो अथवा उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए[1]। स्त्री-ससग भी एक मोहजन्य परीषह ही है। भगवान् महावीरकृत आचारविधानों में ब्रह्मचर्य अर्थात् त्रिविध स्त्री-ससर्गत्याग प्रधान है। परम्परा से चले आने वाले चार यामो—चार महाव्रतो में भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अलग से जोडा। इससे पता चलता है कि भगवान् महावीर के समय में एतद्विषयक कितनी शिथिलता रही होगी। इस प्रकार के उग्रशैथिल्य एव आचारपतन के युग में कोई विघ्नसतोषी कदाचित् इस अध्ययन के लोप मे निमित्त बना हो तो कोई आश्चर्य नही।

आठवें अध्ययन के दो नाम मालूम पडते हैं एक विमोक्ख अथवा विमोक्ष और दूसरा विमोह। अध्ययन के मध्य में 'इच्चेय विमोहायतण' तथा 'अणुपुव्वेण विमोहाइ' व अध्ययन के अन्त में 'विमोहन्नयर हिय' इन वाक्यो में स्पष्ट रूप से विमोह' शब्द का उल्लेख है। यही शब्दप्रयोग अध्ययन के नामकरण में निमित्तभूत मालूम होता है। निर्युक्तिकार ने नाम के रूप में 'विमोक्ख-विमोक्ष' शब्द का उल्लेख किया है। वृत्तिकार शीलाकसूरि मूल व निर्युक्ति दोनो का अनुसरण करते हैं। अर्थ की दृष्टि से विमोह व विमोक्ख में कोई तात्त्विक भेद नही है। प्रस्तुत अध्ययन के आठ उद्देशक हैं। उद्देशको की सख्या की दृष्टि से यह अध्ययन शेष आठो अध्ययनो से बडा है। निर्युक्तिकार का कथन है कि इन आठो उद्देशको में विमोक्ष विषयक निरूपण है। विमोक्ष का अर्थ है अलग हो जाना—साथ मे न रहना। विमोह का अर्थ है मोह न रखना—ससर्ग न करना। प्रथम उद्देशक में बताया है कि जिन अनगारो का आचार अपने आचार से मिलता न दिखाई दे उनके ससर्ग से मुक्त रहना चाहिए—उनके साथ नही रहना चाहिए अथवा वैसे अनगारो से मोह नही रखना चाहिए—उनका सग नही

---

१ सप्तमे त्वयम्—सयमादिगुणयुक्तस्य कदाचिद् मोहसमुत्था परीषहा उपसर्गा वा प्रादुर्भवेयु ते सम्यक् सोढव्या —पृ० ९

करना चाहिए। दूसरे उद्देशक में बताया है कि आहार, पानी, वस्त्र आदि दूषित हो तो उनका त्याग करना चाहिए—उनसे अलग रहना चाहिए—उन पर मोह नही रखना चाहिए। तृतीय उद्देशक में बताया है कि साधु के शरीर का कपन देख कर यदि कोई गृहस्थ शका करे कि यह साधु कामावेश के कारण कांपता है तो उसकी शका को दूर करना चाहिए—उसे शका से मुक्त करना चाहिए—उसका शकारूप जो मोह है उसे दूर करना चाहिए। आगे के उद्देशको में उपकरण एव शरीर के विमोक्ष अथवा विमोह के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है जिसका सार यह है कि यदि ऐसी शारीरिक परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि सयम की रक्षा न हो सके अथवा स्त्री आदि के अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपसर्ग होने पर सयम-भग की स्थिति पैदा हो जाय तो विवेकपूर्वक जीवन का मोह छोड देना चाहिए अर्थात् शरीर आदि से आत्मा का विमोक्ष करना चाहिए।

नवें अध्ययन का नाम उवहाणसुय–उपधानश्रुत है। इसमें भगवान् महावीर की गभीर ध्यानमय व घोरतपोमय साधना का वर्णन है। उपधान शब्द तप के पर्याय के रूप में जैन प्रवचन में प्रसिद्ध है। इसीलिए इसका नाम उपधानश्रुत रखा गया मालूम होता है। नियुक्तिकार ने इस अध्ययन के नाम के लिए 'उवहाणसुय' शब्द का प्रयोग किया है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उददेशक में दीक्षा लेने के बाद भगवान् को जो कुछ सहन करना पडा उसका वर्णन है। उन्होने सर्वप्रकार की हिंसा का त्याग कर अहिंसामय चर्या स्वीकार की। वे हेमत ऋतु में अर्थात् कडकडाती ठडी में घरबार छोड कर निकल पडे एव कठोर प्रतिज्ञा की कि 'इस वस्त्र से शरीर को ढकूगा नही' इत्यादि। द्वितीय एव तृतीय उद्देशक में भगवान् ने कैसे-कैसे स्थानो में निवास किया एव वहाँ उन्हें कैसे-कैसे परीषह सहन करने पडे, यह बताया गया है। चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि भगवान् ने किस प्रकार तपश्चर्या की, भिक्षाचर्या में क्या-क्या व कैसा-कैसा शुष्क भोजन लिया, कितने समय तक पानी पिया व न पिया, इत्यादि। पहले 'आचार' के जो पर्यायवाची शब्द बताये हैं उनमें एक 'आइण्ण' शब्द भी है। आइण्ण का अर्थ है आचीर्ण अर्थात् आचरित। आचाराग में जिस प्रकार की चर्या का वर्णन किया गया है, वैसी ही चर्या का जिसने आचरण किया है उसका इस अध्ययन में वर्णन है। इसी को दृष्टि में रखते हुए सम्पूर्ण आचाराग का एक नाम 'आइण्ण' भी रखा गया है।

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों के सब मिलाकर ५१ उद्देशक हैं। इनमें से सातवें अध्ययन महापरिज्ञा के सातो उद्देशको का लोप हो जाने के कारण वर्तमान में ४४ उद्देशक ही उपलब्ध है। नियुक्तिकार ने इन सब उद्देशकों का विषयानुक्रम बताया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की चूलिकाएँ

आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध पाँच चूलिकाओ में विभक्त है। इनमें से प्रथम चार चूलिकाएँ तो आचाराग में ही हैं किन्तु पाँचवी चूलिका विशेष विस्तृत होने के कारण आचाराग से भिन्न कर दी गई है जो निशीथसूत्र के नाम से एक अलग ग्रन्थ के रूप से उपलब्ध है। नन्दिसूत्रकार ने कालिक सूत्रो की गणना में 'निसीह' नामक जिस शास्त्र का उल्लेख किया है वह आचाराग्र—आचार-चूलिका का यही प्रकरण हो सकता है। इसका दूसरा नाम आचारकल्प अथवा आचारप्रकल्प भी है जिसका उल्लेख निर्युक्ति, स्थानाग व समवायाग में मिलता है।

आचाराग्र की चार चूलिकाओ में से प्रथम चूलिका के सात अध्ययन है - १ पिण्डैषणा, २ शय्यैषणा, ३ ईर्यैषणा, ४ भाषाजातैषणा, ५ वस्त्रैषणा, ६. पात्रैषणा, ७ अवग्रहैषणा। द्वितीय चूलिका के भी सात अध्ययन हैं १ स्थान, २ निषीधिका, ३ उच्चारप्रस्रवण, ४ शब्द, ५ रूप, ६ परक्रिया, ७ अन्योन्यक्रिया। तृतीय चूलिका में भावना नामक एक ही अध्ययन है। चतुर्थ चूलिका में भी एक ही अध्ययन है जिसका नाम विमुक्ति है। इस प्रकार चारो चूलिकाओ में कुल सोलह अध्ययन हैं। इन अध्ययनो के नामो की योजना तद-न्तर्गत विषयो को ध्यान में रखते हुए निर्युक्तिकार ने की प्रतीत होती है। पिण्डैषणा आदि समस्त नामो का विवेचन निर्युक्तिकार ने निक्षेपपद्धति द्वारा किया है। पिण्ड का अर्थ है आहार, शय्या[1] का अर्थ है निवासस्थान, ईर्या का अर्थ है गमनागमन प्रवृत्ति, भाषाजात का अर्थ है भाषासमूह, अवग्रह का अथ है गमनागमन की स्थानमर्यादा। वस्त्र, पात्र, स्थान, शब्द व रूप का वही अथ है जो सामान्यतया प्रचलित है। निषीधिका अर्थात् स्वाध्याय एव ध्यान करने का स्थान, उच्चारप्रस्रवण अर्थात् दीर्घशका एव लघुशका, परक्रिया अर्थात् दूसरो द्वारा की जानेवाली सेवाक्रिया, अन्योन्यक्रिया अर्थात् परस्पर की जाने वाली अनुचित क्रिया, भावना अर्थात् चिन्तन, विमुक्ति अर्थात् वीतरागता।

---

१ मूल में सेज्जा व सिज्जा शब्द है। इसका सस्कृत रूप 'सद्या' मानना विशेष उचित होगा। निषद्या और सद्या ये दोनो समानार्थक शब्द है तथा सदन, सद्म आदि शब्द वसति-निवास-स्थान के सूचक हैं परन्तु प्राचीन लोगो ने सेज्जा व सिज्जा का सस्कृत रूप 'शय्या' स्वीकार किया है। हेमचन्द्र जैसे प्रखर प्रतिभाशाली वैयाकरण ने भी 'शय्या' का 'सेज्जा' बनाने का नियम दिया है। सदन, सद्म और सद्या ये सभी पर्यायवाची शब्द है।

पिण्डैषणा अध्ययन में ग्यारह उद्देशक हैं जिनमें बताया गया है कि श्रमण को अपनी साधना के अनुकूल सयम पोषण के लिए आहार-पानी किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए। सयम-पोषक निवासस्थान की प्राप्ति के सम्बन्ध में शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन में सविस्तर विवेचन है। इसके तीन उद्देशक हैं। ईर्येषणा अध्ययन में कैसे चलना, किस प्रकार के मार्ग पर चलना आदि का विवेचन है। इसके भी तीन उद्देशक हैं। भाषाजात अध्ययन में श्रमण को किस प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए, किसके साथ कैसे बोलना चाहिए आदि का निरूपण है। इसमें दो उद्देशक हैं। वस्त्रैषणा अध्ययन मे वस्त्र किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए इत्यादि का विवेचन है। इसमें भी दो उद्देशक हैं। पात्रैषणा नामक अध्ययन में पात्र के रखने व प्राप्त करने का विधान है। इसके भी दो उद्देशक हैं। अवग्रहैषणा अध्ययन में श्रमण को अपने लिए स्वीकार करने के मर्यादित स्थान को किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए, यह बताया गया है। इसके भी दो उद्देशक हैं। इस प्रकार प्रथम चूलिका के कुल मिलाकर पचीस उद्देशक हैं।

द्वितीय चूलिका के सातो अध्ययन उद्देशकरहित हैं। प्रथम अध्ययन में स्थान एव द्वितीय में निषीधिका की प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। तृतीय में दीर्घशका व लघुशका के स्थान के विषय में विवेचन है। चतुर्थ व पचम अध्ययन में क्रमश शब्द व रूपविषयक निरूपण है जिसमें बताया गया है कि किसी भी प्रकार के शब्द व रूप से श्रमण में रागद्वेष उत्पन्न नही होना चाहिये। छठे में परक्रिया एव सातवें में अन्योन्यक्रियाविषयक विवेचन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध मे जो आचार बताया गया है उसका आचरण किसने किया है ? इस प्रश्न का उत्तर तृतीय चूलिका में है। इसमें भगवान् महावीर के चरित्र का वर्णन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवम अध्ययन उपधानश्रुत में भगवान् के जन्म, माता पिता, स्वजन इत्यादि के विषय में कोई उल्लेख नही है। इन्ही सब बातो का वर्णन तृतीय चूलिका में है। इसमें पाँच महाव्रतो एव उनकी पाँच-पाँच भावनाओ का स्वरूप भी बताया गया है। इस प्रकार 'भावना' के वर्णन के कारण इस चूलिका का भावना नाम सार्थक है।

चतुर्थ चूलिका में केवल ग्यारह गाथाएँ हैं जिनमें विभिन्न उपमाओ द्वारा वीतराग के स्वरूप का वर्णन किया गया है। अन्तिम गाथा में सबसे अन्त में 'विमुच्चइ' क्रियापद है। इसी को दृष्टि में रखते हुए इस चूलिका का नाम विमुक्ति रखा गया है।

एक रोचक कथा .

उपर्युक्त चार चूलिकाओ में से अन्तिम दो चूलिकाओं के विषय में एक रोचक

कथा मिलती है। यद्यपि निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट बताया है कि आचाराग्र की पांच चूलिकाएँ स्थविरकृत है फिर भी आचार्य हेमचन्द्र ने तृतीय व चतुर्थ चूलिका के सम्बन्ध मे एक ऐमी कथा दी है जिसमें इनका सम्बन्ध महाविदेह क्षेत्र में विराजित सीमधर तीर्थङ्कर के साथ जोडा गया है। यह कथा परिशिष्ट पर्व के नवम सर्ग में है। इसका सम्बन्ध स्थूलभद्र के भाई श्रियक की कथा से है। श्रियक की बडी बहन साध्वी यक्षा के कहने से श्रियक ने उपवास किया और वह मर गया। श्रियक की मृत्यु का कारण यक्षा अपने को मानती रही। किन्तु वह श्रीसघ द्वारा निर्दोष घोषित की गई एव उसे श्रियक की हत्या का कोई प्रायश्चित्त नही दिया गया। यक्षा श्रीसघ के इस निणय से सन्तुष्ट न हुई। उसने घोषणा की कि जिन भगवान् खुद यदि यह निर्णय दें कि मैं निर्दोष हूँ तभी मुझे सन्तोष हो सकता है। तब समस्त श्रीसघ ने शासनदेवी का आह्वान करने के लिए काउसग्ग—कायोत्सर्ग—ध्यान किया। ऐसा करने पर तुरन्त शासनदेवी उपस्थित हुई एव साध्वी यक्षा को अपने साथ महाविदेह क्षेत्र में विराजित सीमधर भगवान् के पास ले गई। सीमधर भगवान् ने उसे निर्दोष घोषित किया एव प्रसन्न होकर श्रीसघ के लिए निम्नोक्त चार अध्ययनो का उपहार दिया भावना, विमुक्ति, रतिकल्प और विचित्रचर्या। श्रीसघ ने यक्षा के मुख से सुन कर प्रथम दो अध्ययनो को आचाराग की चूलिका के रूप में एव अन्तिम दो अध्ययनो को दशवैकालिक का चूलिका के रूप में जोड दिया।

हेमचन्द्रसूरिलिखित इस कथा के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में चर्चा करने की कोई आवश्यकता नही। उन्होने यह घटना कहाँ से प्राप्त की, यह अवश्य शोधनीय है। दशवैकालिक-नियुक्ति, आचाराग-नियुंक्ति, हरिभद्रकृत दशवैकालिक-वृत्ति, शीलाककृत आचाराग-वृत्ति आदि में इस घटना का कोई उल्लेख नही है।

पद्यात्मक अश -

आचाराग-प्रथमश्रुतस्कन्ध के विमोह नामक अष्टम अध्ययन का सम्पूर्ण आठवाँ उद्देशक पद्यमय है। उपधानश्रुत नामक सम्पूर्ण नवम अध्ययन भी पद्यमय है। यह बिलकुल स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त द्वितीय अध्ययन लोकविजय, तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय एव षष्ठ अध्ययन धूत में कुछ पद्य बिलकुल स्पष्ट हैं। इन पद्यो के अतिरिक्त आचाराग में ऐसे अनेक पद्य और हैं जो मुद्रित प्रतियो में गद्य के रूप में छपे हुए हैं। चूर्णिकार कही-कही 'गाहा' (गाथा) शब्द द्वारा मूल के पद्यभाग का निर्देश करते हैं किन्तु वृत्तिकार ने तो शायद ही ऐसा कही किया हो। आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सम्पादक श्री शुब्रिग ने अपने सस्करण में समस्त पद्यो का स्पष्ट पृथक्करण किया है एव उनके छदो पर भी जर्मन भाषा में पर्याप्त प्रकाश

डाला है तथा बताया है कि इनमें आर्या, जगती, त्रिष्टुभ, वैतालीय, श्लोक आदि का प्रयोग हुआ है। साथ ही बौद्ध पिटकग्रन्थ सुत्तनिपात के पद्यो के साथ आचाराग प्रथमश्रुतस्कन्ध के पद्यो की तुलना भी की है। आश्चर्य है कि शीलाक से लेकर दीपिकाकार तक के प्राचीन व अर्वाचीन वृत्तिकारो का ध्यान आचाराग के पद्य-भाग के पृथक्करण की ओर नही गया। वर्तमान भारतीय सशोधको, सपादको एव अनुवादको का ध्यान भी इस ओर न जा सका, यह खेद का विषय है।

आचाराग्ररूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम दो चूलिकाएँ पूरी गद्य मे हैं। तृतीय चूलिका में दो-चार जगह पद्य का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। इसमें महावीर की सम्पत्ति के दान के सम्बन्ध में उपलब्ध वर्णन छ आर्याओ में है। महावीर द्वारा दीक्षाशिविका में बैठ कर ज्ञातखण्ड वन की ओर किये गये प्रस्थान का वर्णन भी ग्यारह आर्याओ मे है। भगवान् जिस समय सामायिक चारित्र अगीकार करने के लिए प्रतिज्ञावचन का उच्चारण करते हैं उस समय उपस्थित जनसमूह इस प्रकार शान्त हो जाता है मानो वह चित्रलिखित हो। इस दृश्य का वणन भी दो आर्याओ में है। आगे पाँच महाव्रतो की भावनाओ का वणन करते समय अपरिग्रह व्रत की भावना के वर्णन मे पाँच अनुष्टुभो का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार भावना नामक तृतीय चूलिका में कुछ चौवीस पद्य है। शेप सम्पूण अश गद्य में है। विमुक्ति नामक चतुर्थ चूलिका पूरी पद्यमय है। इसमें कुल ग्यारह पद्य हैं जो उपजाति जैसे किसी छन्द में लिखे गये प्रतीत होते हैं। सुत्तनिपात के आमगधसुत्त में भी ऐसे छद का प्रयोग हुआ है। इस छद में प्रत्येक पाद में बारह अक्षर होते हैं। इस प्रकार पूरे द्वितीय श्रुतस्कन्ध में कुल पैतीस पद्यो का प्रयोग हुआ है।

आचाराग की वाचनाएँ ·

नदिसूत्र व समवायाग में लिखा है कि आचाराग की अनेक वाचनाएँ है। वर्तमान में ये सब वाचनाएँ उपलब्ध नही हैं किन्तु शीलाक की वृत्ति मे स्वीकृत पाठरूप एक वाचना व उसमें नागार्जुनीय के नाम से उल्लिखित दूसरी वाचना—इस प्रकार दो वाचनाएँ प्राप्य हैं। नागार्जुनीय वाचना के पाठभेद वर्तमान पाठ से बिलकुल विलक्षण हैं। उदाहरण के तौर पर वर्तमान में आचाराग में एक पाठ इस प्रकार उपलब्ध है ·—

कट्टु एवं अवयाणओ बिइया मदस्स बालिया लद्धा हुरत्था।

—आचाराग श्र ५, उ १, सू १४५.

इस पाठ के बजाय नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है ·—

जे खलु विमए सेवई सेवित्ता णालोएइ, परेण वा पुट्ठो निण्हवइ, अहवा त पर सएण वा दोमेण पाविट्ठयरेण वा दोमेण उवलिंपिज्ज त्ति।

आचार्य शीलाक ने अपनी वृत्ति में जो पाठ स्वीकार किया है उसमें और नागार्जुनीय पाठ मे शब्द रचना की दृष्टि से बहुत अन्तर है, यद्यपि आशय में भिन्नता नही है। नागार्जुनीय पाठ स्वीकृत पाठ की अपेक्षा अति स्पष्ट एव विशद है। उदाहरण के लिए एक और पाठ लें —

विगाग रूवेसु गच्छेज्जा महया—खुड्डएहि (एसु) वा।
—आचाराग अ ३, उ ३, सू ११७

इस पाठ के बजाय नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है —

त्रिसयम्मि पचगम्मि वि दुविहम्मि तिय तिय।
भावओ सुट्ठ जाणित्ता स न लिप्पइ दोसु वि॥

नागार्जुनीय पाठान्तरो के अतिरिक्त वृत्तिकार ने और भी अनेको पाठभेद दिये है, जैसे 'मोयणाए' के स्थान पर 'भोयणाए', 'चित्ते' के स्थान पर 'चिट्ठे', 'पियाउया' के स्थान पर 'पियायया' इत्यादि। सभव है, इस प्रकार के पाठ-भेद मुखाग्रश्रुत की परम्परा के कारण अथवा प्रतिलिपिकार के लिपिदोष के कारण हुए हो। इन पाठ भेदो मे विशेष अर्थभेद नही है। हा कभी-कभी इनके अर्थ में अन्तर अवश्य दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'जातिमरणमोयणाए' का अर्थ है जन्म और मृत्यु से मुक्ति प्राप्त करने के लिए, जब कि 'जातिमरणभोयणाए' का अर्थ है जातिभोज अथवा मृत्युभोज के उद्देश्य से। यहा जातिभोज का अर्थ है जन्म के प्रसग पर किया जाने वाला भोजन का समारभ अथवा जाति विशेष के निमित्त होने वाला भोजन-समारभ एव मृत्युभोज का अर्थ है श्राद्ध अथवा मृतकभोजन।

आचाराग के कर्ता

आचाराग के कर्तृत्व के सम्बन्ध में इसका उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य कुछ प्रकाश डालता है। वह वाक्य इस प्रकार है सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय—हे चिरञ्जीव ! मैंने सुना है कि उन भगवान् ने ऐसा कहा है। इस वाक्य रचना से यह स्पष्ट है कि कोई तृतीय पुरुष कह रहा है कि मैंने ऐसा सुना है कि भगवान् ने यो कहा है। इसका अर्थ यह है कि मूल वक्ता भगवान् है। जिसने सुना है वह भगवान् का साक्षात् श्रोता है। और उसी श्रोता से सुनकर जो इस समय सुना रहा है, वह श्रोता का श्रोता है। यह परम्परा वैसी ही है जैसे कोई एक महाशय प्रवचन करते हो, दूसरे महाशय उस प्रवचन को सुनते

हो एव सुन कर उमे तीसरे महाशय को सुनाते हो। इससे यह ध्वनित होता है कि भगवान् के मुख से निकले हुए शब्द तो वे ज्यो-ज्यो बोलते गये त्यो-त्यो विलीन होते गये। बाद में भगवान् की कही हुई बात बताने का प्रसग आने पर सुनने वाले महाशय यो कहते हैं कि मैंने भगवान् से ऐसा सुना है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोगो के पास भगवान् के खुद के शब्द नही आते अपितु किसी सुनने वाले के शब्द आते हैं। शब्दो का ऐसा स्वभाव होता है कि वे जिस रूप से बाहर आते है उसी रूप में कभी नही टिक सकते। यदि उन्हें उसी रूप में सुरक्षित रखने की कोई विशेष व्यवस्था हो तो अवश्य वैसा हो सकता है। वर्तमान युग में इस प्रकार के वैज्ञानिक साधन उपलब्ध हैं। ऐसे साधन भगवान् महावीर के समय में विद्यमान न थे। अत हमारे सामने जो शब्द हैं वे साक्षात् भगवान् के नही अपितु उनके हैं जिन्होने भगवान् से सुने हैं। भगवान् के खुद के शब्दो व श्रोता के शब्दो में शब्द के स्वरूप की दृष्टि से वस्तुत बहुत अन्तर है। फिर भी ये शब्द भगवान् के ही हैं, इस प्रकार की छाप मन परसे किसी भी प्रकार नही मिट सकती। इसका कारण यह है कि शब्दयोजना भले ही श्रोता की हो, आशय तो भगवान् का ही है।

अगसूत्रों की वाचनाएँ

ऐसी मान्यता है कि पहले भगवान् अपना आशय प्रकट करते हैं, बाद में उनके गणधर अर्थात् प्रधान शिष्य उस आशय को अपनी-अपनी शैली में शब्दबद्ध करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे। वे भगवान् के आशय को अपनी-अपनी शैली व शब्दो में ग्रथित करने के विशेष अधिकारी थे। इससे फलित होता है कि एक गणधर की जो शैली व शब्दरचना हो वही दूसरे की हो भी और न भी हो। इसीलिए कल्पसूत्र में कहा गया है कि प्रत्येक गणधर की वाचना भिन्न-भिन्न थी। वाचना अर्थात् शैली एव शब्दरचना। नन्दिसूत्र व समवायाग में भी बताया गया है कि प्रत्येक अङ्गसूत्र की वाचना परित्त (अर्थात् परिमित) अथवा एक से अधिक (अर्थात् अनेक) होती है।

ग्यारह गणधरो में से कुछ तो भगवान् की उपस्थिति में ही मुक्ति प्राप्त कर चुके थे। सुधर्मास्वामी नामक गणधर सब गणधरो में दीर्घायु थे। अत भगवान् के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार उन्हें मिला था। उन्होने उसे सुरक्षित रखा एव अपनी शैली व शब्दो में ग्रथित कर आगे की शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा को सौंपा। इस शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा ने भी सुधर्मास्वामी की ओर से प्राप्त वसीयत को अपनी शैली व शब्दों में बहुत लम्बे काल तक कण्ठस्थ रखा।

आचार्य भद्रबाहु के समय में एक भयङ्कर व लम्बा दुष्काल पडा। इस समय

की सम्भावना बहुत कम हो गई। देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने किसी प्रकार की नई वाचना का प्रवर्तन नही किया अपितु जो श्रुतपाठ पहले की वाचनाओ मे निश्चित हो चुका था उसी को एकत्र कर व्यवस्थित रूप मे ग्रन्थबद्ध किया। एतद्विषयक उपलब्ध उल्लेख इस प्रकार है —

> वलहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण।
> पुत्थइ आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ वीराओ ॥

अर्थात् वल्लभीपुर नामक नगर में देवर्द्धिप्रमुख श्रमणसघ ने वीरनिर्वाण ९८० (मतान्तर से ९९३) में आगमो को ग्रन्थबद्ध किया।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण :

वर्तमान समस्त जैन प्रबन्ध साहित्य में कही भी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण[1] जैसे

---

१ आगमों को पुस्तकारूढ करनेवाले आचार्य का नाम देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण है। अमुक विशिष्ट गीतार्थ पुरुष को 'गणी' और 'क्षमाश्रमण' कहा जाता है। जैसे विशेषावश्यकभाष्य के प्रणेता जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण है वैसे ही उच्चकोटि के गीतार्थ देवर्द्धि भी गणिक्षमाश्रमण है। इनकी गुरुपरपरा का क्रम कल्पसूत्र की स्थविरावली मे दिया हुआ है। इनको किसी भी ग्रन्थकार ने वाचक-वश में नहीं गिनाया। अत वाचकों से ये गणिक्षमाश्रमण अलग मालूम होते है और वाचकवश की परम्परा अलग मालूम होती है। नन्दिसूत्र के प्रणेता देववाचक नाम के आचार्य है। उनकी गुरुपरपरा नदिसूत्र की स्थविरावली में दी है और वे स्पष्टरूप से वाचकवश की परपरा में है अत देववाचक और देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण अलग-अलग आचार्य के नाम है तथा किसी प्रकार से कदाचित् गणिक्षमाक्षमण पद और वाचक पद भिन्न नही है ऐसा मानने पर भी इन दोनों आचार्यों की गुरुपरम्परा भी एक सी नही मालूम होती। इसलिए भी ये दोनो भिन्न-भिन्न आचार्य है। प्रश्नपद्धति नामक छोटे से ग्रथ में लिखा है कि नदिसूत्र देववाचक ने बनाया है और पाठो को बार-बार न लिखना पडे इसलिए देववाचककृत नन्दिसूत्र की साक्षी पुस्तकारूढ करते समय देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने दी है। ये दोनो आचार्य भिन्न-भिन्न होने पर ही प्रश्नपद्धति का यह उल्लेख सगत हो सकता है। प्रश्नपद्धति के कर्ता के विचार से ये दोनो एक ही होते तो वे ऐसा लिखते कि नदिसूत्र देववाचक की कृति है और अपनी ही कृति की साक्षी देवर्द्धि ने दी है, परन्तु उन्होंने ऐसा न लिखकर ये दोनो भिन्न भिन्न हो, इस प्रकार निर्देश किया है। प्रश्नपद्धति के कर्ता मुनि हरिश्चन्द्र हैं जो अपने को नवागीवृत्तिकार या अभयदेवसूरिके शिष्य कहते हैं।—देखो प्रश्नपद्धति, पृ० २ ९

महाप्रभावक आचार्य का सम्पूर्ण जीवन-वृत्तात उपलब्ध नही होता। इन्होने किन परिस्थितियो में आगमो को ग्रन्थबद्ध किया? उस समय अन्य कौन श्रुतधर पुरुष विद्यमान थे? वलभीपुर के सघ ने उनके इस कार्य में किस प्रकार की सहायता की? इत्यादि प्रश्नो के समाधान के लिए वर्तमान में कोई भी सामग्री उपलब्ध नही है। आश्चर्य तो यह है कि विक्रम की चौदहवी शताब्दी में होनेवाले आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने प्रभावक चरित्र में अन्य अनेक महाप्रभावक पुरुषो का जीवन चरित्र दिया है। किन्तु इनका कही निर्देश भी नही किया है।

देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने आगमो को ग्रन्थबद्ध करते समय कुछ महत्त्वपूर्ण बाते ध्यान मे रखी। जहाँ जहाँ शास्त्रो में समान पाठ आये वहाँ-वहाँ उनकी पुनरावृत्ति न करते हुए उनके लिए एक विशेष ग्रन्थ अथवा स्थान का निर्देश कर दिया, जैसे 'जहा उववाइए' 'जहा पण्णवणाए' इत्यादि। एक ही ग्रथ में वही बात बार-बार आने पर उसे पुन पुन न लिखते हुए 'जाव' शब्द का प्रयोग करते हुए उसका अन्तिम शब्द लिख दिया, जैसे 'णागकुमारा जाव विहरति,' तेण कालेण जाव परिसा णिग्गया' इत्यादि। इसके अतिरिक्त उन्होने महावीर के बाद की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ भी आगमो में जोड दी। उदाहरण के लिए स्थानाग में उल्लिखित दस गण भगवान् महावीर के निर्वाण के बहुत समय बाद उत्पन्न हुए। यही बात जमालि को छोडकर शेष निह्नवों के विषय में भी कही जा सकती है। पहले से चली आने वाली माथुरी व वालभी इन दो वाचनाओ में से देवर्द्धिगण ने माथुरी वाचना को प्रधानता दी। साथ ही वालभी वाचना के पाठभेद को भी सुरक्षित रखा। इन दो वाचनाओं में सगति रखने का भी उन्होंने भरसक प्रयत्न किया एव सबका समाधान कर माथुरी वाचना को प्रमुख स्थान दिया।

महाराज खारवेल

महाराज खारवेल ने भी अपने समय में जैन प्रवचन के समुद्धार के लिए श्रमण-श्रमणियो एव श्रावक-श्राविकाओ का बृहद् सघ एकत्र किया। खेद है कि इस सम्बन्ध मे किसी भी जैन ग्रन्थ में कोई उल्लेख उपलब्ध नही है। महाराज खारवेल ने कलिंगगत खडगिरि व उदयगिरि पर एतद्विषयक जो विस्तृत लेख खुदवाया है उसमें इस सम्बन्ध मे स्पष्ट उल्लेख है। यह लेख पूरा प्राकृत में है। इसमें कलिग में भगवान् ऋषभदेव के मदिर की स्थापना व अन्य अनेक घटनाओ का उल्लेख है। वर्तमान मे उपलब्ध 'हिमवत थेरावली' नामक प्राकृत-सस्कृत-मिश्रित पट्टावली में महाराज खारवेल के विषय में स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने प्रवचन का उद्धार किया।

आचाराग के शब्द

उपर्युक्त तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए आचाराग के कर्तृत्व का विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इसमें आशय तो भगवान् महावीर का ही है। रही बात शब्दो की। हमारे सामने जो शब्द है वे किनके हैं? इसका उत्तर इतना सरल नही है। या तो ये शब्द सुधर्मास्वामी के है या जम्बूस्वामी के है या उनके बाद होने वाले किसी सुविहित गीतार्थ के है। फिर भी इतना निश्चित है कि ये शब्द इतने पैने है कि सुनते ही सीधे हृदय मे घुस जाते है। इससे मालूम होता है कि ये किसी असाधारण अनुभवात्मक आध्यात्मिक पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए पुरुष के हृदय में से निकले हुए है एव सुनने वाले ने भी इन्हें उसी निष्ठा से सुरक्षित रखा है। अत इसमें तनिक भी सन्देह नही है कि ये शब्द सुधर्मास्वामी की वाचना का अनुसरण करने वाले है। सम्भव है इनमें सुधर्मा के खुद के ही शब्दो का प्रतिबिम्ब हो। यह भी असम्भव नही कि इन प्रतिबिम्बरूप शब्दो मे से अमुक शब्द भगवान् महावीर के खुद के शब्दों के प्रतिबिम्ब के रूप में हो, अमुक शब्द सुधर्मास्वामी के वचनो के प्रतिबिम्ब के रूप में हो, अमुक शब्द गीतार्थ महा-पुरुषो के शब्दो की प्रतिध्वनि के रूप में हो। इनमें से कौन से शब्द किस कोटि के हैं, इनका पृथक्करण यहाँ सम्भव नही। वर्तमान में हम गुरुनानक, कबीर, नरसिंह मेहता, आनन्दघन, यशोविजय उपाध्याय आदि से जो भजन-स्तवन गाते हैं उनमें मूल की अपेक्षा कुछ-कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। इसी प्रकार का थोडा-बहुत परिवर्तन आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्रतीत होता है। यही बात सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के विषय में भी कही जा सकती है। शेष अगो के विषय में ऐसा नही कह सकते। ये गीतार्थ स्थविरो की रचनाएँ हैं। इनमें महावीर आदि के शब्दो का आधिक्य न होते हुए भी उनके आशय का अनुसरण तो है ही।

ब्रह्मचर्य एव ब्राह्मण

आचाराग का दूसरा नाम बंभचेर अर्थात् ब्रह्मचर्य है। इस नाम में 'ब्रह्म' और 'चर्य' ये दो शब्द है। निर्युक्तिकार ने ब्रह्म की व्याख्या करते हुए नामत ब्रह्म, स्थापनात ब्रह्म, द्रव्यत ब्रह्म एव भावत ब्रह्म—इस प्रकार ब्रह्म के चार भेद बतलाये हैं। नामत ब्रह्म अर्थात् जो केवल नाम से ब्रह्म—ब्राह्मण है। स्थापनात ब्रह्म का अर्थ है चित्रित ब्रह्म अथवा ब्राह्मणो की निशानी रूप यज्ञोपवीतादि युक्त चित्रित आकृति अथवा मिट्टी आदि द्वारा निर्मित वैसा आकार-मूर्ति-प्रतिमा। अथवा जिन मनुष्यो में बाह्य चिह्नो द्वारा ब्रह्मभाव की स्थापना-कल्पना की गई हो, जिनमें ब्रह्मपद के अर्थानुसार गुण भले ही न हों वह स्थापनात ब्रह्म-ब्राह्मण कहलाता है। यहाँ ब्रह्म शब्द का ब्राह्मण अर्थ विवक्षित है। मूलत• तो ब्रह्म शब्द

ब्रह्मचर्य का ही वाचक है। चूँकि ब्रह्मचर्य सयम रूप है अत ब्रह्म शब्द सत्रह प्रकार के सयम सूचक भी है। इसका समर्थन स्वय नियुंक्तिकार ने (२८ वी गाथा मे) किया है। ऐसा होते हुए भी स्थापनात ब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए नियुंक्तिकार ने यज्ञोपवीतादियुक्त और ब्राह्मणगुणवर्जित जाति ब्राह्मण को भी स्थापनात ब्रह्म क्यो कहा ? किसी दूसरे को अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र को स्थापनात ब्रह्म क्यो नही कहा ? इसका समाधान यह है कि जिस काल में आचारागसूत्र की योजना हुई वह काल भगवान् महावीर व सुधर्मा का था। उस काल में ब्रह्मचर्य धारण करने वाले अधिकाशत ब्राह्मण होते थे। किसी समय ब्राह्मण वास्तविक अर्थ मे ब्रह्मचारी थे किन्तु जिस काल की यह सूत्रयोजना है उस काल में ब्राह्मण अपने ब्राह्मणधर्म से अर्थात् ब्राह्मण के यथार्थ आचार से च्युत हो गये थे। फिर भी ब्राह्मण जाति के बाह्य चिह्नो को धारण करने के कारण ब्राह्मण ही माने जाते थे। इस प्रकार उस समय गुण नही किन्तु जाति ही ब्राह्मणत्व का प्रतीक मानी जाने लगी। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मिकसुत्त (चूलवग्ग, सू० ७) में भगवान् बुद्ध ने इस विषय में सुन्दर चर्चा की है। उसका सार नीचे दिया है —

श्रावस्ती नगरी मे जेतवनस्थित अनाथपिण्डिक के उद्यान में आकर ठहरे हुए भगवान् बुद्ध से कोशल देश के कुछ वृद्ध व कुलीन ब्राह्मणों ने आकर प्रश्न किया—"हे गौतम ! क्या आजकल के ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मणो के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई देते हैं ?" बुद्ध ने उत्तर दिया—"हे ब्राह्मणो ! आजकल के ब्राह्मण पुराने ब्राह्मणों के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई नही देते।" ब्राह्मण कहने लगे—"हे गौतम ! प्राचीन ब्राह्मण-धर्म क्या है, यह हमें बताइए।" बुद्ध ने कहा—'प्राचीन ब्राह्मण ऋषि सयतात्मा एव तपस्वी थे। वे पाँच इन्द्रियो के विषयो का त्याग कर आत्मचिन्तन करते। उनके पास पशु न थे, धन न था। स्वाध्याय ही उनका धन था। वे ब्राह्म-निधि का पालन करते। लोग उनके लिए श्रद्धापूर्वक भोजन बना कर द्वार पर तैयार रखते व उन्हें देना उचित समझते। वे अवध्य थे एव उनके लिए किसी भी कुटुम्ब में आने-जाने की कोई रोक-टोक न थी। वे अड़तालीस वर्ष तक, कौमार ब्रह्मचर्य का पालन करते एव प्रज्ञा व शील का सम्पादन करते। ऋतुकाल के अतिरिक्त वे अपनी प्रिय स्त्री का सहवास भी स्वीकार नही करते। वे ब्रह्म-चर्य, शील, आर्जव, मार्दव, तप, समाधि, अहिंसा एव शान्ति की स्तुति करते। उस समय सुकुमार, उन्नतस्कन्ध, तेजस्वी एव यशस्वी ब्राह्मण स्वधर्मानुसार आचरण करते तथा कृत्य-अकृत्य के विषय में सदा दक्ष रहते। वे चावल,

तृतीय प्रकरण

अंगग्रन्थों का अंतरंग परिचय : आचारांग

अङ्गों के बाह्य परिचय में अङ्गग्रन्थों की शैली, भाषा, प्रकरण-क्रम तथा विषय विवेचन की चर्चा की गई। अंतरंग परिचय में निम्नोक्त पहलुओं पर प्रकाश डाला जाएगा —

(१) अचेलक व सचेलक दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में निर्दिष्ट अङ्गों के विषयों का उल्लेख व उनकी वर्तमान विषयों के साथ तुलना।

(२) अङ्गों के मुख्य नामों तथा उनके अध्ययनों के नामों की चर्चा।

(३) पाठान्तरों, वाचनाभेदों तथा छन्दों के विषय में निर्देश।

(४) अङ्गों में उपलब्ध उपोद्घात द्वारा उनके कर्तृत्व का विचार।

(५) अङ्गों में आने वाले कुछ आलापकों की चूर्णि, वृत्ति इत्यादि के अनुसार तुलनात्मक चर्चा।

(६) अङ्गों में आने वाले अचेलकसम्बन्धी उल्लेखों की चर्चा।

(७) अंगों में आने वाले विशेष प्रकार के वर्णन, विशेष नाम, नगर इत्यादि के नाम तथा सामाजिक एवं ऐतिहासिक उल्लेख।

(८) अङ्गों में प्रयुक्त मुख्य-मुख्य शब्दों के विषय में निर्देश।

अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, धवला, जयधवला, गोम्मटसार, अङ्गपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में बताया है कि आचारांग[1] में मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि,

---

१ (अ) प्रथम श्रुतस्कन्ध—W Schubring, Leipzig, 1910 जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना, सन् १९२४

(आ) निर्युक्ति तथा शीलांक, जिनहंस व पार्श्वचन्द्र की टीकाओं के साथ—धनपत सिंह, कलकत्ता, वि० सं० १९३६

(इ) निर्युक्ति व शीलांक की टीका के साथ—आगमोदय समिति, सूरत, वि० सं० १९७२-१९७३

(ई) अंग्रेजी अनुवाद—H Jacobi, S B E Series, Vol. 22, Oxford 1884

(उ) मूल—H Jacobi, Pali Text Society, London 1882

(ऊ) प्रथम श्रुतस्कन्ध का जर्मन अनुवाद—Worte Mahavira, W Schubring, Leipzig, 1926.

इस सम्बन्ध में चूर्णिकार ने जो निरूपण किया है वह निर्युक्तिकार से कुछ भिन्न मालूम पडता है। चूर्णि मे बताया गया है कि भगवान् ऋषभदेव के समय में जो राजा के आश्रित थे वे क्षत्रिय हुए तथा जो राजा के आश्रित न थे वे गृहपति कहलाये। बाद मे अग्नि की खोज होने के उपरान्त उन गृहपतियों में से जो शिल्प तथा वाणिज्य करने वाले थे वे वैश्य हुए। भगवान् के प्रव्रज्या लेने व भरत का राज्याभिषेक होने के बाद भगवान् के उपदेश द्वारा श्रावकधर्म की उत्पत्ति होने के अनन्तर ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ये श्रावक धर्मप्रिय थे तथा 'मा हणो मा हणो' रूप महिमा का उद्घोष करने वाले थे अत लोगो ने उन्हें माहण-ब्राह्मण नाम दिया। ये ब्राह्मण भगवान् के आश्रित थे। जो भगवान् के आश्रित न थे तथा किसी प्रकार का शिल्प आदि नही करते थे व अश्रावक थे वे शोकातुर व द्रोहस्वभावयुक्त होने के कारण शूद्र कहलाये। 'शूद्र' शब्द के 'शू' का अर्थ शोकस्वभावयुक्त एव 'द्र' का अथ द्रोहस्वभावयुक्त किया गया है। निर्युक्तिकार ने चतुर्वर्ण का क्रम क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य व ब्राह्मण—यह बताया है जबकि चूर्णिकार के अनुसार यह क्रम क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण व शूद्र—इस प्रकार है। इस क्रम-परिवतन का कारण सम्भवत वैदिक परम्परा का प्रभाव है।

सात वर्ण व नव वर्णान्तर

निर्युक्तिकार ने व तदनुसार चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने सात वर्णो व नौ वर्णान्तरो की उत्पत्ति का जो क्रम बताया है वह इस प्रकार है —

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार मूल वर्ण हैं। इनमें से ब्राह्मण व क्षत्रियाणी के सयोग से उत्पन्न होनेवाला उत्तम क्षत्रिय, शुद्ध क्षत्रिय अथवा सकर क्षत्रिय कहलाता है। यह पचम वण है। क्षत्रिय व वैश्य-स्त्री के सयोग से उत्पन्न होने वाला उत्तम वैश्य, शुद्ध वैश्य अथवा सकर वैश्य कहलाता है। यह षष्ठ वण है। इसी प्रकार वैश्य व शूद्रा के सयोग से उत्पन्न होने वाला उत्तम शूद्र, शुद्ध शूद्र अथवा सकर शूद्र रूप सप्तम वर्ण है। ये सात वण हुए। ब्राह्मण व वैश्य स्त्री के सयोग उत्पन्न होने वाला अबष्ठ नामक प्रथम वर्णान्तर है। इसी प्रकार क्षत्रिय व ा के सयोग से उग्र, ब्राह्मण व शूद्रा के सयोग से निषाद अथवा पाराशर, शूद्र वैश्य-स्त्री के सयोग से अयोगव, वैश्य व क्षत्रियाणी के सयोग से मागध, क्षत्रिय ब्राह्मणी के सयोग से सूत, शूद्र व क्षत्रियाणो के सयोग से क्षत्तृक, वैश्य व ह्मणी के सयोग से वैदेह एव शूद्र ब्राह्मणी के सयोग से चाडाल नामक अन्य ठ वर्णान्तरो की उत्पत्ति बताई गई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वर्णान्तर हैं। उग्र व क्षत्रियाणी के सयोग से उत्पन्न होने वाला श्वपाक, वैदेह व क्षत्रिणी के सयोग से उत्पन्न होने वाला वैणव, निषाद व अबष्ठी अथवा शूद्रा के

संयोग से उत्पन्न होने वाला बोक्कस, शूद्र व निषादी के संयोग से उत्पन्न होने वाला कुक्कुटक अथवा कुक्कुरक कहलाता है।

इस प्रकार वर्णों व वर्णान्तरों की उत्पत्ति का स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि 'एवं स्वच्छन्दमतिविगप्पितं' अर्थात् वैदिक परम्परा में ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति के विषय में जो कुछ कहा गया है वह सब स्वच्छन्द-मतियों की कल्पना है। उपर्युक्त वर्ण-वर्णान्तर सम्बन्धी समस्त विवेचन मनुस्मृति (अ० १०, श्लोक० ४-४५) में उपलब्ध है। चूर्णिकार व मनुस्मृतिकार के उल्लेखों में कहीं-कहीं नाम आदि में थोड़ा-थोड़ा अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

शस्त्रपरिज्ञा

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम सत्थपरिण्णा अर्थात् शस्त्रपरिज्ञा है। शस्त्रपरिज्ञा अर्थात् शस्त्रों का ज्ञान। आचारांग श्रमण-ब्राह्मण के आचार से सम्बन्धित ग्रन्थ है। उसमें कहीं भी युद्ध अथवा सेना का वर्णन नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रथम अध्ययन में शस्त्रों के सम्बन्ध में विवेचन कैसे सम्भव हो सकता है? संसार में लाठी, तलवार, खंजर, बन्दूक आदि की ही शस्त्रों के रूप में प्रसिद्धि है। आज के वैज्ञानिक युग में अणुबम, उद्जनबम आदि भी शस्त्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। ऐसे शस्त्र स्पष्ट रूप से हिंसक हैं, यह सर्वविदित है। आचारांग के कर्ता की दृष्टि से क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, काम, ईर्ष्या मत्सर आदि कषाय भी भयंकर शस्त्र हैं। इतना ही नहीं, इन कषायों द्वारा ही उपर्युक्त शस्त्रास्त्र उत्पन्न हुए हैं। इस दृष्टि से कषायजन्य समस्त प्रवृत्तियाँ शस्त्र-रूप हैं। कषाय के अभाव में कोई भी प्रवृत्ति शस्त्ररूप नहीं है। यही भगवान् महावीर का दर्शन व चिन्तन है। आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में कषायरूप अथवा कषायजन्य प्रवृत्तिरूप शस्त्रों का ही ज्ञान कराया गया है। इसमें बताया गया है कि जो बाह्य शौच के बहाने पृथ्वी, जल इत्यादि का अमर्यादित विनाश करते हैं वे हिंसा तो करते ही हैं, चोरी भी करते हैं। इसी का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने कहा है कि 'चउसट्ठीए मट्टियाहि स ण्हाति' अर्थात् वह चौंसठ (बार) मिट्टी से स्नान करता है। कुछ वैदिकों की मान्यता है कि भिन्न-भिन्न अंगों पर कुल मिला कर चौंसठ बार मिट्टी लगाने पर ही पवित्र हुआ जा सकता है। मनुस्मृति (अ० ५, श्लो० १३५-१४५) में बाह्य शौच अर्थात् शरीर शुद्धि व पात्र आदि की शुद्धि के विषय में विस्तृत विधान है। उसमें विभिन्न क्रियाओं के बाद शुद्धि के लिए किस-किस अंग पर कितनी-कितनी बार मिट्टी व पानी का प्रयोग करना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख है। इस विधान में गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वनवासी एवं यति का अलग-अलग विचार किया गया है

अर्थात् इनकी अपेक्षा से मिट्टी व पानी के प्रयोग की सख्या में विभिन्नता बताई गई है। भगवान् महावीर ने समाज को आन्तरिक शुद्धि की ओर मोडने के लिए कहा कि इस प्रकार की बाह्य शुद्धि हिंसा को बढाने का ही एक साधन है। इससे पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति तथा वायु के जीवो का कचूमर निकल जाता है। यह घोर हिंसा की जननी है। इससे अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। श्रमण व ब्राह्मण को सरल बनना चाहिए, निष्कपट होना चाहिए, पृथ्वी आदि के जीवो का हनन नही करना चाहिए। पृथ्वी आदि प्राणरूप हैं। इनमें आगन्तुक जीव भी रहते हैं। अत शौच के निमित्त इनका उपयोग करने से इनकी तथा इनमें रहने वाले प्राणियो की हिंसा होती है। अत' यह प्रवृत्ति शस्त्ररूप है। आतरिक शुद्धि के अभिलाषियो को इसका ज्ञान होना चाहिए। यही भगवान् महावीर के शस्त्र-परिज्ञा प्रवचन का सार है।

रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श अज्ञानियो के लिए आवर्तरूप हैं, ऐसा समझ कर विवेकी को इनमें मूर्च्छित नही होना चाहिए। यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर झुकाव रहा हो तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि अब मैं इनसे बचूँगा—इनमे नही फँसूँगा—पूर्ववत् आचरण नही करूँगा। रूपादि में लोलुप व्यक्ति विविध प्रकार की हिंसा करते दिखाई देते हैं। कुछ लोग प्राणियो का वध कर उन्हें पूरा का पूरा पकाते है। कुछ चमडी के लिए उन्हें मारते हैं। कुछ केवल मास, रक्त, पित्त, चरबी, पख, पूँछ, बाल, सीग, दाँत, नख अथवा हड्डी के लिए उनका वध करते हैं। कुछ शिकार का शौक पूरा करने के लिए प्राणियो का वध करते हैं। इस प्रकार कुछ लोग अपने किसी न किसी स्वार्थ के लिए जीवो का क्रूरतापूर्वक नाश करते हैं तो कुछ निष्प्रयोजन ही उनका नाश करने मे तत्पर रहते है। कुछ लोग केवल तमाशा देखने के लिए साडो, हाथियो, मुर्गों वगैरह को लडाते हैं। कुछ साँप आदि को मारने में अपनी बहादुरी समझते हैं तो कुछ साँप आदि को मारना अपना धर्म समझते हैं। इस प्रकार पूरे शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन में भगवान् महावीर ने ससार में होने वाली विविध प्रकार की हिंसा के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं एव उसके परिणाम की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया है। उन्होने बताया है कि यह हिंसा ही ग्रन्थ है—परिग्रहरूप है, मोहरूप है, माररूप है, नरकरूप है।

खोरदेह—अवेस्ता नामक पारसी धर्मग्रन्थ[1] में पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के साथ किसी प्रकार का अपराध न करने की अर्थात उनके प्रति घातक व्यवहार न करने की शिक्षा दी गई है। यही बात मनुस्मृति में दूसरी तरह

१ 'पतेत पशेमानी' नामक प्रकरण

से कही गई है। उसमें चूल्हे द्वारा अग्नि की हिंसा का, घट द्वारा जल की हिंसा का एवं इसी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा अन्य प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है। घट, चूल्हा, चक्की आदि को जीववध का स्थान बताया गया है एवं गृहस्थ के लिए इनके प्रति सावधानी रखने का विधान किया गया है[1]।

शस्त्रपरिज्ञा में जो मार्ग बताया गया है वह पराकाष्ठा का मार्ग है। उस पराकाष्ठा के मार्ग पर पहुँचने के लिए अन्य अवान्तर मार्ग भी हैं। इनमें से एक मार्ग है गृहस्थाश्रम का। इसमें भी चढ़ते-उतरते साधन हैं। इन सब में एक बात सर्वाधिक महत्त्व की है और वह है प्रत्येक प्रकार की मर्यादा का निर्धारण। इनमें भी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा जाय त्यों-त्यों मर्यादा का क्षेत्र बढ़ाया जाय एवं अन्त में अनासक्त जीवन का अनुभव किया जाय। इसी का नाम अहिंसक जीवनसाधना अथवा आध्यात्मिक शोधन है। अध्यात्म शुद्धि के लिए देह, इन्द्रियाँ, मन तथा अन्य बाह्य पदार्थ साधनरूप हैं। इन साधनों का उपयोग अहिंसक वृत्तिपूर्वक होना चाहिए। इस प्रकार की वृत्ति के लिए संकल्पशुद्धि परमावश्यक है। संकल्प की शुद्धि के बिना सब क्रियाकाण्ड व प्रवृत्तियाँ निरर्थक हैं। प्रवृत्ति भले ही अल्प हो किन्तु होनी चाहिए संकल्पशुद्धिपूर्वक। आध्यात्मिक शुद्धि ही जिनका लक्ष्य है वे केवल भेड़चाल अथवा रूढ़िगत प्रवाह में बँध कर नहीं चल सकते। उनके लिए विवेकयुक्त संकल्पशीलता की महती आवश्यकता होती है। देहदमन, इन्द्रियदमन, मनोदमन, तथा आरम्भ-समारम्भ, व विषय कषायों के त्याग के सम्बन्ध में जो बातें शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में बताई गई हैं वे सब बातें भिन्न-भिन्न रूप में भिन्न-भिन्न स्थानों पर गीता एवं मनुस्मृति में भी बताई गई हैं। मनु ने स्पष्ट कहा है कि लोहे के मुख वाला काष्ठ (हल आदि) भूमि का एवं भूमि में रहे हुए अन्य-अन्य प्राणियों का हनन करता है। अतः कृषि की वृत्ति निन्दित है[2]। यह विधान अमुक कोटि के सच्चे ब्राह्मण के लिए है और वह भी उत्सर्ग के रूप में। अपवाद के तौर पर तो ऐसे ब्राह्मण के लिए भी इससे विपरीत विधान हो सकता है। भूमि की ही तरह जल आदि से सम्बन्धित आरम्भ-समारम्भ का भी मनुस्मृति में निषेध किया गया है[3]। गीता में 'सर्वारम्भपरित्यागी[4]' को पण्डित कहा गया है

१ मनुस्मृति, अ० ३, श्लो० ६८।

२ कृषि साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥
—मनुस्मृति, अ० १०, श्लो० ८४

३ अ० ८, श्लो० २०१-२

४ अ० १२, श्लो० १६, अ० ४, श्लो० १९

एव बताया गया है कि जो समस्त आरम्भ का परित्यागी है वह गुणातीत है[1]। उसमें देहदमन की भी प्रतिष्ठा की गई है एव तप के बाह्य व आन्तरिक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है[2]। जैन परम्परा के त्यागी मुनियो के तपश्चरण की भाँति कायक्लेशरूप तप सम्बन्धी प्ररूपणा वदिक परम्परा को भी अभीष्ट है। इसी प्रकार जलशौच अर्थात् स्नान आदिरूप बाह्य शौच का त्याग भी वैदिक परम्परा को इष्ट है[3]। आचाराग के प्रथम व द्वितीय दोनो श्रुतस्कन्वो में आचार-विचार का जो वर्णन है वह सब मनुस्मृति के छठे अध्याय में वर्णित वानप्रस्थ व सन्यास के स्वरूप के साथ मिलता-जुलता है। भिक्षा के नियम, कायक्लेश सहन करने की पद्धति, उपकरण, वृक्ष के मूल के पास निवास, भूमि पर शयन, एक समय भिक्षा-चर्या, भूमि का अवलोकन करते हुए गमन करने की पद्धति, चतुर्थ भक्त, अष्टम भक्त आदि अनेक नियमो का जैन परम्परा के त्यागी वर्ग के नियमो के साथ साम्य है। इसी प्रकार का जैन परम्परा के नियमो का साम्य महाभारत के शान्तिपर्व में उपलब्ध तप एव त्याग के वर्णन के साथ भी है। बौद्ध परम्परा के नियमो में इस प्रकार को कठोरता एव देहदमनता का प्राय अभाव दिखाई देता है।

आचाराग के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा में समग्र आचाराग का सार आ जाता है अत यहाँ अन्य अध्ययनो का विस्तारपूर्वक विवेचन न करते हुए आचाराग में आने वाले परमतो का विचार किया जाएगा।

आचाराग मे उल्लिखित परमत

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे जो परमतो का उल्लेख है वह किसी विशेष नामपूर्वक नही अपितु 'एगे' अर्थात् 'कुछ लोगो' के रूप में है जिसका विशेष स्पष्टीकरण चूर्णि अथवा वृत्ति में किया गया है। प्रारम्भ मे ही अर्थात् प्रथम अध्ययन के प्रथम वाक्य में हो यह बताया गया है कि 'इह एगेसि नो सन्ना भवइ' अर्थात् इस ससार में कुछ लागो को यह भान नही होता कि मैं पूव से आया हुआ हूँ या दक्षिण से आया हुआ हूँ अथवा किस दिशा या विदिशा से आया हुआ हूँ अथवा ऊपर से या नोचे से आया हुआ हूँ ? इसी प्रकार 'एगेसिं नो नाय भवइ' अर्थात् कुछ को यह पता नहो होता कि मेरी आत्मा औपपातिक है अथवा अनौपपातिक, मै कौन

१ सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत स उच्चते—अ० १४, श्लो० २५

२ अ० १७, श्लो० ५-६, १४, १६-७

३ देखिये—श्री लक्ष्मणशास्त्रो जोशी लिखित वैदिक सस्कृति का इतिहास (मराठी), पृ० १७६

भगवान् महावीर के आत्मविषयक मतों को उद्दिष्ट कर चूर्णिकार कहते हैं कि क्रियावादी मतों के एक सौ अस्सी भेद हैं। उनमें से कुछ आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं। कुछ मूर्त, कुछ अमूर्त, कुछ कर्ता, कुछ अकर्ता मानते हैं। कुछ श्यामाक[1] परिमाण, कुछ तन्दुलपरिमाण, कुछ अंगुष्ठपरिमाण मानते हैं। कुछ लोग आत्मा को दीपशिखा के समान क्षणिक मानते हैं। जो अक्रियावादी हैं वे आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते। जो अज्ञानवादी—अज्ञानी हैं वे इस विषय में कोई विवाद ही नहीं करते। विनयवादी भी अज्ञानवादियों के ही समान हैं। उपनिषदों में आत्मा को श्यामाकपरिमाण, तण्डुलपरिमाण, अंगुष्ठपरिमाण आदि मानने के उल्लेख उपलब्ध हैं[2]।

प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में 'अणगारा मो त्ति एगे वयमाणा' अर्थात् 'कुछ लोग कहते हैं कि हम अनगार हैं' ऐसा वाक्य आता है। अपने को अनगार कहने वाले ये लोग पृथ्वी आदि का आलंभन अर्थात् हिंसा करते हुए नहीं हिचकिचाते। ये अनगार कौन हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए चूर्णिकार कहते

---

१ अन्न विशेष—साँवा

२. छान्दोग्य—तृतीय अध्याय चौदहवाँ खण्ड; आत्मोपनिषद्—प्रथम कण्डिका, नारायणोपनिषद्—श्लो० ७१

सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीत, सर्व सत्त्व हनन करने योग्य हैं, सताप पहुँचाने योग्य हैं, उपद्रुत करने योग्य हैं एव स्वामित्व करने योग्य हैं। ऐसा करने में कोई दोष नही। इस प्रकार कुछ श्रमणो व ब्राह्मणो के मत का निर्देश कर सूत्रकार ने अपना अभिमत बताते हुए कहा है कि यह वचन अनार्यो का है अर्थात् इस प्रकार हिंमा का समर्थन करना अनार्यमार्ग है। इसे आर्यो ने दुर्दर्शन कहा है, दुःश्रवण कहा है, दुर्मत कहा है, दुर्विज्ञान कहा है एव दुष्प्रत्यवेक्षण कहा है। हम ऐसा कहते हैं, ऐसा भाषण करते हैं; ऐसा बताते हैं, ऐसा प्ररूपण करते हैं कि किसी भी प्राण, किसी भी भूत, किसी भी जीव, किसी भी सत्त्व को हनना नही चाहिए, त्रस्त नही करना चाहिए, परिताप नही पहुँचाना चाहिए, उपद्रुत नही करना चाहिए एव उस पर स्वामित्व नही करना चाहिए। ऐमा करने में ही दोष नही है। यह आर्यवचन है। इसके बाद सूत्रकार कहते हैं कि हिंसा का विधान करने वाले, एव उसे निर्दोष मानने वाले समस्त प्रवादियों को एकत्र कर प्रत्येक को पूछना चाहिए कि तुम्हें मन की अनुकूलता दु खरूप लगती है या प्रतिकूलता? यदि वे कहें कि हमें तो मन की प्रतिकूलता दु खरूप लगती है तो उनसे कहना चाहिए कि जैसे तुम्हें मन की प्रतिकूलता दु खरूप लगती है वैसे ही समस्त प्राणियो, भूतो, जीवों व सत्त्वो को भी मन की प्रतिकूलता दु खरूप लगती है।

विमोह नामक आठवें अध्ययन में कहा गया है कि ये वादी आलभार्थी हैं, प्राणियो का हनन करने वाले हैं, हनन कराने वाले हैं, हनन करने वालो का समर्थन करने वाले हैं, अदत्त को लेने वाले हैं। वे निम्न प्रकार से भिन्न-भिन्न वचन बोलते हैं लोक है, लोक नही है, लोक अध्रुव है, लोक सादि है, लोक अनादि है, लोक सान्त है, लोक अनन्त है, सुकृत है, दुष्कृत है, कल्याण है, पाप है, साधु है, असाधु है, सिद्धि है, असिद्धि है, नरक है, अनरक है। इस प्रकार की तत्त्वविषयक विप्रतिपत्ति वाले ये वादी अपने-अपने धर्म का प्रतिपादन करते हैं। सूत्रकार ने सब वादो को सामान्यतया यादृच्छिक (आकस्मिक) एव हेतु-शून्य कहा है तथा किसी नाम विशेष का उल्लेख नही किया है। इनकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार ने विशेषत वैदिक शाखा के साख्य आदि मतो का उल्लेख किया है एव शाक्य अर्थात् बौद्ध भिक्षुओ के आचरण तथा उनकी अमुक मान्यताओ का निर्देश किया है। आचाराग की ही तरह दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में भी भगवान् बुद्ध के समय के अनेक वादो का उल्लेख है।

निर्ग्रन्थसमाज

तत्कालीन निर्ग्रन्थसमाज के वातावरण पर भी आचाराग में प्रकाश डाला गया है। उस समय के निर्ग्रन्थ सामान्यतया आचारसम्पन्न, विवेकी, तपस्वी एव

विनीतवृत्ति वाले ही होते थे, फिर भी कुछ ऐसे निर्ग्रन्थ भी थे जो वर्तमान काल के अविनीत शिष्यो की भाँति अपने हितैषी गुरु के सामने होने में भी नही हिचकिचाते। आचारांग के छठे अध्ययन के चौथे उद्देशक में इसी प्रकार के शिष्यों को उद्दिष्ट करके बताया गया है कि जिस प्रकार पक्षी के बच्चे को उसकी माता दाने दे-देकर बड़ा करती है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने शिष्यों को दिन-रात अध्ययन कराते है। शिष्य ज्ञान प्राप्त करने के बाद 'उपशम' को त्याग कर अर्थात् शांति को छोडकर ज्ञान देनेवाले महापुरुषों के सामने कठोर भाषा का प्रयोग प्रारम्भ करते हैं।

भगवान महावीर के समय मे उत्कृष्ट त्याग, तप व संयम के अनेक जीते-जागते आदर्शो की उपस्थिति में भी कुछ श्रमण तप-त्याग अंगीकार करने के बाद भी उसमे स्थिर नही रह सकते थे एवं छिपे छिपे दूषण सेवन करते थे। आचार्य के पूछने पर झूठ बोलने तक के लिए तैयार हो जाते थे। प्रस्तुत सूत्र में ऐसा एक उल्लेख उपलब्ध है जो इस प्रकार है 'बहुक्रोधी बहुमानी, बहुकपटी, बहुलोभी, नट की भाँति विविध ढग से व्यवहार करने वाला, शठवत्, विविध संकल्प वाला, आस्रवो मे आसक्त, मुँह से उत्थित वाद करनेवाला, 'मुझे कोई देख न ले' इस प्रकार के भय मे अपकृत्य करने वाला सतत मूढ धर्म को नही जानता। जो चतुर आत्मार्थी है वह कभी अब्रह्मचर्य का सेवन नही करता। कदाचित् कामावेश में अब्रह्मचर्य का सेवन हो जाय तो उसका अपलाप करना अर्थात् आचार्य के सामने उसे स्वीकार न करना महान् मूर्खता है।' इस प्रकार के उल्लेख यही बताते हैं कि उग्र तप, उग्र संयम, उग्र ब्रह्मचर्य के युग में भी कोई-कोई ऐसे निकल आते हैं। यह वासना व कषाय की विचित्रता है।

जैन श्रमणो का अन्य श्रमणो के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रहता था, यह भी जानने योग्य है। इस विषय में आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में ही बताया गया है कि समनोज्ञ (समान आचार-विचार वाला) भिक्षु असमनोज्ञ (भिन्न आचार-विचार वाला) को भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र, कम्बल व पादपुछण[1] न दे, इसके लिए उसे निमन्त्रित भी न करे, न उसकी आदरपूर्वक सेवा

---

१ मूलशब्द 'पायपुछण' है। प्राकृत भाषा में 'पुछ' धातु परिमार्जन अर्थ में आता है। देखिए—प्राकृत-व्याकरण, ८ ४ १०४ संस्कृत भाषा का 'मृज्' धातु और प्राकृत भाषा का 'पुछ' धातु समानार्थक हैं। अतः 'पायपुछण' शब्दका संस्कृत रूपान्तर 'पादमार्जन' हो सकता है। जैनपरम्परा मे 'पुंजणी' नाम का एक छोटा-सा उपकरण प्रसिद्ध है। इसका सम्बन्ध भी 'पुंछ' धातु से है और यह उपकरण परिमार्जन के लिए ही उपयुक्त होता है। 'अंगोछा'

ही करे। इसी प्रकार असमनोज्ञ से ये सब वस्तुएँ ले भी नही, न उनके निमन्त्रण को ही स्वीकार करे और न उनसे अपनी सेवा ही करावे। जैन श्रमणो मे अन्य श्रमणो के सम्पर्क से किसी प्रकार की आचार-विचारविषयक शिथिलता न आ जाय, इसी दृष्टि से यह विधान है। इसके पीछे किसी प्रकार की द्वेष-बुद्धि अथवा निन्दा-भाव नही है।

आचाराग के वचनो से मिलते वचन :

आचाराग के कुछ वचन अन्य शास्त्रो के वचनो से मिलते-जुलते हैं। आचाराग में एक वाक्य है 'दोहि वि अंतेहि अदिस्समाणे'[1]—अर्थात् जो दोनो अन्तो द्वारा अदृश्यमान है अर्थात् जिसका पूर्वान्त—आदि नही है व पश्चिमान्त—अन्त भी नही है। इस प्रकार जो (आत्मा) पूर्वान्त व पश्चिमान्त में दिखाई नही देता। इसी से मिलता हुआ वाक्य तेजोबिन्दु उपनिषद् के प्रथम अध्ययन के तेईसवें श्लोक में इस प्रकार है :

आदावन्ते च मध्ये च जनोऽस्मिन्न विद्यते।
येनेद सतत व्याप्त न देशो विजन स्मृत ॥

यह पद्य पूर्ण आत्मा अथवा सिद्ध आत्मा के स्वरूप के विषय में है।

आचाराग के उपर्युक्त वाक्य के बाद ही दूसरा वाक्य है 'से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कचण सव्वलोए' अर्थात् सर्वलोक में किसी के द्वारा आत्मा का छेदन नही होता, भेदन नही होता, दहन नही होता, हनन नही होता। इससे मिलते हुए वाक्य उपनिषद् तथा भगवद्गीता में इस प्रकार है :

न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मा ॥

—सुबालोपनिषद्, नवम खण्ड, ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् पृ २१०

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन: ॥

—भगवद्गीता, अ २, श्लो० २३

'जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कओ सिया'[2] अर्थात् जिसका आगा

शब्द का सम्बन्ध भी 'अगपु छ' शब्द के साथ है। 'पोछना' क्रियापद इस 'पु छ' धातु से ही सम्बन्ध रखता है—पोछना माने परिमार्जन करना।

१ आचाराग, १ ३ ३

२ वही १ ४ ४

व पीछे नहीं है उसका बीच कैसे हो सकता है? आचारांग का यह वाक्य भी आत्मविषयक है। इससे मिलता-जुलता वाक्य गौडपादकारिका[1] में इस प्रकार है :
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।

जन्ममरणातीत, नित्यमुक्त आत्मा का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार कहते हैं :
सव्वे सरा नियट्टंति। तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया। ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने—से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काउ, न रुहे, न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिन्ने, सन्ने, उवमा न विज्जइ। अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि, से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे, इच्चेयाव त्ति बेमि।[2]

ये सब वचन भिन्न-भिन्न उपनिषदों में इस प्रकार मिलते हैं

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो, न विद्मो न विजानीमो यथैतद् अनुशिष्यात् अन्यदेव तद् विदितात् अथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।[3]

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।'[4]

'अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अलोहितम्, अस्नेहम्, अच्छायम्, अतमो, अवायु, अनाकाशम्, असंगम्, अरसम्, अगन्धम्, अचक्षुष्कम्, अश्रोत्रम् अवाग्, अमनो, अतेजस्कम्, अप्राणम्, अमुखम्, अमात्रम् अनन्तरम्, अबाह्यम्, न तद् अश्नाति किंचन, न तद् अश्नाति कश्चन।'[5]

'नान्तःप्रज्ञम्, न बहिःप्रज्ञम्, नोभयतःप्रज्ञम्, न प्रज्ञानघनम्, न प्रज्ञम्, नाप्रज्ञम्, अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्।'[6]

---

१ प्रकरण २ श्लोक ६
२ आचारांग, १ ५ ६
३ केनोपनिषद् ख १, श्लो० ३
४. कठोपनिषद्, अ १, श्लो १५
५ बृहदारण्यक, ब्राह्मण ८, श्लोक ८
६ माण्डूक्योपनिषद्, श्लोक ७

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।'[1]

'अच्युतोऽहम्, अचिन्त्योऽहम्, अतर्क्योऽहम्, अप्राणोऽहम्, अकायोऽहम्, अशब्दोऽहम्, अरूपोऽहम्, अस्पर्शोऽहम्, अरसोऽहम्, अगन्धोऽहम्, अगोत्रोऽहम्, अगात्रोऽहम्, अवागोऽहम्, अदृश्योऽहम्, अवर्णोऽहम् अश्रुतोऽहम्, अदृष्टोऽहम् ।'[2]

आचाराग में बताया गया है कि ज्ञानियो के बाहु कृश होते है तथा मांस एव रक्त पतला होता है—कम होता है आगयपन्नाणाणं किसा बाहा भवति पयणुए य मम-सोणिए ।[3]

उपनिषदो में भी बताया गया है कि ज्ञानी पुरुष को कृश होना चाहिए, इत्यादि

मधुकरीवृत्त्या आहारमाहरन् कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन् आज्य रुधिरमिव त्यजेत्—नारदपरिव्राजकोपनिषद्, सप्तम उपदेश यथालाभमश्नीयात् प्राणसधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते । कृशो भूत्वा ग्रामे एकरात्रम् नगरे सन्यासोपनिषद्, प्रथम अध्याय ।

आचाराग प्रथमश्रुतस्कन्ध के अनेक वाक्य सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन एव दशवैकालिक में अक्षरश उपलब्ध है । इस सम्बन्ध में श्री शुब्रिग ने आचाराग के स्वसम्पादित सस्करण में यथास्थान पर्याप्त प्रकाश डाला है । साथ ही उन्होने आचाराग के कुछ वाक्यो की बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद व सुत्तनिपात के सदृश वाक्यो से भी तुलना की है ।

आचाराग के शब्दो से मिलते शब्द

अब यहाँ कुछ ऐसे शब्दो की चर्चा की जाएगी जो आचारांग के साथ ही साथ परशास्त्रो में भी उपलब्ध है तथा ऐसे शब्दो के सम्बन्ध में भी विचार किया जाएगा जिनकी व्याख्या चूर्णिकार एव वृत्तिकार ने विलक्षण की है ।

आचाराग के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि 'मैं कहाँ से आया हूँ व कहाँ जाऊँगा' ऐसी विचारणा करने वाला आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई कहलाता है । आयावाई का अर्थ है आत्मवादी अर्थात् आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करने वाला । लोगावाई का अर्थ है लोकवादी अर्थात् लोक का अस्तित्व मानने वाला । कम्मावाई का अर्थ है कर्मवादी एव किरियावाई का अर्थ

---

१ तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली २, अनुवाक ४ ।

२ ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१ ।

३ आचाराग, १ ६ ३ ।

है क्रियावादी। ये चारो वाद आत्मा के अस्तित्व पर अवलम्बित हैं। जो आत्म-वादी है वही लोकवादी, कर्मवादी एव क्रियावादी है। जो आत्मवादी नही है वह लोकवादी, कर्मवादी अथवा क्रियावादी नही है। सूत्रकृताग में बौद्धमत को क्रियावादी दर्शन कहा गया है अहावर पुरक्खाय किरियावाइदरिसण (अ १, उ २, गा २४)। इसकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार भी इसी कथन का समर्थन करते हैं। इसी सूत्रकृत-अगसूत्र के समवसरण नामक बारहवें अध्ययन में क्रियावादी आदि चार वादो की चर्चा की गई है। वहाँ मूल में किसी दर्शन विशेष के नाम का उल्लेख नही है तथापि वृत्तिकार ने अक्रियावादी के रूप में बौद्धमत का उल्लेख किया है। यह कैसे ? सूत्र के मूल पाठ में जिसे क्रियावादी कहा गया है एव व्याख्यान करते हुए स्वय वृत्तिकार ने जिसका एक जगह समर्थन किया है उसी को अन्यत्र अक्रियावादी कहना कहाँ तक युक्तिसगत है ?

आचाराग में आने वाले 'एयावति' व 'सव्वावति' इन दो शब्दो का चूर्णिकार ने कोई स्पष्टीकरण नही किया है। वृत्तिकार शीलाकसूरि इनकी व्याख्या करते हुए कहते है एतौ द्वौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्धया, 'एतावन्त सर्वेऽपि इत्येतत्पर्यायौ' (आचारागवृत्ति, पृ० २५) अर्थात् ये दो शब्द मगध की देशी भाषा में प्रसिद्ध है एव इनका 'इतने सारे' ऐसा अर्थ है। प्राकृत व्याकरण की किसी प्रक्रिया द्वारा 'एतावन्त' के अर्थ में 'एयावति' सिद्ध नही किया जा सकता और न 'सर्वेऽपि' के अर्थ में 'सव्वावति' ही साधा जा सकता है। वृत्तिकार ने परम्परा के अनुसार अर्थ समझाने की पद्धति का आश्रय लिया प्रतीत होता है बृहदारण्यक उपनिषद् में (तृतीय ब्राह्मण में) 'लोकस्य सर्वावत' अर्थात् 'सारे लोक की' ऐसा प्रयोग आता है। यहाँ 'सर्वावत' 'सर्वावत' का षष्ठी विभक्ति का रूप है। इसका प्रथमा का बहुवचन 'सर्वावन्त' हो सकता है। आचाराग के सव्वावति और उपनिषद् के 'सर्वावत' इन दोनो प्रयोगो की तुलना की जा सकती है।

आचाराग में एक जगह 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग मिलता है आठवें अध्ययन में जहाँ अनेक वादो—लोक है, लोक नही है इत्यादि का निर्देश है वहाँ इन सब वादो को निर्हेतुक बताने के लिए 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण आचाराग में, यहाँ तक कि समस्त अगसाहित्य में अत्यव्यञ्जनयुक्त ऐसा विजातीय प्रयोग अन्यत्र कही दृष्टिगोचर नही होता। वृत्तिकार ने इस शब्द का स्पष्टीकरण भी पूर्ववत् मगध की देशी भाषा के रूप में ही किया है। वे कहते हैं 'अकस्मात् इति मागधदेशे आगोपालाङ्गनादिना सस्कृतस्यैव

उच्चारणाद् इहापि तथैव उच्चारित इति' (आचारागवृत्ति पृ० २४२) अर्थात् मगध देश में ग्वालिनें भी 'अकस्मात्' का प्रयोग करती है। अत' यहाँ भी इस शब्द का वैसा ही प्रयोग हुआ है ।

मुण्डकोपनिषद् के (प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड, श्लोक ९) 'यत् धर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेन आतुरा क्षीणलोकाश्चवन्ते' इस पद्य में जिस अर्थ में 'आतुर' शब्द है उसी अर्थ में आचाराग का आउर—आतुर शब्द भी है। लोकभाषा में 'कामातुर' का प्रयोग इसी प्रकार का है।

लोगों में जो-जो वस्तुएँ शस्त्र के रूप में प्रसिद्ध हैं उनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों अर्थात् भावो के लिए भी शस्त्र शब्द का प्रयोग होता है। आचाराग में राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह एवं तज्जन्य समस्त प्रवृत्तियो को सत्य—शस्त्ररूप कहा गया है। अन्य किसी शास्त्र में इस अर्थ में 'शस्त्र' शब्द का प्रयोग दिखाई नही देता ।

बौद्धपिटको में जिस अर्थ में 'मार' शब्द का प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में आचाराग में भी 'मार' शब्द प्रयुक्त है। सुत्तनिपात के कप्पमाणवपुच्छा सुत्त के चतुर्थ पद्य व भद्रावुधमाणवपुच्छा सुत्त के तृतीय पद्य में भगवान् बुद्ध ने 'मार' का स्वरूप स्पष्ट समझाया है। लोकभाषा में जिसे 'शैतान' कहते हैं वही 'मार' है। सर्व प्रकार का आलभन शैतान की प्रेरणा का ही कार्य है। सूत्रकार ने इस तथ्य का प्रतिपादन 'मार' शब्द के द्वारा किया है। इसी प्रकार 'नरअ'—'नरक' शब्द का प्रयोग भी सर्व प्रकार के आलभन के लिए किया गया है। निरालव उपनिषद् में बध, मोक्ष, स्वर्ग, नरक आदि अनेक शब्दो की व्याख्या की गई है। उसमें नरक की व्याख्या इस प्रकार है 'असत्ससारविषयजनससर्ग एव नरक' अर्थात् असत् ससार, उसके विषय एव असज्जनो का ससर्ग ही नरक है। यहाँ सब प्रकार के आलभन को 'नरक' शब्द से निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार 'नरक' शब्द का जो अर्थ उपनिषद् को अभीष्ट है वही आचाराग को भीअभीष्ट है।

आचाराग में 'नियागपडिवन्न'—नियागप्रतिपन्न (अ १, उ ३) पद में 'नियाग' शब्द का प्रयोग है। याग व नियाग पर्यायवाची शब्द हैं जिनका अर्थ है यज्ञ। इन शब्दो का प्रयोग वैदिक परम्परा में विशेष होता है। जैन परम्परा में 'नियाग' शब्द का अर्थ भिन्न प्रकार से किया गया है। आचाराग-वृत्तिकार के शब्दो में 'यजन याग नियतो निश्चितो वा याग नियागो मोक्षमार्ग सगतार्थत्वाद् धातो —सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मतया गत सगतम् इति त नियाग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक मोक्षमार्गं प्रतिपन्न' (आचारागवृत्ति, पृ० ३८) अर्थात् जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र की सगति हो वह मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग नियाग है। मूलसूत्र में

'नियाग' के स्थान पर 'निकाय' अथवा 'नियाय' पाठान्तर भी है। वृत्तिकार लिखते हैं 'पाठान्तरं वा निकायप्रतिपन्न—निर्गत काय औदारिकादि-यस्मात् यस्मिन् वा सति स निकायो मोक्ष त प्रतिपन्न निकायप्रतिपन्न' तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनादे. स्वशक्त्याऽनुष्ठानात्' (आचारागवृत्ति, पृ० ३८) अर्थात् जिसमें से औदारिकादि शरीर निकल गये हैं अथवा जिसकी उपस्थिति में औदारिकादि शरीर निकल गये हैं वह निकाय अर्थात् मोक्ष है। जिसने मोक्ष की साधना स्वीकार की है वह 'निकायप्रतिपन्न' है। चूर्णिकार ने पाठान्तर न देते हुए केवल 'निकाय' पाठ को ही स्वीकार किया है तथा उसका अर्थ इस प्रकार किया है 'णिकाओ णाम देसप्पदेसबहुत्त णिकाय पडिवज्जति जह्रा आऊजीवा अहवा णिकाय णिच्च मोक्ख मग्ग पडिवन्नो' (आचाराग-चूर्णि, पृ० २५) अर्थात् णिकाय का अर्थ है देशप्रदेश-बहुत्व। जिस अर्थ में जैन प्रवचन में 'अत्थिकाय'—'अस्तिकाय' शब्द प्रचलित है उसी अर्थ में 'निकाय' शब्द भी स्वीकृत है, ऐसा चूर्णिकार का कथन है। जिसने पानी को निकायरूप-जीवरूप स्वीकार किया है वह निकायप्रतिपन्न है। अथवा निकाय का अर्थ है मोक्ष। वृत्तिकार ने केवल मोक्ष अर्थ को स्वीकार कर 'नियाग' अथवा 'निकाय' शब्द का विवेचन किया है।

'महावीहि' एव 'महाजाण' शब्दो का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार तथा वृत्तिकार दोनो ने इन शब्दो को मोक्षमार्ग का सूचक अथवा मोक्ष के साधनरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-तप आदि का सूचक बताया है। महावीहि अर्थात् महावीथि एव महाजाण अर्थात् महायान। 'महावीहि' शब्द सूत्रकृताग के वैतालीय नामक द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक की २१ वी गाथा में भी आता है 'पणया वीरा महावीहि सिद्धिपह' इत्यादि। यहा 'महावीहि' का अर्थ 'महामार्ग' बताया गया है और उसे 'सिद्धिपह' अर्थात् 'सिद्धिपथ' के विशेषण के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार आचाराग में प्रयुक्त 'महावीहि' शब्द का जो अर्थ है वही सूत्रकृताग में प्रयुक्त 'महावीहि' शब्द का भी है। 'महाजाण'-'महायान' शब्द जो कि जैन परम्परा में मोक्षमार्ग का सूचक है, बौद्ध दर्शन के एक भेद के रूप में भी प्रचलित है। प्राचीन बौद्ध परम्परा का नाम हीनयान है और बाद की नयी बौद्ध परम्परा का नाम महायान है।

प्रस्तुत सूत्र में 'वीर' व 'महावीर' का प्रयोग बार-बार आता है। ये दोनों शब्द व्यापक अर्थ में भी समझे जा सकते हैं और विशेष नाम के रूप मे भी। जो सयम की साधना में शूर है वह वीर अथवा महावीर है। जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर का मूल नाम तो वर्धमान है किन्तु अपनी साधना की शूरता के कारण वे

वीर अथवा महावीर कहे गये हैं। 'वीर' व 'महावीर' शब्दों का अर्थ इन दोनों रूपों में समझा जा सकता है।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'आरिय' व 'अणारिय' शब्दों का अर्थ व्यापक रूप में समझना चाहिए। जो सम्यक् आचार-सम्पन्न हैं—अहिंसा का सर्वांगीण आचरण करने वाले हैं वे आरिय—आर्य हैं। जो वैसे नहीं हैं वे अणारिय-अनार्य हैं।

मेहावी (मेधावी), मइमं (मतिमान्), धीर, पंडिअ (पण्डित), पासअ (पश्यक), वीर, कुसल (कुशल) माहण (ब्राह्मण), नाणी (ज्ञानी), परमचक्खु (परमचक्षुष्), मुणि (मुनि), बुद्ध, भगवं (भगवान्), आसुपन्न (आशुप्रज्ञ), आययचक्खु (आयतचक्षुष्) आदि शब्दों का प्रयोग प्रस्तुत सूत्र में कई बार हुआ है। इनका अर्थ बहुत स्पष्ट है। इन शब्दों को सुनते ही जो सामान्य बोध होता है वही इनका मुख्य अर्थ है और यही मुख्य अर्थ यहाँ बराबर संगत हो जाता है। ऐसा होते हुए भी चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने इन शब्दों का जैन परिभाषा के अनुसार विशिष्ट अर्थ किया है। उदाहरण के लिए पासअ (पश्यक-द्रष्टा) का अर्थ सर्वज्ञ अथवा केवली, कुसल (कुशल) का अर्थ तीर्थंकर अथवा वर्धमान स्वामी, मुणि (मुनि) का अर्थ त्रिकालज्ञ अथवा तीर्थंकर किया है।

जाणइ-पासइ का प्रयोग भाषाशैली के रूप में :

आचारांग में 'अरम्मा जाणइ पासइ' (५,६), 'आणुपुव्वेण जाणया पासया' (७, १), 'अजाणओ अपासओ' (५, ४) आदि वाक्य आते हैं, जिनमें केवली के जानने व देखने का उल्लेख है। इस उल्लेख को लेकर प्राचीन ग्रन्थकारों ने केवल के ज्ञान व दर्शन के क्रमाक्रम के विषय में भारी विवाद खड़ा किया है और जिसके कारण एक आगमिक पक्ष व दूसरा तार्किक पक्ष इस प्रकार के दो पक्ष भी पैदा हो गये हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'जाणइ' व 'पासइ' ये दो क्रियापद केवल भाषाशैली—बोलने की एक शैली के प्रतीक हैं। कहने वाले के मन में ज्ञान व दर्शन के क्रम-अक्रम का कोई विचार नहीं रहा है। जैसे अन्यत्र 'पन्नवेमि परूवेमि भासेमि' आदि क्रियापदों का समानार्थ में प्रयोग हुआ है वैसे ही यहाँ भी 'जाणइ पासइ' रूप युगल क्रियापद समानार्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जो मनुष्य केवली नहीं है अर्थात् छद्मस्थ है उसके लिए भी 'जाणइ पासइ' अथवा 'अजाणओ अपासओ' का प्रयोग होता है। दर्शन ज्ञान के क्रम के अनुसार तो पहले 'पासइ' अथवा 'अपासओ' और बाद में 'जाणइ' अथवा 'अजाणओ' का प्रयोग होना चाहिए किन्तु ये वचन इस प्रकार के किसी क्रम को दृष्टि में रखकर नहीं कहे गये हैं। यह तो बोलने की एक शैली मात्र है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस शैली का प्रयोग दिखाई देता है। मज्झिमनिकाय के सब्बासव

सुत्त में भगवान् बुद्ध के मुख से कहलवाया गया है : 'जानतो अहं भिक्खवे पस्सतो आसवानं खयं वदामि, नो अजानतो नो अपस्सतो' अर्थात् हे भिक्षुओ ! मैं जानता हुआ—देखता हुआ आस्रवों के क्षय की बात कहता हूँ, नहीं जानता हुआ—नहीं देखता हुआ नहीं । इसी प्रकार का प्रयोग भगवती सूत्र में भी मिलता है : 'जे इमे भंते ! बेइंदिया पंचिंदिया जीवा एएसि आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा जाणामो पासामो, जे इमे पुढविकाइया एगिंदिया जीवा एएसि णं आणामं वा नीसासं वा न याणामो न पासामो' (श० २, उ० १)—द्वीन्द्रियादिक जीव जो श्वासोच्छ्वास आदि लेते हैं वह हम जानते हैं, देखते हैं किन्तु एकेन्द्रिय जीव जो श्वास आदि लेते हैं वह हम नहीं जानते, नहीं देखते ।

ज्ञान के स्वरूप की परिभाषा के अनुसार दर्शन सामान्य, उपयोग सामान्य, बोध अथवा निराकार प्रतीति है, जब कि ज्ञान विशेष उपयोग, विशेष बोध अथवा साकार प्रतीति है । मनःपर्याय-उपयोग ज्ञानरूप ही माना जाता है, दर्शनरूप नहीं, क्योंकि उसमें विशेष का ही बोध होता है, सामान्य का नहीं । ऐसा होते हुए भी नंदीसूत्र में ऋजुमति एवं विपुलमति मनःपर्यायज्ञानी के लिए 'जाणइ' व 'पासइ' दोनों पदों का प्रयोग हुआ है । यदि 'जाणइ' पद केवल ज्ञान का ही द्योतक होता और 'पासइ' पद केवल दर्शन का ही प्रतीक होता तो मनःपर्यायज्ञानी के लिए केवल 'जाणइ' पद का ही प्रयोग किया जाता, 'पासइ' पद का नहीं । नंदी में एतद्विषयक पाठ इस प्रकार है :—

दव्वओ णं उज्जुमई णं अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ, ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए　　　वितिमिरतराए जाणइ पासइ । खेत्तओ णं उज्जुमई जहन्नेणं　　　उक्कोसेणं मणोगए भावे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई विसुद्धतरं　　　जाणइ पासइ । कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं उक्कोसेणं पि जाणइ पासइ तं चेव विउलमई विसुद्धतराग जाणइ पासइ । भावओ णं उज्जुमई　　　जाणइ पासइ । तं चेव विउलमई विसुद्धतराग जाणइ पासइ ।

इसी प्रकार श्रुतज्ञानी के सम्बन्ध में भी नंदीसूत्र में 'सुअणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ' ऐसा पाठ आता है । श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है, दर्शन नहीं । फिर भी उसके लिए 'जाणइ' व 'पासइ' दोनों का प्रयोग किया गया है ।

यह सब देखते हुए यही मानना विशेष उचित है कि 'जाणइ पासइ' का प्रयोग केवल एक भाषाशैली है । इसके आधार पर ज्ञान व दर्शन के क्रम-अक्रम का विचार करना युक्तियुक्त नहीं ।

वसुपद

आचाराग में वसु, अणुवसु, वसुमत, दुव्वसु आदि वसु पद वाले शब्दो का प्रयोग हुआ है। 'वसु' शब्द अवेस्ता, वेद एव उपनिषद् मे भी मिलता है। इससे मालूम होता है कि यह शब्द बहुत प्राचीन है। अवेस्ता में इस शब्द का प्रयोग 'पवित्र' के अर्थ में हुआ है। वहा इसका उच्चारण 'वसु' न होकर 'वोहू' है। वेद व उपनिषद् में इसका उच्चारण 'वसु' के रूप में ही है।[1] उपनिषद् में प्रयुक्त 'वसु' शब्द हस अर्थात् पवित्र आत्मा का द्योतक है हस शुचिवद् वसु (कठोपनिषद्, वल्ली ५, श्लोक २, छान्दोग्योपनिषद्, खड १६, श्लोक १-२)। बाद में इस शब्द का प्रयोग वसु नामक आठ देवो अथवा धन के अर्थ में होने लगा। आचाराग में इस शब्द का प्रयोग आत्मार्थी पवित्र मुनि एव आत्मार्थी पवित्र गृहस्थ के अर्थ में हुआ है। वसु अर्थात् मुनि। अणुवसु अर्थात् छोटा मुनि—आत्मार्थी पवित्र गृहस्थ। दुव्वसु अर्थात् मुक्तिगमन के अयोग्य मुनि—अपवित्र मुनि—आचारहीन मुनि।

वेद

वेयव—वेदवान् और वेयवी—वेदवित् इन दोनो शब्दो का प्रयोग आचाराग में भिन्न-भिन्न अध्ययनो में हुआ है। चूर्णिकार ने इनका विवेचन करते हुए लिखा है ' 'वेतिज्जइ जेण स वेदो त वेदयति इति वेदवि' (आचाराग—चूर्णि, पृ १५२) 'वदवी-तित्थगर एव कित्तयति विवेग, दुवालसग वा प्रवचन वेदो तं जे वेदयति स वेदवी' (वही पृ १८५)। इन अवतरणो मे चूर्णिकार ने तीर्थंकर को वेदवी—वेदवित् कहा है। जिससे वेदन हो अर्थात् ज्ञान हो वह वेद है। इसीलिए जैन सूत्रों को अर्थात् द्वादशाग प्रवचन को वेद कहा गया है। नियुक्तिकार ने आचाराग को वेदरूप बताया है। वृत्तिकार ने भी इस कथन का समर्थन किया है एव आचारादि आगमो को वेद तथा तीर्थंकरो, गणधरो एव चतुर्दशपूर्वियों को वेदवित् कहा है। इस प्रकार जैन परम्परा में ऋग्वेदादि को हिंसाचारप्रधान होने के कारण वेद न मानते हुए अहिंसाचारप्रधान आचारागादि को वेद माना गया है। वसुदेवहिंडी (प्रथमभाग, पृ १८३-१९३) में इसी प्रकार के ग्रन्थो को आर्यवेद कहा गया है। वस्तुत॰ देखा जाय तो वेद की प्रतिष्ठा से प्रभावित हो कर ही अपने शास्त्र को वेद नाम दिया गया है, यही मानना उचित है।

---

१ अवेस्ता के लिए देखिए—गाथाओ पर नवो प्रकाश, पृ ४४८, ४६२, ४६४, ८२३
वेद के लिए देखिए—ऋग्वेद मडल २, सूक्त २३, मत्र ९ तथा सूक्त ११, मत्र १.

आमगध •

आचाराग के 'सव्वामगध परिन्नाय निरामगधे परिव्वए' (२,५) वाक्य में यह निर्देश किया गया है कि मुनि को सब आमगधो को जानकर उनका त्याग करना चाहिए एव निरामगध ही विचरण करना चाहिए। चूर्णिकार अथवा वृत्तिकार ने आमगध का व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ नही बताया है। उन्होंने केवल यही कहा है कि 'आमगध' शब्द आहार से सम्बन्धित दोष का सूचक है। जो आहार उद्गम दोष से दूषित हो अथवा शुद्धि की दृष्टि से दोषयुक्त हो वह आमगध कहा जाता है। सामान्यतया 'आम' का अर्थ होता है कच्चा और गध का अर्थ होता है वास। जिसकी गध आम हो वह आमगध है। इस दृष्टि से जो आहारादि परिपक्व न हो अर्थात् जिसमें कच्चे की गन्ध मालूम होती हो वह आमगध में समाविष्ट होता है। जैन भिक्षुओ के लिए इस प्रकार का आहार त्याज्य है। लक्षणा से 'आमगध' शब्द इसी प्रकार के आहारादि सम्बन्धी अन्य दोषो का भी सूचक है।

बौद्धपिटक ग्रन्थ सुत्तनिपात में 'आमगध' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें तिष्य नामक तापस और भगवान् बुद्ध के बीच 'आमगध' के विचार के विषय में एक सवाद है। यह तापस कद, मूल, फल जो कुछ भी धर्मानुसार मिलता है उसके द्वारा अपना निर्वाह करता है एव तापसधर्म का पालन करता है। उसे भगवान् बुद्ध ने कहा कि हे तापस! तू जो परप्रदत्त अथवा स्वोपार्जित कद आदि ग्रहण करता है वह आमगध है—अमेध्यवस्तु—अपवित्रपदार्थ है। यह सुनकर तिष्य ने बुद्ध से कहा कि हे ब्रह्मबन्धु! तू स्वय सुसस्कृत—अच्छी तरह से पकाये हुए पक्षियो के मास से युक्त चावल का भोजन करने वाला है और मैं कद आदि खाने वाला हूँ। फिर भी तू मुझे तो आमगधभोजी कहता है और अपने आपको निरामगधभोजी। यह कैसे? इसका उत्तर देते हुए बुद्ध कहते हैं कि प्राणघात, वध, छेद, चोरी, असत्य, वचना, लूट, व्यभिचार आदि अनाचार आमगध हैं, मासभोजन आमगध नही। असयम, जिह्वालोलुपता, अपवित्र आचरण, नास्तिकता, विषमता तथा अविनय आमगध है मासाहार आमगध नही। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में समस्त दोषो—आतरिक व बाह्य दोषो को आमगध कहा गया है।

आचाराग में प्रयुक्त 'आमगध' का अर्थ आतरिक दोष तो है ही, साथ ही मासाहार भी है। जैन भिक्षुओ के लिये मासाहार के त्याग का विधान है। 'सव्वामगध परिन्नाय' लिखने का वास्तविक अर्थ यही है कि बाह्य व आतरिक

सब प्रकार का आमगध हेय है अर्थात् बाह्य आमगध—मासादि एव आन्तरिक आमगध—आभ्यन्तरिक दोष ये दोनो ही त्याज्य हैं।

आस्रव व परिस्रव

'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा' आचाराग (अ. ४, उ. २) के इस वाक्य का अर्थ समझने के लिये आस्रव व परिस्रव का अर्थ जानना जरूरी है। आस्रव शब्द 'बधन के हेतु' के अर्थ में और परिस्रव शब्द 'बधन के नाश के हेतु' के अर्थ में जैन व बौद्ध परिभाषा में रूढ़ है। अत 'जे आसवा ' का अर्थ यह हुआ कि जो आस्रव हैं अर्थात् बधन के हेतु हैं वे कई वार परिस्रव अर्थात बधन के नाश के हेतु बन जाते हैं और जो बधन के नाश के हेतु हैं वे कई वार बधन के हेतु बन जाते हैं। इसी प्रकार जो अनास्रव है अर्थात् बधन के हेतु नहीं हैं वे कई वार अपरिस्रव अर्थात् बधन के हेतु बन जाते हैं और जो बधन के हेतु हैं वे कई वार बधन के अहेतु बन जाते हैं। इन वाक्यो का गूढार्थ 'मन एव मनुष्याणा कारण बन्ध-मोक्षयो' के सिद्धान्त के आधार पर समझा जा सकता है। बधन व मुक्ति का कारण मन ही है। मन की विचित्रता के कारण ही जो हेतु बधन का कारण होता है वही मुक्ति का भी कारण बन जाता है। इसी प्रकार मुक्ति का हेतु बधन का कारण भी बन सकता है। उदाहरण के लिए एक ही पुस्तक किसी के लिए ज्ञानार्जन का कारण बनती है तो किसी के लिए क्लेश का, अथवा किसी समय विद्योपार्जन का हेतु बनती है तो किसी समय कलह का। तात्पर्य यह है कि चित्तशुद्धि अथवा अप्रमत्तता पूर्वक की जाने वाली क्रियाएँ ही अनास्रव अथवा परिस्रव का कारण बनती है। अशुद्ध चित्त अथवा प्रमादपूर्वक की गई क्रियाएँ आस्रव अथवा अपरिस्रव का कारण होती है।

वर्णाभिलाषा

'वण्णाएसी नारभे कचण सव्वलोए' (आचाराग, अ ५, उ २ सू १५५) का अर्थ इस प्रकार है : वर्ण का अभिलाषी लोक में किसी का भी आलम्बन न करे। वर्ण अर्थात् प्रशसा, यश, कीर्ति। उसके आदेशी अर्थात् अभिलाषी को सारे ससार में किसी की भी हिंसा नही करनी चाहिए, किसी का भी भोग नही लेना चाहिए। इसी प्रकार असत्य, चौर्य आदि का भी आचरण नही करना चाहिए। यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है ससार में कीर्ति अथवा प्रशसा के लिए देहदमनादिक की प्रवृत्ति नही करनी चाहिए। तीसरा अर्थ यो है लोक में वर्ण अर्थात् रूपसौन्दर्य के लिए किसी प्रकार का संस्कार—स्नानादि की प्रवृत्ति नही करनी चाहिए।

उपर्युक्त सूत्र में मुमुक्षुओं के लिए किसी प्रकार की हिंसा न करने का विधान है। इसमें किसी अपवाद का उल्लेख अथवा निर्देश नहीं है। फिर भी वृत्तिकार कहते हैं कि प्रवचन की प्रभावना के लिये अर्थात् जैन शासन की कीर्ति के लिए कोई इस प्रकार का आरम्भ—हिंसा कर सकता है : प्रवचनोद्भावनार्थं तु आरभते (आचारांगवृत्ति, पृ. १९७)। वृत्तिकार का यह कथन कहाँ तक युक्तिसंगत है, यह विचारणीय है।

मुनियों के उपकरण

आचारांग में भिक्षु के वस्त्र के उपयोग एवं अनुपयोग के सम्बन्ध में जो पाठ हैं उनमें कहीं भी वृत्तिकारनिर्दिष्ट जिनकल्प आदि भेदों का उल्लेख नहीं है, केवल भिक्षु की साधन सामग्री का निर्देश है। इसमें अचेलकता एवं सचेलकता का प्रतिपादन भिक्षु की अपनी परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए किया गया है। इस विषय में किसी प्रकार की अनिवार्यता को स्थान नहीं है। यह केवल आत्मबल व देहबल की तरतमता पर आधारित है। जिसका आत्मबल अथवा देहबल अपेक्षाकृत अल्प है उसे भी सूत्रकार ने साधना का पूरा अवसर दिया है। साथ ही यह भी कहा है कि अचेलक, त्रिवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, एकवस्त्रधारी एवं केवल लज्जानिवारणार्थ वस्त्र का उपयोग करने वाला—ये सब भिक्षु समानरूप से आदरणीय हैं, इन सबके प्रति समानता का भाव रखना चाहिए। समत्तमेव समभिजाणिया। इनमें से अमुक प्रकार के मुनि उत्तम हैं अथवा श्रेष्ठ हैं एवं अमुक प्रकार के हीन हैं अथवा अवम हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में मुनियों के उपकरणों के सम्बन्ध में आने वाले समस्त उल्लेखों में कहीं भी मुहपत्ती नामक उपकरण का निर्देश नहीं है। उनमें केवल वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपुंछन, अवग्रह तथा कटासन का नाम है : वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं ओग्गहं च कडासणं (२, ५), वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं (६, २), वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा (८, १), वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा (८, २)। भगवतीसूत्र में तथा अन्य अङ्गसूत्रों में जहाँ-जहाँ दीक्षा लेने वालों का अधिकार आता है वहाँ-वहाँ रजोहरण तथा पात्र के सिवाय किसी अन्य उपकरण का उल्लेख नहीं दीखता है। यह हकीकत भी मुहपत्ती के सम्बन्ध में विवाद खड़ा करने वाली है। भगवती सूत्र में 'गौतम मुँहपत्ती का प्रतिलेखन करते हैं' इस प्रकार का उल्लेख आता है। इससे प्रतीत होता है कि आचारांग की रचना के समय मुँहपत्ती का भिक्षुओं के उपकरणों में समावेश न था किन्तु बाद में इसकी वृद्धि की गई। मुँहपत्ती के बांधने का उल्लेख तो कहीं दिखाई नहीं देता। संभव है बोलते समय

अन्य पर थूंक न गिरे तथा पुस्तक पर भी थूंक न पडे, इस दृष्टि से मुँहपत्ती का उपयोग प्रारम्भ हुआ हो। मुँह पर मुँहपत्ती बाध रखने का रिवाज तो बहुत समय बाद ही चला है।[1]

महावीर-चर्या

आचाराग के उपधानश्रुत नामक नववें अध्ययन में भगवान् महावीर का जो चरित्र दिया गया है वह भगवान् की जीवनचर्या का साक्षात् द्योतक है। उसमे कही भी अत्युक्ति नही है। उनके पास इद्र, सूर्य आदि के आने की घटना का कही भी निर्देश नही है। इस अध्ययन में भगवान् के धर्मचक्र के प्रवर्तन अर्थात् उपदेश का स्पष्ट उल्लेख है। इनमें भगवान् की दीक्षा से लेकर निर्वाण तक की समग्र जीवन-घटना का उल्लेख है। भगवान् ने साधना की, वीतराग हुए, देशना दी अर्थात् उपदेश दिया और अन्त में 'अभिनिव्वुडे' अर्थात् निर्वाण प्राप्त किया। इस अध्ययन में एक जगह ऐसा पाठ है :—

> अप्प तिरिय पेहाए अप्प पिट्ठओ व पेहाए।
> अप्प वुइए पडिभाणी पथपेही चरे जयमाणे ॥

अर्थात् भगवान् ध्यान करते समय तिरछा नही देखते अथवा कम देखते, पीछे नही देखते अथवा कम देखते, बोलते नही अथवा कम बोलते, उत्तर नही देते अथवा कम देते एव मार्ग को ध्यानपूर्वक यतना से देखते हुए चलते।

इस सहज चर्या का भगवान् के जन्मजात माने जाने वाले अवधिज्ञान के साथ विरोध होता देख चूर्णिकार इस प्रकार समाधान करते हैं कि भगवान् को आख का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नही है (क्योकि वे छद्मावस्था में भी अपने अवधिज्ञान से बिना आख के ही देख सकते हैं, जान सकते हैं) फिर भी शिष्यो को समझाने के लिए इस प्रकार का उल्लेख आवश्यक है ण एत भगवतो भवति, तहावि आयरिय धम्माण सिस्साण इति काउ अप्पं तिरियं (चूर्णि, पृ० ३१०) इस प्रकार चूर्णिकार ने भगवान् महावीर से सम्बन्धित महिमावर्धक अतिशयोक्तियों को सुसगत करने के लिए मूलसूत्र के बिलकुल सीधे-सादे एव सुगम वचनों को अपने ढग से समझाने का अनेक स्थानो पर प्रयास किया है। पीछे के टीकाकारो ने भी एक या दूसरे ढग से इसी पद्धति का अवलम्बन लिया

---

१ जैन शासन में क्रियाकाड में परिवर्तन करने वाले और स्थानकवासी परम्परा के प्रवर्तक प्रधान पुरुष श्री लोकाशाह भी मुहपत्ती नही बाधते थे। बांधने की प्रथा बाद में चली है। देखिए—गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति-ग्रन्थ में प० दलसुखभाई मालवणिया का लेख 'लोकाशाह और उनकी विचारधारा'।

है। यह तत्कालीन वातावरण एव भक्ति का सूचक है। ललितविस्तर आदि बौद्ध ग्रन्थो मे भी भगवान् बुद्ध के विषय मे जैन ग्रन्थो के ही समान अनेक अतिशयोक्ति-पूण उल्लेख उपलब्ध हैं। महावीर के लिए प्रयुक्त मर्वज्ञ, सवदर्शी, अनतज्ञानी, केवली आदि शब्द आचाय हरिभद्र के कथनानुसार भगवान् के आत्मप्रभाव, वीत-रागता एव क्रान्तदर्शिता—दूरदर्शिता के सूचक है। वाद में जिस अर्थ मे ये शब्द रूढ हुए है एव शास्त्रार्थ का विषय वने हैं उस अर्थ में वे उनके लिए प्रयुक्त हुए प्रतीत नहीं होते। प्रत्येक महापुरुष जव सामान्य चर्या से ऊचा उठ जाता है— असाधारण जीवनचर्या का पालन करने लगता है तव भी वह मनुष्य ही होता है। तथापि लोग उसके लिए लोकोत्तर शब्दो का प्रयोग प्रारम्भ कर देते हैं और इस प्रकार अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। उत्तम कोटि के विचारक उस महापुरुष का यथाशक्ति अनुसरण करते हैं जब कि सामान्य लोग लोकोत्तर शब्दो द्वारा उनका स्तवन करते हैं, पूजन करते हैं, महिमा गाकर प्रसन्न होते हैं।

कुछ सुभाषित

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की समीक्षा समाप्त करने के पूर्व उसमें आने वाले कुछ सूक्त अर्थसहित नीचे दिये जाने आवश्यक हैं। वे इस प्रकार है —

१ पणया वीरा महावीहिं	वीर पुरुष महामार्ग की ओर अग्र-सर होते हैं।
२ जाए सद्धाए निक्खतो तमेव अणुपालिया	जिस श्रद्धा के साथ निकला उसी का पालन कर।
३ धीरे मुहुत्तमवि नो पमायए	धीर पुरुष एक मुहूर्त के लिए भी प्रमाद न करे।
४ वओ अच्चेइ जोव्वण च	वय चला जा रहा है और यौवन भी।
५ खण जाणाहि पडिए	हे पडित! क्षण को—समय को समझ।
६ सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा	सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सुख अच्छा लगता है, दु:ख अच्छा नही लगता, वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है, जीने की इच्छा है।
७ सव्वेसिं जीविअ पियं	सबको जीवन प्रिय है।

८ जेण मिया तेण णो सिया	जिसके द्वारा है उसके द्वारा नही है अर्थात् जो अनुकूल है वह प्रतिकूल हो जाता है।
९ जहा अतो तहा वाहि जहा वाहि तहा अंतो	जैसा अन्दर है वैसा बाहर है और जैमा बाहर है वैसा अन्दर है।
१० कामकामी खलु अयं पुरिसे	यह पुरुष सचमुच कामकामी है।
११ कासंकासेऽय खलु पुरिसे	यह पुरुष 'मै करूंगा, मै करूंगा' ऐसे ही करता रहता है।
१२ वेरं वड्ढइ अप्पणो	ऐमा पुरुष अपना वैर वढाता है।
१३ सुत्ता अमुणी मुणिणो सयय जागरति	अमुनि सोये हुए है और मुनि सतत जाग्रत हैं।
१४ अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ	कर्महीन के व्यवहार नही होता।
१५ अग्गं च मूल च विगिंच धीरे	हे धीर पुरुष! प्रपच के अग्रभाग व मूल को काट डाल।
१६ का अरइ के आणदे एत्थ पि अग्गहे चरे	क्या अरति और क्या आनन्द, दोनो में अनासक्त रहो।
१७ पुरिसा! तुममेव तुम मित्त किं वहिया मित्तमिच्छसि	हे पुरुष! तू ही अपना मित्र है फिर वाह्य मित्र की इच्छा क्यो करता है?
१८ पुरिसा! अत्ताणमेव अभि-निगिज्झ एव दुक्खा पमो-क्खसि	हे पुरुष! तू अपने आप को ही निगृहीत कर। इस प्रकार तेरा दुःख दूर होगा।
१९ पुरिसा! सच्चमेव समभि-जाणाहि	हे पुरुष! सत्य को ही सम्यक्रूप से समझ।
२० जे एग नामे से वहु नामे, जे वहु नामे से एग नामे	जो एक को झुकाता है वह वहुतो को झुकाता है और जो वहुतो को झुकाता है वह एक को झुकाता है।
२१ सव्वओ पमत्तस्स भय अप्पमत्तस्स नत्थि भयं "	प्रमादी को चारो ओर से भय है, अप्रमादी को कोई भय नही।

२२ जंति वीरा महाजाणं	वीर पुरुष महायान को प्राप्त करते हैं।
२३ कम्मेहि अप्पाणं	आत्मा का अर्थात् शुद्ध को दम।
२४ जरेहि अप्पाणं	आत्मा को अर्थात् शुद्ध का जीर्ण कर।
२५ बहु दुक्खा हु जंतवो	सचमुच प्राणी बहुत दुःखी है।
२६ तुमं सि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि	तू जिसे हनने योग्य समझता है वह तू खुद ही है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की उपर्युक्त समीक्षा के ही समान द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भी समीक्षा आवश्यक है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सामान्य परिचय पहले दिया जा चुका है। यह पांच चूलिकाओं में विभक्त है जिसमें आचार-प्रकल्प अथवा निशीथ नामक पंचम चूलिका आचारांग से अलग होकर एक स्वतन्त्र ग्रंथ ही बन गई है। अतः वर्तमान द्वितीय श्रुतस्कन्ध में केवल चार चूलिकाएँ ही हैं। प्रथम चूलिका में सात प्रकरण हैं जिनमें से प्रथम प्रकरण आहारविषयक है। इस प्रकरण में कुछ विशेषता है। जिसकी चर्चा करना आवश्यक है।

आहार

जैन भिक्षु के लिए यह एक सामान्य नियम है कि अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम छोटे-बड़े जीवों से युक्त हो, काई से व्याप्त हो, गेहूँ आदि के दानों के सहित हो, हरी वनस्पति आदि से मिश्रित हो, ठण्डे पानी से भिगोया हुआ हो, जीवयुक्त हो, रजवाला हो उसे भिक्षु स्वीकार न करे। कदाचित् असावधानी से ऐसा भोजन आ भी जाये तो उसमें से जीवजन्तु आदि निकाल कर विवेकपूर्वक उनका उपयोग करे। भोजन करने के लिये स्थान कैसा हो ? उसके उत्तर में कहा गया है कि भिक्षु एकान्त स्थान ढूँढे अर्थात् एकान्त में जाकर किसी वाटिका, उपाश्रय अथवा शून्यगृह में किसी के न देखते हुए भोजन करे। वाटिका आदि कैसे हो ? जिसमें बैठने की जगह अंडे न हो, अन्य जीवजन्तु न हो, अनाज के दाने अथवा फूल आदि के बीज न हो, हरे पत्ते आदि न पड़े हो, ओस न पड़ी हो, ठण्डा पानी न गिरा हो, काई न चिपकी हो, गीली मिट्टी न हो, मकड़ी के जाले न हो ऐसे निर्जीव स्थान में बैठकर भिक्षु भोजन करे। आहार, पानी आदि में अखाद्य अथवा अपेय पदार्थ के निकलने पर उसे ऐसे स्थान में फेंके जहाँ एकान्त हो अर्थात् किसी का आना-जाना न हो तथा जीवजन्तु आदि भी न हो।

भिक्षा के हेतु अन्य मत के साधु अथवा गृहस्थ के साथ किसी के घर में प्रवेश न करे अथवा घर से बाहर न निकले क्योंकि वृत्तिकार के कथनानुसार अन्य तीर्थिको के साथ प्रवेश करने व निकलने वाले भिक्षु को आध्यात्मिक व बाह्य हानि होती है। इस नियम से एक बात यह फलित होती है कि उस जमाने में भी सम्प्रदाय सम्प्रदाय के बीच परस्पर सद्भावना का अभाव था।

आगे एक नियम यह है कि जो भोजन अन्य श्रमणो अर्थात् बौद्ध श्रमणों, तापसों, आजीविकों आदि के लिए अथवा अतिथियो, भिखारियो, वनीपको[1] आदि के लिये बनाया गया हो उसे जैनभिक्षु ग्रहण न करे। इस नियम द्वारा अन्य भिक्षुओ अथवा श्रमणो को हानि न पहुँचाने की भावना व्यक्त होती है। इसी प्रकार जैन भिक्षुओं को नित्यपिण्ड, अग्रपिण्ड (भोजन का प्रथम भाग) आदि देने वाले कुलो में से भिक्षा ग्रहण करने की मनाही की गई है।

भिक्षा के योग्य कुल

जिन कुलो में भिक्षु भिक्षा के लिये जाते थे वे ये है उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, एसिअकुल—गोष्ठा का कुल, वेसिअकुल—वैश्यकुल, गडागकुल—गाँव में घोषणा करने वाले नापितों का कुल, कोट्टागकुल—वर्द्धकिकुल, बुक्कस अथवा बोक्कशालियकुल–बुनकरकुल। साथ ही यह भी बताया गया है कि जो कुल अनिन्दित है, अजुगुप्सित है उन्ही में जाना चाहिए, निन्दित व जुगुप्सित कुलो में नही जाना चाहिए। वृत्तिकार के कथनानुसार चमार कुल अथवा दासकुल निन्दित माने जाते है। इस नियम द्वारा यह फलित होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की योजना के समय जैनधर्म में कुल के आधार पर उच्च-कुल एव नीचकुल की भावना को स्थान मिला हो। इसके पूर्व जैन प्रवचन में इस भावना की गंध तक नही मिलती। जहाँ शुद्ध चाण्डाल के मुनि बनने के उल्लेख है वहाँ नीचकुल अथवा गर्हितकुल की कल्पना ही कैसे हो सकती है?

उत्सव के समय भिक्षा

एक जगह खान-पान के प्रसग से जिन विशेष उत्सवों के नामो का उल्लेख किया गया है वे ये है इन्द्रमह, स्कदमह, रुद्रमह, मुकुन्दमह, भूतमह, यक्षमह, नागमह, स्तूपमह, चैत्यमह, वृक्षमह, गिरिमह, कूपमह, नदीमह, सरोवरमह, सागरमह, आकरमह इत्यादि। इन उत्सवो पर उत्सव के निमित्त से आये हुए निमन्त्रित व्यक्तियो के भोजन कर लेने पर ही भिक्षु आहारप्राप्ति के लिए किसी

---

१ विशिष्ट वेषधारी भिखारी।

के घर में जाय, उससे पूर्व नही। इतना ही नही, वह घर में जाकर गृहपति की स्त्री, बहन, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, दास, दासी, नौकर, नौकरानी से कहे कि जिन्हें जो देना था उन्हें वह दे देने के बाद जो बचा हो उसमें से मुझे भिक्षा दो। इस नियम का प्रयोजन यही है कि किसी के भोजन में अन्तराय न पडे।

सखडि अर्थात् सामूहिक भोज में भिक्षा के लिए जाने का निषेध करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार की भिक्षा अनेक दोषों की जननी है। जन्मोत्सव, नामकरणोत्सव आदि के प्रसग पर होने वाले बृहद्भोज के निमित्त अनेक प्रकार की हिंसा होती है। ऐसे अवसर पर भिक्षा लेने जाने की स्थिति में साधुओं की सुविधा के लिए भी विशेष हिंसा की सम्भावना हो सकती है। अत सखडि में भिक्षु भिक्षा के लिए न जाय। आगे सूत्रकार ने यह भी बताया है कि जिस दिशा में सखडि होती हो उस दिशा में भी भिक्षु को नही जाना चाहिए। सखडि कहाँ कहाँ होती है? ग्राम, नगर, खेड, कर्वट, मडब, पट्टण, आकर, द्रोणमुख, नैगम, आश्रम, सनिवेश व राजधानी—इन सब में सखडि होती है। सखडि में भिक्षा के लिए जाने से भयकर दोष लगते हैं। उनके विषय में सूत्रकार कहते हैं कि कदाचित् वहाँ अधिक खाया जाय अथवा पीया जाय और वमन हो अथवा अपच हो तो रोग होने की सभावना होती है। गृहपति के साथ, गृहपति की स्त्री के साथ, परिव्राजको के साथ, परिव्राजिकाओ के साथ एकमेव हो जाने पर, मदिरा आदि पीने की परिस्थिति उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य-भग का भय रहता है। यह एक विशेष भयकर दोष है।

भिक्षा के लिये जाते समय

भिक्षा के लिये जाने वाले भिक्षु को कहा गया है कि अपने सब उपकरण साथ रखकर ही भिक्षा के लिए जाय। एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय भी वैसा ही करे। वर्तमान में एक गाँव से दूसरे गाव जाते समय तो इस नियम का पालन किया जाता है किन्तु भिक्षा के लिए जाते समय वैसा नही किया जाता। धीरे धीरे उपकरणो में वृद्धि होती गई। अत भिक्षा के समय सब उपकरण साथ में नही रखने की नई प्रथा चली हो ऐसा शक्य है।

राजकुलो मे

आगे बताया गया है कि भिक्षु को क्षत्रियो अर्थात् राजाओं के कुलो में, कुराजाओ के कुलों में, राजभृत्यो के कुलो में, राजवश के कुलो में भिक्षा के लिए नही जाना चाहिए। इससे मालूम होता है कि कुछ राजा एव राजवश के लोग भिक्षुओ के साथ असद्व्यवहार करते होगे अथवा उनके यहाँ का आहार सयम की साधना में विघ्नकर होता होगा।

मक्खन, मधु, मद्य व माम :

किसी गाँव में निर्बल अथवा वृद्ध भिक्षुओ ने स्थिरवास कर रखा हो अथवा कुछ समय के लिए मासकल्पी भिक्षुओ ने निवास किया हुआ हो और वहाँ ग्रामानुग्राम विचरते हुए अन्य भिक्षु अतिथि के रूप में आये हो जिन्हें देख कर पहले से ही वहाँ रहे हुए भिक्षु यो कहें कि हे श्रमणो ! यह गाँव तो बहुत छोटा है अथवा घर-घर सूतक लगा हुआ है इसलिए आप लोग आस पास के अमुक गाँव में भिक्षा के लिए जाइए। वहाँ हमारे अमुक सम्बन्धी रहते हैं। आपको उनके यहाँ से दूध, दही, मक्खन, घी, गुड, तेल, शहद, मद्य, मास, जलेबी, श्रीखण्ड, पूडी आदि सब कुछ मिलेगा। आपको जो पसन्द हो वह लें। खा-पीकर पात्र साफ कर फिर यहाँ आ जायें। सूत्रकार कहते हैं कि भिक्षु को इस प्रकार भिक्षा प्राप्त नही करनी चाहिए। यहाँ जिन खाद्य पदार्थों के नाम गिनाये हैं उनमें मक्खन, शहद, मद्य व माम का समावेश है। इससे मालूम होता है कि प्राचीन समय में कुछ भिक्षु मक्खन आदि लेते होंगे। यहाँ मक्खन, शहद, मद्य एव मास शब्द का कोई अन्य अर्थ नही है। वृत्तिकार स्वय एतद्विषयक स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि कोई भिक्षु अतिप्रमादी हो, खाने पीने का बहुत लालची हो तो वह शहद, मद्य एव मांस ले भी सकता है अथवा कश्चित् अतिप्रमादावष्टब्ध अत्यन्तगृध्नुतया मधु-मद्य-मामानि अपि आश्रयेत् अत तदुपादानम् (आचाराग-वृत्ति, पृ ३०६)। वृत्तिकार ने इसका अपवादसूत्र के रूप में भी व्याख्यान किया है। मूलपाठ के सन्दर्भ को देखते हुए यह उत्सर्गसूत्र ही प्रतीत होता है, अपवादसूत्र नही।

सम्मिलित सामग्री :

भिक्षा के लिए जाते हुए बीच में खाई, गढ आदि आने पर उन्हें लाँघ कर आगे न जाय। इसी प्रकार मार्ग में उन्मत्त साँड, भैंसा, घोडा, मनुष्य आदि होने पर उस ओर न जाय। भिक्षा के लिए गये हुए जैन भिक्षु आदि को भिक्षा देने वाला गृहपति यदि यो कहे कि हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैं अभी विशेष काम में व्यस्त हूँ। मैंने यह सारी भोजन-सामग्री आप सब को दे दी है। इसे आप लोग खा लीजिए अथवा आपस में बाँट लीजिए। ऐसी स्थिति में वह भोजन-सामग्री जैनभिक्षु स्वीकार न करे। कदाचित् कारणवशात् ऐसी सामग्री स्वीकार करनी पडे तो ऐसा न समझे कि दाता ने यह सारी सामग्री मुझ अकेले को दे दी है अथवा मेरे लिए ही पर्याप्त है। उसे आपस में बाटते समय अथवा साथ में मिलकर खाते समय किसी प्रकार का पक्षपात अथवा चालाकी न करे। भिक्षा-

ग्रहण का यह नियम औत्सर्गिक नही अपितु आपवादिक है। वृत्तिकार के अनुसार अमुक प्रकार के भिक्षुओ के लिए ही यह नियम है, सबके लिए नही।

ग्राह्य जल

भिक्षु के लिए ग्राह्य पानी के प्रकार ये हैं उत्स्वेदिम—पिसी हुई वस्तु को भिगोकर रखा हुआ पानी, सस्वेदिम—तिल आदि बिना पिसी वस्तु को धोकर रखा हुआ पानी, तण्डुलोदक—चावल का धोवन, तिलोदक—तिल का धोवन, तुषोदक—तुष का धोवन, यवोदक—यव का धोवन, आयाम-आचाम्ल—अवश्यान, आरनाल—काजी, शुद्ध अचित्त—निर्जीव पानी, आम्रपानक—आम का पानक, द्राक्षा का पानी, बिल्व का पानी, अमचूर का पानी, अनार का पानी, खजूर का पानी, नारियल का पानी, केर का पानी, बेर का पानी, आवले का पानी, इमली का पानी इत्यादि।

भिक्षु पकाई हुई वस्तु ही भोजन के लिए ले सकता है, कच्ची नही। इन वस्तुओ में कद, मूल, फल, फूल, पत्र आदि सबका समावेश है।

अग्राह्य भोजन

(कही पर अतिथि के लिए मास अथवा मछली पकाई जाती हो अथवा तेल में पूए तले जाते हो तो भिक्षु लालचवश लेने न जाय। किसी रुग्ण भिक्षु के लिए उसकी आवश्यकता होने पर वैसा करने में कोई हर्ज नही) मूल सूत्र में एक जगह यह भी बताया गया है कि भिक्षु को अस्थिबहुल अर्थात् जिसमें हड्डी की बहुलता हो वैसा मास व कटकबहुल अर्थात् जिसमें काटो की बहुलता हो वैसी मछली नहीं लेनी चाहिए। यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि आपको ऐसा मास व मछली चाहिए? तो भिक्षु कहे कि यदि तुम मुझे यह देना चाहते हो तो केवल पुद्गल भाग दो और हड्डियाँ व काटे न आवें इसका ध्यान रखो। ऐसा कहते हुए भी गृहस्थ यदि हड्डीवाला मास व काटोवाली मछली दे तो उसे लेकर एकान्त में जाकर किसी निर्दोष स्थान पर बैठ कर मास व मछली खाकर बची हुई हड्डियों व काटों को निर्जीव स्थान में डाल दे। यहाँ भी मास व मछली का स्पष्ट उल्लेख है। वृत्तिकार ने इस विषय में स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि इस सूत्र को आपवादिक समझना चाहिए। (किसी भिक्षु को लूता अथवा अन्य कोई रोग हुआ हो और किसी अच्छे वैद्य ने उसके उपचार के हेतु बाहर लगाने के लिए मास आदि की सिफारिश की हो तो भिक्षु आपवादिक रूप से वह ले सकता है। लगाने के बाद बचे हुए काटो व हड्डियों को निर्दोष स्थान पर फेंक देना चाहिए।) यहाँ वृत्तिकार ने मूल में प्रयुक्त 'भुज्' धातु का 'खाना' अर्थ न करते हुए 'बाहर

लगाना' अर्थ किया है। यह अर्थ सूत्र के सन्दर्भ की दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत नही होता। वृत्तिकार ने अपने युग के अहिंसाप्रधान प्रभाव से प्रभावित होकर ही मूल अर्थ में यत्र तत्र इस प्रकार के परिवर्तन किए हैं।

शय्यैषणा

शय्यैषणा नामक द्वितीय प्रकरण में कहा गया है कि जिस स्थान में गृहस्थ सकुटुम्ब रहते हो वहाँ भिक्षु नही रह सकता क्योकि ऐसे स्थान में रहने से अनेक दोष लगते हैं। कई बार ऐसा होता है कि लोगो की इस मान्यता से कि ये श्रमण ब्रह्मचारी होते हैं अत इनसे उत्पन्न होने वाली सन्तान तेजस्वी होती है, कोई स्त्री अपने पास रहने वाले भिक्षु को कामदेव के पजे में फँसा देती है जिससे उसे सयमभ्रष्ट होना पडता है। प्रस्तुत प्रकरण में मकान के प्रकार, मकानमालिको के व्यवसाय, उनके आभूषण, उनके अभ्यग के साधन, उनके स्नान सम्बन्धी द्रव्य आदि का उल्लेख है। इससे प्राचीन समय के मकानो व सामाजिक व्यवसायो का कुछ परिचय मिल सकता है।

ईर्यापथ

ईर्यापथ नामक तृतीय अध्ययन में भिक्षुओ के पाद-विहार, नौकारोहण, जल-प्रवेश आदि का निरूपण किया गया है। ईर्यापथ शब्द बौद्ध-परम्परा में भी प्रचलित है। तदनुसार स्थान, गमन, निषद्या और शयन इन चार का ईर्यापथ में समावेश होता है। विनयपिटक में एतद्विषयक विस्तृत विवेचन है। विहार करते समय बौद्ध भिक्षु अपनी परम्परा के नियमों के अनुसार तैयार होकर चलता है इसी का नाम ईर्यापथ है। दूसरे शब्दो में अपने समस्त उपकरण साथ में लेकर सावधानीपूर्वक गमन करने, शरीर के अवयव न हिलाने, हाथ न उछालने, पैर न पछाडने का नाम ईर्यापथ है। जैन परम्पराभिमत ईर्यापथ के नियमो के अनुसार भिक्षु को वर्षाऋतु में प्रवास नही करना चाहिए। जहाँ स्वाध्याय, शौच आदि के लिए उपयुक्त स्थान न हो, सयम की साधना के लिए यथेष्ट उपकरण सुलभ न हों, अन्य श्रमण, ब्राह्मण, याचक आदि बडी सख्या में आये हुए हो अथवा आने वाले हो वहाँ भिक्षु को वर्षावास नही करना चाहिए। वर्षाऋतु बीत जाने पर व हेमन्त ऋतु आने पर मार्ग निर्दोष हो गये हो—जीवयुक्त न रहे हो तो भिक्षु को विहार कर देना चाहिए। चलते हुए पैर के नीचे कोई जीव-जन्तु मालूम पडे तो पैर को ऊँचा रखकर चलना चाहिए, सकुचित कर चलना चाहिए, टेढ़ा रखकर चलना चाहिए, किसी भी तरह चलकर उस जीव की रक्षा करनी चाहिए। विवेकपूर्वक नीची नजर रखकर सामने चार हाथ भूमि देखते हुए

चलना चाहिए। वैदिक परम्परा व बौद्ध परम्परा के भिक्षुओ के लिए भी प्रवास करते समय इसी प्रकार से चलने की प्रक्रिया का विधान है। मार्ग में चोरो के विविध स्थान, म्लेच्छो—बर्बर, शबर, पुलिंद, भील आदि के निवासस्थान आवें तो भिक्षु को उस ओर विहार नही करना चाहिए क्योकि ये लोग धर्म से अनभिज्ञ होते है तथा अकालभोजी, असमय में घूमने वाले, असमय में जगने वाले एव साधुओ से द्वेष रखने वाले होते हैं। इसी प्रकार भिक्षु राजा रहितराज्य, गणराज्य (अनेक राजाओ वाला राज्य), अल्पवयस्कराज्य (कम उम्र वाले राजा का राज्य), द्विराज्य (दो राजाओ का सयुक्त राज्य) एव अशान्त राज्य (एक-दूसरे का विरोधी राज्य) की ओर भी विहार न करे क्योंकि ऐसे राज्यों में जाने से सयम की विराधना होने का भय रहता है। जिन गांवो की दूरी बहुत अधिक हो अर्थात् जहाँ दिन भर चलते रहने पर भी एक गांव से दूसरे गाँव न पहुँचा जाता हो उस ओर विहार करने का भी निषेध किया गया है। मार्ग में नदी आदि आने पर उसे नाव की सहायता के बिना पार न कर सकने की स्थिति में ही भिक्षु नाव का उपयोग करे, अन्यथा नही। पानी में चलते समय अथवा नाव से पानी पार करते समय पूरी सावधानी रखे। यदि दो-चार कोस के घेरे में भी स्थलमार्ग हो तो जलमार्ग से न जाय। नाव मे बैठने पर नाविक द्वारा किसी प्रकार की सेवा माँगी जाने पर न दे किन्तु मौनपूर्वक ध्यान परायण रहे। कदाचित् नाव में बैठे हुए लोग उसे पकड कर पानी में फेंकने लगें तो वह उन्हें कहे कि आप लोग ऐसा न करिये। मैं खुद ही पानी में कूद जाता हूँ। फिर भी यदि लोग उसे पकड कर फेंक दें तो समभावपूर्वक पानी में गिर जाय एव तैरना आता हो तो शान्ति से तैरते हुए बाहर निकल जाय। विहार करते हुए मार्ग में चोर मिलें और भिक्षु से कहें कि ये कपडे हमें दे दो तो वह उन्हें कपडे न दे। छीनकर ले जाने की स्थिति में दयनीयता न दिखावे और न किसी प्रकार की शिकायत ही करे।

भाषाप्रयोग :

भाषाजात नामक चतुर्थ अध्ययन में भिक्षु की भाषा का विवेचन है। भाषा के विभिन्न प्रकारो में से किस प्रकार की भाषा का प्रयोग भिक्षु को करना चाहिए, किसके साथ कैसी भाषा बोलनी चाहिए, भाषा-प्रयोग में किन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये—इन सब पहलुओ पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

वस्त्रधारण :

वस्त्रैषणा नामक पचम प्रकरण में भिक्षु के वस्त्रग्रहण व वस्त्रधारण का विचार है। जो भिक्षु तरुण हो, बलवान् हो, रुग्ण न हो उसे एक वस्त्र धारण करना

चाहिए, दूसरा नही। भिक्षुणी को चार सघाटियाँ धारण करनी चाहिये जिनमें से एक दो हाथ चौडी हो, दो तीन हाथ चौडी हो और एक चार हाथ चौडी हो। श्रमण किस प्रकार के वस्त्र धारण करे? जगिय—ऊँट आदि की ऊन से बना हुआ, भगिय—द्वीन्द्रिय आदि प्राणियो की लार से बना हुआ, साणिय—सनकी छाल से बना हुआ, पोत्तग—ताडपत्र के पत्तो से बना हुआ, खोमिय—कपास का बना हुआ एव तूलकड—आक आदि की रुई से बना हुआ वस्त्र श्रमण काम में ले सकता है। पतले, सुनहले, चमकते एव बहुमूल्य वस्त्रों का उपयोग श्रमण के लिये वर्जित है। ब्राह्मणो के वस्त्र के उपयोग के विषय में मनुस्मृति (अ० २, श्लो० ४०-४१) में एव बौद्ध श्रमणों के वस्त्रोपयोग के सम्बन्ध में विनयपिटक (पृ० २७५) में प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मणो के लिए निम्नोक्त छ प्रकार के वस्त्र अनुमत हैं कृष्णमृग, रुरु (मृगविशेष) एव छाग (बकरा) का चमडा, सन, क्षुमा (अलसी) एव मेष (मेड) के लोम से बना वस्त्र। बौद्ध श्रमणो के लिए निम्नोक्त छ प्रकार के वस्त्र विहित हैं : कौशेय—रेशमी वस्त्र, कबल, कोजव—लवे बाल वाला कबल, क्षौम—अलसी की छाल से बना हुआ वस्त्र, शाण—सन की छाल से बना हुआ वस्त्र, भग-भग की छाल से बना हुआ वस्त्र। जैन भिक्षुओं के लिए जगिय आदि उपर्युक्त छ प्रकार के वस्त्र ग्राह्य हैं। बौद्ध भिक्षुओं के लिए बहुमूल्य वस्त्र न लेने के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नही है। जैन श्रमणो के लिए कबल, कोजव एव बहुमूल्य वस्त्र के उपयोग का स्पष्ट निषेध है।

पात्रैषणा

पात्रैषणा नामक षष्ठ अध्ययन में बताया गया है कि तरुण, बलवान् एव स्वस्थ भिक्षु को केवल एक पात्र रखना चाहिए। यह पात्र अलाबु, काष्ठ अथवा मिट्टी का हो सकता है। बौद्ध श्रमणों के लिए मिट्टी व लोहे के पात्र का उपयोग विहित है, काष्ठादि के पात्र का नही।

अवग्रहैषणा :

अवग्रहैषणा नमक सप्तम अध्ययन में अवग्रहविषयक विवेचन है। अवग्रह अर्थात् किसी के स्वामित्व का स्थान। निर्ग्रन्थ भिक्षु किसी स्थान में ठहरने के पूर्व उसके स्वामी की अनिवार्यरूप से अनुमति ले। ऐसा न करने पर उसे अदत्तादान—चोरी करने का दोष लगता है।

मलमूत्रविसर्जन :

द्वितीय चूलिका के उच्चार-प्रस्रवणनिक्षेप नामक दसवें अध्ययन में बताया गया है कि भिक्षु को अपना टट्टी-पेशाब कहाँ व कैसे डालना चाहिए? ग्रथ की

योजना करने वाले ज्ञानी एवं अनुभवी पुरुष यह जानते थे कि यदि मूलमूत्र उपयुक्त स्थान पर न डाला गया तो लोगों के स्वास्थ्य की हानि होने के साथ ही साथ अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचेगा एवं जीवहिंसा में वृद्धि होगी। जहाँ व जिस प्रकार डालने से किसी भी प्राणी के जीवन की विराधना की आशंका हो वहाँ व उस प्रकार भिक्षु को मलमूत्रादिक नहीं डालना चाहिए।

शब्दश्रवण व रूपदर्शन

आगे के दो अध्ययनों में बताया गया है कि किसी भी प्रकार के मधुर शब्द सुनने की भावना से अथवा कर्कश शब्द न सुनने की इच्छा से भिक्षु को गमनागमन नहीं करना चाहिए। फिर भी यदि वैसे शब्द सुनने ही पड़ें तो समभावपूर्वक सुनना व सहन करना चाहिए। यही बात मनोहर व अमनोहर रूपादि के विषय में भी है। इन अध्ययनों में सूत्रकार ने विविध प्रकार के शब्दों व रूपों पर प्रकाश डाला है।

परक्रियानिषेध :

इनसे आगे के दो अध्ययनों में भिक्षु के लिए परक्रिया अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसके शरीर पर की जाने वाली किसी भी प्रकार की क्रिया, यथा शृङ्गार, उपचार आदि स्वीकार करने का निषेध किया गया है। इसी प्रकार भिक्षु-भिक्षु के बीच की अथवा भिक्षुणी-भिक्षुणी के बीच की परक्रिया भी निषिद्ध है।

महावीर-चरित

भावना नामक तृतीय चूलिका में भगवान् महावीर का चरित्र है। इसमें भगवान् का स्वर्गच्यवन, गर्भापहार, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान एवं निर्वाण वर्णित है। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में भारतवर्ष के दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुर ग्राम में भगवान् स्वर्ग से मृत्युलोक में आये। तदनन्तर भगवान् के हितानुकम्पक देव ने उनके गर्भ को आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में उत्तर-क्षत्रियकुण्डपुर ग्राम में रहने वाले ज्ञातक्षत्रिय काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ की वासिष्ठगोत्रीया त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में बदला और त्रिशला के गर्भ को दक्षिण-ब्राह्मणकुण्डपुर ग्राम में रहने वाली जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में बदला। उस समय महावीर तीन ज्ञानयुक्त थे। नौ महीने व साढ़े सात दिन-रात बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ। जिस रात्रि में भगवान् पैदा हुए उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देव व देवियाँ उनके जन्मस्थान पर आये। चारों ओर

दिव्य प्रकाश फैल गया। देवो ने अमृत की तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों व रत्नो की वर्षा की। भगवान् का सूतिकर्म देव-देवियो ने सम्पन्न किया। भगवान् के त्रिशला के गर्भ में आने के बाद सिद्धार्थ का घर धन, सुवर्ण आदि से बढ़ने लगा अतः माता पिता ने ज्ञातिभोजन कराकर खूब धूमधाम के साथ भगवान् का वर्धमान नाम रखा। भगवान् पाँच प्रकार के अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस, रूप व गंधमय कामभोगो का भोग करते हुए रहने लगे। (भगवान् के तीन नाम थे वर्धमान, श्रमण व महावीर। इनके पिता के भी तीन नाम थे सिद्धार्थ, श्रेयास व जसस। माता के भी तीन नाम थे त्रिशला, विदेहदत्ता व प्रियकारिणी। इनके पितृव्य अर्थात् चाचा का नाम सुपार्श्व, ज्येष्ठ भ्राता का नाम नंदिवर्धन, ज्येष्ठ भगिनी का नाम सुदर्शना व भार्या का नाम यशोदा था। इनकी पुत्री के दो नाम थे अनवद्या व प्रियदर्शना।[1] इनकी दौहित्री के भी दो नाम थे शेषवती व यशोमती।) इनके मातापिता पार्श्वापत्य अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। ये दोनो श्रावक धर्म का पालन करते थे। महावीर तीस वर्ष तक सागारावस्था में रहकर माता-पिता के स्वर्गवास के बाद अपनी प्रतिज्ञा पूरी होने पर समस्त रिद्धिसिद्धि का त्याग कर अपनी संपत्ति को लोगों में बाँट कर हेमन्त ऋतु की मृगशीर्ष—अगहन कृष्णा दशमी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में अनगार वृत्ति वाले हुए। उस समय लोकान्तिक देवो ने आकर भगवान् महावीर से कहा कि भगवन्! समस्त जीवो के हितरूप तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये। बाद में चारों प्रकार के देवों ने आकर उनका दीक्षा-महोत्सव किया। (उन्हें शरीर पर व शरीर के नीचे के भाग पर फूंक मारते ही उड़ जाय ऐसा पारदर्शक हंसलक्षण वस्त्र पहनाया,) आभूषण पहनाये और पालकी में बैठा कर अभिनिष्क्रमण-उत्सव किया। भगवान् पालकी में सिंहासन पर बैठे। उनके दोनो ओर शक्र और ईशान इन्द्र खड़े-खड़े चँवर डुलाते थे। पालकी के अग्रभाग अर्थात् पूर्वभाग को सुरो ने, दक्षिणभाग को असुरो ने, पश्चिम भाग को गरुडो ने एवं उत्तरभाग को नागों ने उठाया। उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर के बीचोबीच होते हुए भगवान् ज्ञातखण्ड नामक उद्यान में आये। पालकी से उतर कर सारे आभूषण निकाल दिये। बाद में भगवान् के पास घुटनों के बल बैठे हुए वैश्रमणी देवों ने हंसलक्षण कपड़े में वे आभूषण ले लिये। तदनन्तर भगवान् ने अपने दाहिने हाथ से सिर की दाहिनी ओर के व बायें हाथ से बायी ओर

---

१ ज्येष्ठ भगिनी व पुत्री के नामो में कुछ गड़बड़ी हुई मालूम होती है। विशेषावश्यकभाष्यकार ने (गाथा २३०७) महावीर की पुत्री का नाम ज्येष्ठा, सुदर्शना व अनवद्यागी बताया है जब कि आचारांग में महावीर की बहिन का नाम सुदर्शना तथा पुत्री का नाम अनवद्या व प्रियदर्शना बताया गया है।

के बालो का लोच किया । इन्द्र ने भगवान् के पास घुटनो के बल बैठकर वज्र-मय थाल में वे बाल ले लिये व भगवान् की अनुमति से उन्हें क्षीरसमुद्र में डाल दिये । बाद मे भगवान् ने सिद्धो को नमस्कार कर 'सव्वं मे अकरणिज्जं पाव-कम्मं' अर्थात् मेरे लिए सब प्रकार का पापकर्म अकरणीय है', इस प्रकार का सामायिकचारित्र स्वीकार किया । जिस समय भगवान् ने यह चारित्र स्वीकार किया उस समय देवपरिषद् एव मनुष्यपरिषद् चित्रवत् स्थिर एव शान्त हो गई । इन्द्र की आज्ञा से बजने वाले दिव्य बाजे शान्त हो गये । भगवान् द्वारा उच्चरित चारित्रग्रहण के शब्द सबने शान्त भाव से सुने । क्षायोपशमिक चारित्र स्वीकार करने वाले भगवान् को मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हुआ । इस ज्ञानद्वारा वे ढाई द्वीप में रहे हुए व्यक्त मनवाले समस्त पचेन्द्रिय प्राणियो के मनोगत भावो को जानने लगे । बाद में दीक्षित हुए भगवान् को उनके मित्रजनो, ज्ञातिजनो स्वजनों एव सम्बन्धीजनो ने विदाई दी । विदाई लेने के बाद भगवान् ने यह प्रतिज्ञा की कि आज से बारह वर्ष पर्यन्त शरीर की चिन्ता न करते हुए देव, मानव, पशु एव पक्षीकृत समस्त उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करूंगा, क्षमापूवक सहन करूंगा । ऐसी प्रतिज्ञा कर वे मुहूर्त दिवस शेष रहने पर उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर से रवाना होकर कम्मारग्राम पहुँचे । तत्पश्चात् शरीर की किसी प्रकार की परवाह न करते हुए महावीर उत्तम सयम, तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा, त्याग एव सन्तोषपूर्वक पाँच समिति व तीन गुप्ति का पालन करते हुए, अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे एव आने वाले उपसर्गो को शान्तिपूर्वक प्रसन्न चित्त से सहन करने लगे । इस प्रकार भगवान् ने बारह वर्ष व्यतीत किये । (तेरहवा वर्ष लगने पर वैशाख शुक्ला दशमी के दिन छाया के पूर्व दिशा की ओर मुडने पर अर्थात् अपराह्न में जिस समय महावीर जभियग्राम के बाहर उज्जुवालिया नामक नदी के उत्तरी किनारे पर श्यामाक नामक गृहपति के खेत में व्यावृत्त नामक चैत्य के समीप गोदो-हासन से बैठे हुए आतापना ले रहे थे दो उपवास धारण किये हुए थे, सिर नीचे रख कर दोनो घुटने ऊँचे किये हुए ध्यान में लीन थे उस समय उन्हें अनन्त—प्रतिपूर्ण—समग्र—निरावरण केवलज्ञान-दर्शन हुआ ।)

अब भगवान् अर्हत्—जिन हुए, केवली—सर्वज्ञ—सर्वभावदर्शी हुए । देव, मनुष्य एव असुरलोक पर्यायो के ज्ञाता हुए । आगमन, गमन, स्थिति, च्यवन, उपपात, प्रकट, गुप्त, कथित, अकथित आदि समस्त क्रियाओ व भावो के द्रष्टा हुए, ज्ञाता हुए । जिस समय भगवान् केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हुए उस समय भवनपति आदि चारों प्रकार के देवो व देवियों ने आकर भारी उत्सव किया ।

भगवान् ने अपनी आत्मा तथा लोक को सम्पूर्णतया देखकर पहले देवो को

और बाद में मनुष्यो को धर्मोपदेश दिया। बाद में गौतम आदि श्रमण-निर्ग्रन्थो को भावनायुक्त पांच महाव्रतो तथा छ जीवनिकायों का स्वरूप समझाया। भावना नामक प्रस्तुत चूलिका में इन पांच महाव्रतों का स्वरूप विस्तारपूर्वक समझाया गया है। साथ ही प्रत्येक व्रत की पांच-पांच भावनाओ का स्वरूप भी बताया गया है।

ममत्वमुक्ति

अन्त में विमुक्ति नामक चतुर्थ चूलिका में ममत्वमूलक आरम्भ और परिग्रह के फल की मीमासा करते हुए भिक्षु को उनसे दूर रहने को कहा गया है। उसे पर्वत की भाँति निश्चल व दृढ़ रह कर सर्प की केँचुली की भाँति ममत्व को उतार कर फेंक देना चाहिए।

वीतरागता एव सर्वज्ञता

पातजल योगसूत्र में यह बताया गया है कि अमुक भूमिका पर पहुँचते हुए साधक को केवलज्ञान होता है और वह उस ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों तथ समस्त घटनाओं को जान लेता है। इस परिभाषा के अनुसार भगवान् महावीर को भी केवली, सर्वज्ञ अथवा सर्वदर्शी कहा जा सकता है। किन्तु साधक-जीवन में प्रधानता एव महत्ता केवलज्ञान केवलदर्शन की नही है अपितु वीतरागता, वीतमोहता, निरास्रवता, निष्कषायता की है। वीतरागता की दृष्टि से ही आचार्य हरिभद्र ने कपिल और सुगत को भी सर्वज्ञ के रूप में स्वीकार किया है। भगवान् महावीर को ही सर्वज्ञ मानना व किसी अन्य को सर्वज्ञ न मानना ठीक नही। जिसमें वीतरागता है वह सर्वज्ञ है—उसका ज्ञान निर्दोष है। जिसमें सरागता है वह अल्पज्ञ है—उसका ज्ञान सदोष है।

इस प्रकार आचाराग की समीक्षा पूरी करने के बाद अब द्वितीय अग सूत्र-कृताग की समीक्षा प्रारम्भ की जाती है। इस अगसूत्र व आगे के अन्य अगसूत्रो की समीक्षा उतने विस्तार से न हो सकेगी जितने विस्तार से आचाराग की हुई है और न वैसा कोई निश्चित विवेचना-क्रम ही रखा जा सकेगा।

●

प्रकरण

४

सूत्रकृतांग

सूत्रकृत की रचना
नियतिवाद तथा आजीविक सम्प्रदाय
साख्यमत
कर्मचयवाद
बुद्ध का शूकर-मासभक्षण
हिंसा का हेतु
जगत्-कर्तृत्व
सयमधर्म
वेयालिय
उपसर्ग
स्त्री परिज्ञा
नरक-विभक्ति
वीरस्तव
कुशील
वीर्य अर्थात् पराक्रम
धर्म
समाधि
मार्ग
समवसरण
याथातथ्य
ग्रथ अर्थात् परिग्रह
आदान अथवा आदानीय
गाथा
ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु व निर्ग्रन्थ
सात महाअध्ययन

सूत्रकृतांग

१७१

पुण्डरीक

क्रियास्थान

बौद्ध दृष्टि से हिंसा

आहारपरिज्ञा

प्रत्याख्यान

आचारश्रुत

आर्द्रकुमार

नालंदा

उदय पेढालपुत्त

चतुर्थ प्रकरण

सूत्रकृतांग

समवायांग सूत्र में सूत्रकृतांग[1] का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें स्वसमय—स्वमत, परसमय—परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष आदि तत्त्वों के विषय में निर्देश है, नवदीक्षितों के लिए बोधवचन हैं, एक सौ अस्सी क्रियावादी मतों, चौरासी अक्रियावादी मतों, सड़सठ अज्ञानवादी मतों व बत्तीस विनयवादी मतों इस प्रकार सब मिलाकर तीन सौ तिरसठ अन्य दृष्टियों अर्थात् अन्य यूथिक मतों की चर्चा है। इसमें दृष्टान्तसहित युक्तियों से स्वमार्ग के प्रकाशन हैं। सूत्रकृतांग के इस सामान्य विषयकथन के साथ ही साथ समवायांग (तेइसवें समवाय) में इसके तेईस अध्ययनों के विशेष नामों का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार श्रमणसूत्र में भी इस अंग के तेईस अध्ययनों का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह व द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात। इसमें अध्ययनों के नाम नहीं दिये गये हैं।

---

१ (अ) निर्युक्ति व शीलांक की टीका के साथ—आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९१७, गोडीपार्श्व जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९५०।

(आ) शीलांक, हर्षकुल व पार्श्वचन्द्र की टीकाओं के साथ—धनपतसिंह कलकत्ता, वि० सं० १९३६।

(इ) अंग्रेजी अनुवाद—H Jacobi, S B E Series, Vol 45 Oxford, 1895

(ई) हिन्दी छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, श्वे० स्था० जैन कॉन्फरेंस बम्बई, सन् १९३८।

(उ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६।

(ऊ) निर्युक्तिसहित—पी० एल० वैद्य, पूना, सन् १९२८।

(ऋ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद।

(ए) प्रथम श्रुतस्कन्ध शीलांककृत टीका व उसके हिन्दी अनुवाद के साथ—अम्बिकादत्त ओझा, महावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी, राजकोट, वि० सं० १९९३-१९९५, द्वितीय श्रुतस्कन्ध हिन्दी अनुवादसहित—अम्बिकादत्त ओझा, बेंगलोर, वि० सं० १९९७

सूत्रकृतांग

नंदिसूत्र में बताया गया है कि सूत्रकृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, स्वसमय एवं परसमय का निरूपण है तथा क्रियावादी आदि तीन सौ तिरसठ पाखण्डियों अर्थात् अन्य मतावलम्बियों की चर्चा है।

राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, कल्प्य तथा अकल्प्य का विवेचन है, छेदोपस्थापना, व्यवहारधर्म एवं क्रियाओं का प्रकरण है।

धवला के अनुसार सूत्रकृतांग का विषयनिरूपण राजवार्तिक के ही समान है। इसमें स्वसमय एवं परसमय का विशेष उल्लेख है।

जयधवला में कहा गया है कि सूत्रकृतांग में स्वसमय, परसमय, स्त्रीपरिणाम, क्लीवता, अस्पष्टता—मन की बातों की अस्पष्टता, कामावेश, विभ्रम, आस्फालन-सुख—स्त्री संग का सुख, पुंस्कामिता—पुरुषेच्छा आदि की चर्चा है।

अंगपण्णत्ति में बताया है कि सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, निर्विघ्न अध्ययन, सर्वसत्क्रिया, प्रज्ञापना, सुकथा, कल्प्य, व्यवहार, धर्मक्रिया, छेदोपस्थापन, यति-समय, परसमय एवं क्रियाभेद का निरूपण है।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी नामक पुस्तक में 'तेवीसाए सुद्दयडऽज्झाणेसु' ऐसा उल्लेख है जिसका अर्थ है कि सूत्रकृत के तेईस अध्ययन हैं। इस पाठ की प्रभा-चन्द्रीय वृत्ति में इन तेईस अध्ययनों के नाम भी गिनाये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं: १ समय, २ वैतालीय, ३ उपसर्ग, ४ स्त्रीपरिणाम, ५ नरक, ६ वीरस्तुति, ७ कुशीलपरिभाषा, ८ वीर्य, ९. धर्म, १० अग्र, ११ मार्ग, १२ समवसरण, १३ त्रिकालग्रन्थहिद (?), १४ आत्मा, १५ तदित्थगाथा (?), १६ पुण्डरीक, १७ क्रियास्थान, १८ आहारकपरिणाम, १९ प्रत्याख्यान, २० अनगारगुणकीर्ति, २१ श्रुत, २२ अर्थ, २३ नालंदा। इस प्रकार अचेलक परम्परा में भी सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययन मान्य हैं। इन नामों व सचेलक परम्परा के टीकाग्रंथ आवश्यक-वृत्ति (पृ ६५१ व ६५८) में उपलब्ध नामों में थोड़ा-सा अन्तर है जो नगण्य है।

अचेलक परम्परा में इस अंग के प्राकृत में तीन नाम मिलते हैं: सुद्दयड, सूदयड और सूदयद। इनमें प्रयुक्त 'सुद्द' अथवा 'सूद' शब्द 'सूत्र' का एवं 'यड' अथवा 'यद' शब्द 'कृत' का सूचक है। इस अंग के प्राकृत नामों का संस्कृत रूपान्तर 'सूत्रकृत' ही प्रसिद्ध है। पूज्यपाद स्वामी से लेकर श्रुतसागर तक के सभी तत्त्वार्थवृत्तिकारों ने 'सूत्रकृत' नाम का ही उल्लेख किया है। सचेलक पर-म्परा में इसके लिए सूतगड, सूयगड और सुत्तकड—ये तीन प्राकृत नाम प्रसिद्ध हैं। इनका संस्कृत रूपान्तर भी हरिभद्र आदि आचार्यों ने 'सूत्रकृत' ही दिया

है। प्राकृत में भी नाम तो एक ही है किन्तु उच्चारण एवं व्यजनविकार की विविधता के कारण उसके रूपों में विशेषता आ गई है। अर्थबोधक संक्षिप्त शब्दरचना को 'सूत्र' कहते हैं। इस प्रकार की रचना जिसमें 'कृत' अर्थात् की गई है वह सूत्रकृत है। समवायांग आदि में निर्दिष्ट विषयों अथवा अध्ययनों में से सूत्रकृतांग की उपलब्ध वाचना में स्वमत तथा परमत की चर्चा प्रथमश्रुतस्कन्ध में संक्षेप में और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में स्पष्ट रूप से आती है। इसमें जीवविषयक निरूपण भी स्पष्ट है। नवदीक्षितों के लिए उपदेशप्रद बोधवचन भी वर्तमान वाचना में स्पष्ट रूप में उपलब्ध हैं। तीन सौ तिरसठ पाखंडमतों की चर्चा के लिए इस सूत्र में एक पूरा अध्ययन ही है। अन्यत्र भी प्रसंगवशात् भूतवादी, स्कन्धवादी, एकात्मवादी, नियतिवादी आदि मतावलम्बियों की चर्चा आती है। जगत् की रचना के विविध वादों की चर्चा तथा मोक्षमार्ग का निरूपण भी प्रस्तुत वाचना में उपलब्ध है। यत्र तत्र ज्ञान, आस्रव, पुण्य पाप आदि विषयों का निरूपण भी इसमें है। कल्प्य-अकल्प्यविषयक श्रमणसम्बन्धी आचार-व्यवहार की चर्चा के लिए भी वर्तमान वाचना में अनेक गाथाएँ तथा विशेष प्रकरण उपलब्ध हैं। धर्म एवं क्रिया-स्थान नामक विशेष अध्ययन भी मौजूद है। जयधवलोक्त स्त्रीपरिणाम से लेकर पुंस्कामिता तक के सब विषय उपसर्गपरिज्ञा तथा स्त्रीपरिज्ञा नामक अध्ययनों में स्पष्टतया उपलब्ध है। इस प्रकार अचेलक तथा सचेलक ग्रन्थों में निर्दिष्ट सूत्रकृतांग के विषय अधिकांशतया वर्तमान वाचना में विद्यमान हैं। यह अवश्य है कि किसी विषय का निरूपण प्रधानतया है तो किसी का गौणतया।

सूत्रकृत की रचना

सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों में से प्रथम अध्ययन का नाम समय है। 'समय' शब्द सिद्धान्त का सूचक है। इस अध्ययन में स्वसिद्धान्त के निरूपण के साथ ही साथ परमत का भी निरसन की दृष्टि से निरूपण किया गया है। इसका प्रारम्भ 'बुज्झिज्ज' शब्द से शुरू होने वाले पद्य से होता है

> बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।
> किमाह बंधणं वीरो किं वा जाणं तिउट्टइ॥

इस गाथा के उत्तरार्ध में प्रश्न है कि भगवान् महावीर ने बंधन किसे कहा है? इस प्रश्न के उत्तर के रूप में यह समग्र द्वितीय अंग बनाया गया है। निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिनवर का वचन सुनकर अपने क्षयोपशम द्वारा शुभ अभिप्रायपूर्वक गणधरों ने जिस 'सूत्र' की रचना 'कृत' अर्थात् की उसका नाम त्रकृत है। यह सूत्र अनेक योगधर साधुओं को स्वाभाविक भाषा अर्थात् प्राकृत-

भाषा में प्रभाषित अर्थात् कहा गया है।[1] इस प्रकार नियुक्तिकार ने ग्रथकार के रूप में किसी विशेष व्यक्ति का नाम नही बताया है। वक्ता के रूप में जिनवर का तथा श्रोता के रूप गणधरो का निर्देश किया है। चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने अपनी पूर्व परम्परा का अनुसरण करते हुए वक्ता के रूप में सुधर्मा का एव श्रोता के रूप में जबू का नामोल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में बुद्ध के मत के उल्लेख के साथ बुद्ध का नाम भी स्पष्ट आता है एव बुद्धोपदिष्ट एक रूपककथा का भी अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है। इससे कल्पना की जा सकती है कि जब बौद्ध पिटको के सकलन के लिए सगीतिकाएँ हुई, उनकी वाचना निश्चित हुई तथा बुद्ध के विचार लिपिबद्ध हुए वह काल इस सूत्र के निर्माण का काल रहा होगा। आचाराग में भी अन्यमतो का निर्देश है किन्तु एतद्विषयक जैसा उल्लेख सूत्रकृताग में है वैसा आचाराग में नही। सूत्रकृताग में इन मत-मतान्तरो का निरसन 'ये मत मिथ्या है, ये मतप्रवर्तक आरम्भी हैं, प्रमादी हैं, विषयासक्त हैं' इत्यादि शब्दो द्वारा किया गया है। इसके लिए किसी विशेष प्रकार की तर्कशैली का प्रयोग प्राय. नही है।

नियतिवाद तथा आजीविक सम्प्रदाय

सूत्रकृताग के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक के प्रारम्भ में नियतिवाद का उल्लेख है। वहाँ मूल में इस मत के पुरस्कर्ता गोशालक का कही भी नाम नही है। उपासकदशा नामक सप्तम अग में गोशालक तथा उसके मत नियतिवाद का स्पष्ट उल्लेख है।[2] उसमें बताया गया है कि गोशालक के मतानुसार बल, वीर्य, उत्थान, कर्म आदि कुछ नही है। सब भाव सर्वदा के लिए नियत हैं। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, सयुत्तनिकाय, अगुत्तरनिकाय आदि में तथा जैन ग्रन्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानाग, समवायाग, औपपातिक आदि में भी आजीविक मत-प्रवर्तक नियतिवादी गोशालक का (नामपूर्वक अथवा नामरहित) वर्णन उपलब्ध है। इस वर्णन का सार यह है कि गोशालक ने एक विशिष्ट पथ-प्रवर्तक के रूप से अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। वह विशेषतया श्रावस्ती की अपनी अनुयायिनी हाला नामक कुम्हारिन के यहाँ इसी नगरी के आजीविक मठ में रहता था। गोशालक का आजीविक सम्प्रदाय राजमान्य भी हुआ। प्रियदर्शी राजा अशोक एव उसके उत्तराधिकारी महाराजा दशरथ ने आजीविक सम्प्रदाय को दान दिया था, ऐसा उल्लेख शिलालेखों में आज भी उपलब्ध है। बौद्ध ग्रन्थ

१ सूत्रकृतागनिर्युक्ति, गा १८-१९
२ देखिये—सद्दालपुत्त एव कुडकोलियसम्बन्धी प्रकरण

महावंश की टीका में यह बताया गया है कि अशोक का पिता बिन्दुसार भी आजीविक सम्प्रदाय का आदर करता था। छठी शताब्दी में हुए वराहमिहिर के ग्रन्थ में भी आजीविक भिक्षुओ का उल्लेख है। बाद में इस सम्प्रदाय का धीरे-धीरे ह्रास होता गया व अन्त में किसी अन्य भारतीय सम्प्रदाय में विलयन हो गया। फिर तो यहाँ तक हुआ कि आजीविक सम्प्रदाय, त्रैराशिकमत और दिगम्बर परम्परा—इन तीनो के बीच कोई भेद ही नही रहा।[1] शीलांकदेव व अभयदेव[2] जैसे विद्वान् वृत्तिकार तक इनकी भिन्नता न बता सके। कोशकार[3] हलायुध (दसवी शताब्दी) ने इन तीनो को पर्यायवाची माना है। दक्षिण के तेरहवी शताब्दी के कुछ शिलालेखो में ये तीनो अभिन्न रूप से उल्लिखित हैं।

सांख्यमत

प्रस्तुत सूत्र में अनेक मत-मतान्तरो की चर्चा आती है। इनके पुरस्कर्ताओ के विषय में नामपूर्वक कोई खास वर्णन मूल मे उपलब्ध नही है। इन मतों में से बौद्धमत व नियतिवाद विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनो के प्रवर्तक भगवान् महावीर के समकालीन थे। सांख्यसम्मत आत्मा के अकर्तृत्व का निरसन करते हुए सूत्रकार कहते हैं

जे ते उ वाइणो एवं लोगे तेसिं कओ सिया ?
तमाओ ते तमं जंति मंदा आरम्भनिस्सिआ ॥

अर्थात् इन वादियो के मतानुसार ससार की जो व्यवस्था प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसकी संगति कैसे होगी ? ये अंधकार से अंधकार में जाते हैं, मंद हैं, आरंभ-समारंभ में डूबे हुए हैं।

उपर्युक्त गाथा के शब्दो से ऐसा मालूम होता है कि भगवान् महावीर के

---

१ 'स एव गोशालकमतानुसारी त्रैराशिक निराकृत.। पुन अन्येन प्रकारेण आह'—सूत्रकृत० २, श्रुत० ६ आर्द्रकीय अध्ययन गाथा १४वी का अवतरण—शीलाङ्कवृत्ति, पृ० ३९३

२ 'ते एव च आजीविका त्रैराशिका भणिता'—समवायवृत्ति—अभयदेव, पृ० १३०

३ 'रजोहरणधारी च श्वेतवासा सिताम्बर' ॥३४४॥
नग्नाटो दिग्वासा क्षपण श्रमणश्च जीवको जैन' ।
आजीवो मलधारी निर्ग्रन्थ कथ्यते सद्भि ॥३४५॥

—हलायुधकोश, द्वितीयकांड.

समय में अथवा सूत्रयोजक के युग में साख्यमतानुयायी अहिंसाप्रधान अथवा अपरिग्रहप्रधान नही दिखाई देते थे।

अज्ञानवाद :

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की छठी गाथा से जिस वाद की चर्चा प्रारम्भ होती है व चौदहवी गाथा से जिसका खण्डन शुरू होता है उसे चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने "अज्ञानवाद" नाम दिया है। निर्युक्तिकार ने कहा है कि नियतिवाद के वाद क्रमश अज्ञानवाद, ज्ञानवाद एव बुद्ध के कर्मचय की चर्चा आती है। निर्युक्तिकारनिर्दिष्ट अज्ञानवाद की चर्चा चूर्णि अथवा वृत्ति में कही भी दिखाई नही देती। समवसरण नामक बारहवें अध्ययन मे जिन मुख्य चार वादो का उल्लेख है उनमें अज्ञानवाद का भी समावेश है। इस वाद का स्वरूप वृत्तिकार ने इस प्रकार बताया है कि 'अज्ञानमेव श्रेय' अर्थात् अज्ञान ही कल्याणरूप है। अत कुछ भी जानने की आवश्यकता नही है। ज्ञान प्राप्त करने से उल्टी हानि होती है। ज्ञान न होने पर बहुत कम हानि होती है। उदाहरणार्थ जानकर अपराध किये जाने पर अधिक दण्ड मिलता है जबकि अज्ञानवश अपराध होने की स्थिति में दण्ड बहुत कम मिलता है अथवा बिलकुल नही मिलता। वृत्तिकार शीलाकाचार्यनिर्दिष्ट अज्ञानवाद का यह स्वरूप मूल गाथा में दृष्टिगोचर नही होता। यह गाथा इस प्रकार है

> माहणा समणा एगे सव्वे नाण सय वए।
> सव्वलोगे वि जे पाणा न ते जाणति किंचण ॥
> —अ १, उ २, गा १४

अर्थात् कई एक ब्राह्मण कहते हैं कि वे स्वय ज्ञान को प्रतिपादित करते हैं, उनके अतिरिक्त इस समस्त ससार में कोई कुछ भी नही जानता।

इस गाथा का तात्पर्य यह है कि कुछ ब्राह्मणो एव श्रमणो की दृष्टि से उनके अतिरिक्त सारा जगत् अज्ञानी है। यही अज्ञानवाद की भूमिका है। इसमें से 'अज्ञानमेव श्रेय' का सिद्धान्त वृत्तिकार ने कैसे निकाला? भगवान् महावीर के समकालीन छ तीर्थंकरो में से सजयवेलट्ठिपुत्त नामक एक तीर्थंकर अज्ञानवादी था। सभवत उसी के मत को ध्यान में रखते हुए उक्त गाथा की रचना हुई हो। उसके मतानुसार तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चयता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है। यह मत पाश्चात्यदर्शन के अज्ञेयवाद अथवा सशयवाद से मिलता-जुलता है।

कर्मचयवाद

द्वितीय उद्देशक के अन्त में भिक्षुसमय अर्थात् बौद्धमत के कर्मचयवाद की चर्चा है। यहाँ बौद्धदर्शन को सूत्रकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने क्रियावादी अर्थात् कर्मवादी कहा है। सूत्रकार कहते हैं कि इस दर्शन की कर्मविषयक मान्यता दु खस्कन्ध[1] को बढ़ाने वाली है

अधावर पुरक्खाय किरियावादिदरिसण।
कम्मचितापणट्ठाण दुक्खक्खधविवद्धण ॥ २४ ॥

चूर्णिकार ने 'दुक्खक्खध' का अर्थ 'कर्मसमूह' किया है एव वृत्तिकार ने 'असातोदयपरम्परा' अर्थात् 'दु खपरम्परा'। दोनो की व्याख्या में कोई तात्त्विक भेद नही है क्योकि दु खपरम्परा कर्मसमूहजन्य ही होती है। इस प्रसग पर सूत्रकार ने बौद्धमतसम्बन्धी एक गाथा दी है, जिसका आशय यह है कि अमुक प्रकार की आपत्ति में फँसा हुआ असयमी पिता यदि लाचारीवश अपने पुत्र को मार कर खा जाय तो भी वह कर्म से लिप्त नही होता। इस प्रकार के मास-सेवन से मेधावी अर्थात् सयमी साधु भी कर्मलिप्त नही होता। गाथा इस प्रकार है

पुत्त पि ता समारभ आहारट्ठमसजते।
भुंजमाणो वि मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पते[2] ॥ २८ ॥

अथवा

पुत्त पिया समारब्भ आहारेज्ज असजए।
भुजमाणो य मेहावी कम्मुणा नोवलिप्पइ[3] ॥२८॥

उपरोक्त ८वी गाथा में विशेष प्रकार के अर्थ का सूचक पाठभेद बहुत समय से चला आ रहा है, उस पाठभेद के अनुसार गाथा के अर्थ में बडी भिन्नता होती है। देखिए चूर्णिकार का पाठ 'पि ता' ऐसा है, उसमें दो पद हैं तथा 'पिता' शब्द का अर्थ इस पाठ में नही है। इस पाठ के अनुसार 'पुत्र का भी वध करके' ऐसा अर्थ होता है। जब कि वृत्तिकार का पाठ 'पिया' अथवा पिता ऐसा है, इस पाठ में एक ही पद है पिया' अथवा 'पिता'। इस पाठ के अनुसार 'पिता पुत्र का वध करके' ऐसा अर्थ होता है और वृत्तिकार ने भी इसी अर्थ का निरूपण किया है, दो पद वाला पाठ जितना प्राचीन है उतना एक पद वाला 'पिता' पाठ प्राचीन

---

१ बौद्धसम्मत चार आर्यसत्यो में से एक
२ चूर्णिकारसम्मत पाठ
३ वृत्तिकारसम्मत पाठ.

नही। 'पि ता' ऐसा पृथक्-पृथक् न पढ कर 'पिता' ऐसा पढ़ने से सभव है कि ऐसा पाठ भेद हुआ हो। चर्णिकार और वृत्तिकार दोनो ही 'पुत्र के वध करने' इस आशय में एक मत है। चूर्णिकार पिता' का अर्थ स्वीकार नही करते और वृत्तिकार 'पिता' का अर्थ स्पष्ट रूप से स्वीकार करते है। पदच्छेद न करने की दृष्टि मे ऐसा पाठ भेद हो गया है परन्तु विशेष विचार करने मे मालूम होता है कि बौद्धत्रिपिटक के अन्तर्गत आए हुए सयुत्तनिकाय में एक ऐसी रूपक-कथा आती है जिसमें पिता पुत्र का वध करके उसका भोजन में उपयोग करता है। सभव है कि वृत्तिकार की स्मृति में सयुत्तनिकाय की वह कथा रही हो और उसी कथा का आशय स्मृतिपथ में रखकर उन्होने 'पिता पुत्र का वध करके' इस प्रकार के अर्थ का निरूपण किया हो।

भगवान् बुद्ध ने अपने सघ के भिक्षुओ को किस दृष्टि मे और किस उद्देश्य से भोजन करना चाहिए इस वात को समझाने के लिए यह कथा कही है। कथा का सार यह है :—

एक आदमी अपने इकलौते पुत्र के साथ प्रवास कर रहा है, साथ में पुत्र की माता भी है। प्रवास करते-करते वे तीनो ऐसे दुर्गम गहन जगल में आ पहुँचते हैं जहा शरीर के निर्वाह योग्य कुछ भी प्राप्य न था। विना भोजन शरीर का निर्वाह नही हो सकता और विना जीवन-निर्वाह के यह शरीर काम भी नही दे सकता। अन्त में ऐसी स्थिति आ गई कि उनमे चला ही नही जाता था और इस जगल में तीनों ही खत्म हो जायेंगे। तव पुत्र ने पिता से प्रार्थना की कि पिता जी, मुझे मार कर भोजन करें और शरीर को गतिशील बना ले। आप हैं तो सारा परिवार है, आप नहीं रहेंगे तो हमारा परिवार कैसे जीवित रह सकता है ? अतः विना सकोच आप अपने पुत्र के मास का भोजन करके इस भयानक अरण्य को पार कर जायें और सारे परिवार को जीवित रखें। तव पिता ने पुत्र के मास का भोजन में उपयोग किया और उस अरण्य से वाहर निकल आए।

इस कथा को कह कर तथागत ने भिक्षुओ से पूछा कि हे भिक्षुओ ! क्या पुत्र के मास का भोजन में उपयोग करने वाले पिता ने अपने स्वाद के लिए ऐसा किया है ? क्या अपने शरीर की शक्ति बढे, वल का सचय हो, शरीर का रूप-लावण्य और सौंदर्य वढ़े, इस हेतु से उसने अपने पुत्र के मास का भोजन में उपयोग किया है ?

तथागत के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भिक्षुओ ने कहा कि भदत ! नही, नही। उसने एकमात्र अटवी पार करने के उद्देश्य से शरीर में चलने का सामर्थ्य आ सके इसी कारण से अपने पुत्र के मास का भोजन मे उपयोग किया है।

तब तथागत ने कहा—हे भिक्षुओ ! तुमने घरवार छोड़ा है और ससाररूपी अटवी को पार करने के हेतु से ही भिक्षु-व्रत लिया है, तुम्हें ससाररूप भीषण जगल पार कर निर्वाण लाभ करना है तो इसी एक निमित्त को लक्ष्य में रखकर भोजन पान लेते रहो वह भी परिमित और धमप्राप्त तथा कालप्राप्त। मिले तो ठीक है, न मिले तो भी ठीक समझो। स्वाद के लालच से, शरीर मे बल बढे, शक्ति का सचय हो तथा अपना रूप, लावण्य तथा सौंदय बढता रहे इस दृष्टि से खान-पान लोगे तो तुम भिक्षुक धर्म से च्युत हो जाओगे और मोघभिक्षु—पिंडोलक भिक्षु हो जाओगे।

तथागत बुद्ध ने इस रूपक कथा द्वारा भिक्षुओ को यह समझाया है कि भिक्षुगण किस उद्देश्य से खान-पान लेवें। मालूम होता है कि समय बीतने पर इस कथा का आशय विस्मृत हो गया—स्मृति से बाहर चला गया और केवल शब्द का अर्थ ही ध्यान में रहा और इस अर्थ का ही मासभोजन के समर्थन में लोग क्या भिक्षुगण भी उपयोग करने लग गए हो। इसी परिस्थिति को देख कर चूर्णिकार ने अपने तरीके से और वृत्तिकार ने अपने तरीके से इस गाथा का विवरण किया है ऐसा मालूम पडता है। विसुद्धिमग्ग और महायान के शिक्षा-समुच्चय में भी इसी बात का प्ररूपण किया गया है।

सूत्रकृत की उक्त गाथा की व्याख्या में चूर्णिकार व वृत्तिकार में मतभेद है। चूर्णिकार के अनुसार किसी उपासक अथवा अन्य व्यक्ति द्वारा अपने पुत्र को मार-कर उसके मास द्वारा तैयार किया गया भोजन भी यदि कोई मेधावी भिक्षु खाने के काम में ले तो वह कर्मलिप्त नही होता। हाँ, मारने वाला अवश्य पाप का भागी होता है। वृत्तिकार के अनुसार आपत्तिकाल में निरुपाय हो अनासक्त भाव से अपने पुत्र को मारकर उसका भोजन करने वाला गृहस्थ एव ऐसा भोजन करने वाला भिक्षु इन दोनो में से कोई भी पापकर्म से लिप्त नही होता। तात्पर्य यह कि कर्मबन्ध का कारण ममत्वभाव—आसक्ति—रागद्वेष—कषाय है, न कि कोई क्रियाविशेष।

ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अगसूत्र में सुसुमा नामक एक अध्ययन है जिसमें पूर्वोक्त सयुत्तनिकायादि प्रतिपादित रूपक के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया है कि आपत्तिकाल में आपवादिक रूप से मनुष्य अपनी खुद की सन्तान का भी मास भक्षण कर सकता है। यहाँ मृत सतान के मासभक्षण का उल्लेख है न कि मारकर उसका मास खाने का। इस चर्चा का सार केवल यही है कि अनासक्त होकर भोजन करने वाला अथवा अन्य प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त होने वाला कर्मलिप्त नही होता।

बुद्ध का शूकर-मांसभक्षण :

बौद्ध परम्परा में एक कथा ऐसी प्रचलित है कि गुरु बुद्ध ने शूकरमद्दव अर्थात् सूअर का मांस खाया था।[1] सूअर का मांस खाते हुए भी बुद्ध पापकर्म से लिप्त नहीं हुए। ऐसा मालूम होता है कि उपर्युक्त गाथा में सूत्रकार ने बौद्ध सम्मत कर्मचय का स्वरूप समझाते हुए इसी घटना का निर्देश किया है। यह मैंने ? गाथा के प्रारम्भ में जो 'पुत्तं' पाठ है वह किसी कारण से विकृत हुआ मालूम पड़ता है। मेरी दृष्टि से यहाँ "पोत्तिं" पाठ होना चाहिए। अमरकोश तथा अभिधानचिन्तामणि में पोत्री (प्राकृत पोत्ति) शब्द शूकर के पर्याय के रूप में सुप्रसिद्ध है। अथवा संस्कृत पोत्र (प्राकृत पुत्त) शब्द शूकर के मुख का सूचक माना गया है। यदि ऐसा समझा जाय कि इसी अर्थ वाला पुत्त शब्द इस गाथा में प्रयुक्त हुआ है तो शूकर का अर्थ भी संगत हो जाता है। अतः इस "पुत्तं" पाठ को विकृत करने की जरूरत नहीं रहती। सशोधक महानुभाव इस विषय में जरूर विचार करें। इसी प्रकार उक्त गाथा में प्रयुक्त 'मेहावी' शब्द भगवान् बुद्ध का सूचक है। इस दृष्टि से यह मानना उपयुक्त प्रतीत होता है कि उक्त गाथा में कर्मबन्ध की चर्चा करते हुए बुद्ध के शूकर-मांसभक्षण का उल्लेख किया गया है। मेरी यह प्ररूपणा कहाँ तक सत्य है, इसका निर्णय गवेषणाशील विद्वज्जन ही करेंगे। उपर्युक्त गाथा के पहले की तीन गाथाओं में भी बौद्ध सम्मत कर्मबन्धन का ही स्वरूप बताया गया है।

हिंसा का हेतु :

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आने वाले आर्द्रकीय नामक छठे अध्ययन में आर्द्रकुमार नामक प्रत्येकबुद्ध के साथ होने वाले बौद्ध सम्प्रदाय के याज्ञिकों के वाद-विवाद का उल्लेख है। उसमें भी कर्मबन्धन के स्वरूप की ही चर्चा है। बौद्धमत के समर्थक कहते हैं कि मानसिक संकल्प ही हिंसा का कारण है। तिल अथवा सरसों की खली का एक पिण्ड पड़ा हो और कोई उसे पुरुष समझ कर उसका नाश करे तो हमारे मत में वह हिंसा के दोष से लिप्त होता है। इसी प्रकार अलाबु को कुमार समझ कर उसका नाश करने वाला भी हिंसा का भागी होता है। इससे विपरीत पुरुष को खली समझ कर एवं कुमार को अलाबु समझ कर उसका नाश करने वाला, प्राणिवध का भागी नहीं होता। इतना ही नहीं, इस प्रकार की बुद्धि से पकाया हुआ पुरुष का अथवा कुमार का मांस बुद्धों के भोजन के लिए विहित है। इस प्रकार पकाये हुए मांस द्वारा जो उपासक अपने सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओं को भोजन कराते हैं वे महान् पुण्यस्कन्ध का उपा-

---

१ देखिये—बुद्धचर्या, पृ. ५३५।

जंन करते है और उसके द्वारा आरोप्प (आरोप्य) नामक देवयोनि में जन्म लेते है। बौद्धवादियो की इस मान्यता का प्रतीकार करते हुए आर्द्रकुमार कहते हैं कि खली को पुरुप ममझना अथवा अलाबु को कुमार समझना या पुरुप को खली समझना अथवा कुमार को अलाबु समझना कैसे सभव है ? जो ऐसा कहते हैं और उस कथन को स्वीकार करते हैं वे अज्ञानी है। जो ऐसा समझ कर भिक्षुओ को भोजन करवाते हैं वे असयत हैं, अनार्य हैं, रक्तपाणि हैं। वे औद्देशिक मास का भक्षण करने वाले हैं, जिह्वा के स्वाद में आसक्त है। समस्त प्राणियो की रक्षा के लिए ज्ञातपुत्र महावीर तथा उनके अनुयायी भिक्षु औद्देशिक भोजन का सर्वथा त्याग करते हैं। यह निर्ग्रन्थधर्म है।

प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक की पहली ही गाथा में औद्देशिक भोजन का निपेध किया गया है। किसी भिक्षुविशेप अथवा भिक्षुसमूह के लिए बनाया जाने वाला भोजन, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि आर्हत मुनि के लिए अग्राह्य है। बौद्ध भिक्षुओ के विपय में ऐसा नही है। स्वय भगवान् बुद्ध निमन्त्रण स्वीकार करते थे। वे एव भिक्षुसघ उन्ही के लिए तैयार किया गया निरामिप अथवा सामिप आहार ग्रहण करते थे तथा विहारो व उद्यानो का दान भी स्वीकार करते थे।

जगत्-कर्तृत्व

प्रस्तुत उद्देशक की पाचवी गाथा से जगत्-कर्तृत्व की चर्चा शुरू होती है। इससे जगत् को देवउत्त (देवउप्त) अर्थात् देव का बोया हुआ, बभउत्त (ब्रह्मउप्त) अर्थात् ब्रह्मा का बोया हुआ, इस्सरेण कत (ईश्वरेण कृत) अर्थात् ईश्वर का बनाया हुआ, सभुणा कत (स्वयभुना कृत) अर्थात स्वयभू का बनाया हुआ कहा गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि यह कथन महर्षियो का है इति वुत्त महेसिणा। चूर्णिकार 'महर्षि' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'महऋषी नाम स एव ब्रह्मा अथवा व्यासादयो महर्षय' अर्थात् महर्षि का अर्थ है ब्रह्मा अथवा व्यास आदि ऋषि। यहाँ छठी गाथा में जगत् को प्रधानकारणिक भी बताया गया है। प्रधान का अर्थ है साख्यसम्मत प्रकृति। सातवी गाथा में बताया गया है कि मार रचित माया के कारण यह जगत् अशाश्वत है अर्थात् ससार का प्रलयकर्ता मार है। चूर्णिकार ने 'मार' का अर्थ 'विष्णु' बताया है जबकि वृत्तिकार ने 'मार' शब्द का 'यम' अर्थ किया है। आठवी गाथा में जगत् को अडकृत अर्थात् अडे में से पैदा होने वाला बताया गया है—अडकडे जगे। इन सब वादो का खण्डन करने के लिए सूत्रकार ने कोई विशेष तर्क प्रस्तुत न करते हुए केवल इतना ही कहा है कि ऐसा मानने वाले अज्ञानी है, असत्यभाषी हैं, तत्त्व से अन-

प्रथम अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में निर्ग्रन्थ को संयम धर्म के आचरण का उपदेश दिया गया है और विभिन्न वादों में न फंसने का कहा गया है। तीसरी गाथा में यह बताया गया है कि कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार परिग्रह एवं आरम्भ—अनारम्भ—क्रिया आत्मशुद्धि व निर्वाण के लिए है। निर्ग्रन्थों को यह मत स्वीकार नहीं करना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि अपरिग्रह तथा अपरिग्रही एवं अनारम्भ तथा अनारम्भी ही शरणभूत हैं।

पांचवीं गाथा से लोकवाद की चर्चा प्रारम्भ होती है। इसमें लोकविषयक नित्यता व अनित्यता, सान्तता व अनन्तता, परिमितता व अपरिमितता आदि का विचार है। वृत्तिकार ने पौराणिकवाद को लोकवाद कहा है और बताया है कि ब्रह्मा अमुक समय तक सोता है व कुछ देखता नहीं, अमुक समय तक जागता है व देखता है—यह सब लोकवाद है।

वेयालिय

द्वितीय अध्ययन का नाम वेयालिय है। निर्युक्तिकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार इसका अर्थ वैदारिक तथा वैतालीय के रूप में करते हैं। विदार का अर्थ है विनाश। यहाँ रागद्वेषरूप संस्कारो का विनाश विवक्षित है। जिस अध्ययन में रागद्वेष के विदार का वर्णन हो उसका नाम है वैदारिक। वैतालीय नामक एक छद है। जो अध्ययन वैतालीय छद में है उसका नाम है वैतालीय। प्रस्तुत अध्ययन के नाम के इन दो अर्थों में से वैतालीय छद वाला अर्थ विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है। वैदारिक अर्थपरक नाम अतिव्याप्त है क्योकि यह अर्थ तो अन्य अध्ययनो अथवा ग्रन्थो से भी सम्बद्ध है अत केवल इसी अध्ययन को वैदारिक नाम देना उपयुक्त नही।

प्रस्तुत अध्ययन में तीन उद्देशक हैं जिनमें वैराग्यपोषक वर्णन के साथ श्रमणधर्म का प्रतिपादन है। प्रथम उद्देशक की पाचवी गाथा में बताया गया है कि देव, गाधर्व, राक्षस, नाग, राजा, सेठ, ब्राह्मण आदि सब दु खपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मृत्यु के लिए सब जीव समान हैं। उसके सामने किसी का प्रभाव काम नही करता। नवी गाथा में सूत्रकार कहते हैं कि साधक भले ही नग्न रहता हो व निरन्तर मास-मास के उपवास करता हो किन्तु यदि वह दम्भी है तो उसका यह सब आचरण खोखला है।

आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में 'पणया वीरा महावीहिं' ऐसा एक खण्डित वाक्य है। सूत्रकृताग के प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक की इक्कीसवी गाथा में इस वाक्यवाला पूरा पद्य है —

> तम्हा दवि इक्ख पडिए पावाओ विरतेऽभिणिव्वुडे।
> पणया वीरा महावीहि सिद्धिपह णेआउ धुव॥

इस उद्देशक की वृत्तिसम्मत गाथाओ और चूर्णिसम्मत गाथाओं में अत्यधिक पाठभेद है। पाठभेद के कुछ नमूने ये है —

वृत्तिगत पाठ	चूर्णिगत पाठ
सयमेव कडेहिं गाहइ	सयमेव कडेऽभिगाहए
णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय ॥ ४ ॥	णो तेण मुच्चे अपुट्ठव ॥ ४ ॥
कामेहि य सथवेहि गिद्धा	कामेहि य सथवेहि य
कम्मसहा कालेण जतवो ॥ ६ ॥	कम्मसहे कालेण जतवो ॥ ६ ॥
जे इह मायाइ मिज्जई	जइविह मायादि मिज्जती
आगता गब्भायऽणतसो ॥ १० ॥	आगता गब्भादणतसो ॥ ९ ॥

इन पाठभेदो के अतिरिक्त चूर्णिकार ने कई जगह अन्य पाठान्तर भी दिये हैं एव नागार्जुनीय वाचना के पाठभेदो का भी उल्लेख किया है।

प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा के 'वेतालियमग्गमागतो' इस प्रथम चरण में अध्ययन के वेतालिय–वैतालीय नाम का भी निर्देश है। यहाँ 'वेतालिय' शब्द वैतालीय छन्द का निर्देशक है। इसका दूसरा अर्थ वैदारिक अर्थात् रागद्वेष का विदारण करने वाले भगवान् महावीर के रूप में भी किया गया है। ये दोनो अर्थ चूर्णि में हैं।

प्रथम उद्देशक में २२, द्वितीय उद्देशक मे ३२ और तृतीय उद्देशक में २२ गाथाए हैं। इस प्रकार वैतालीय अध्ययन में कुल मिलाकर ७६ गाथाए हैं। इनमें हिंसा न करने के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है एव महाव्रतो व अणुव्रतो का निरूपण करते हुए उनके अनुसरण पर भार दिया गया है। साधक श्रमण हो या गृहस्थ, उसे साधना मे आने वाले प्रत्येक विघ्न का सामना करना चाहिए एव वीतरागता की भूमिका पर पहुँचना चाहिए। इन सब उपदेशात्मक गाथाओ में उपमाएँ दे-देकर भाव को पूरी तरह स्पष्ट किया गया है। द्वितीय उद्देशक की अठारहवी गाथा का आद्य चरण है 'उसिणोदगतत्तभोइणो' अर्थात् गरम पानी को बिना ठडा किये ही पीने वाला। यह मुनि का विशेषण है। इस प्रकार के मुनि को राजा आदि के ससर्ग से दूर रहना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र के तृतीय अध्ययन की छठी गाथा के उत्तरार्ध का प्रथम चरण 'तत्ताऽनिव्वुडभोइत्त' भी गरम-गरम पानी पीने की परम्परा का समर्थक है। तृतीय उद्देशक की तीसरी गाथा में महाव्रतो की महिमा बताते हुए कहा गया है कि जैसे वणिको द्वारा लाये हुए उत्तम रत्नों को राजा-महाराजा धारण करते हैं उसी प्रकार ज्ञानियो द्वारा उपदिष्ट रात्रिभोजनविरमणयुक्त रत्नसदृश महाव्रतो को उत्तम पुरुष ही धारण कर सकते हैं। इस गाथा की व्याख्या में चूर्णिकार ने दो मतो का उल्लेख किया है पूर्वदिशा में रहने वाले आचार्यों के मत का व पश्चिम दिशा में रहने वाले आचार्यों के मत का। सभव है, चूर्णिकार का तात्पर्य पूर्वदिशा अर्थात् मथुरा अथवा पाटलिपुत्र के सम्बन्ध से स्कन्दिलाचार्य आदि से एव पश्चिमदिशा अर्थात् वलभी के सम्बन्ध से नागार्जुन अथवा देवर्धिगणि आदि से हो। रात्रिभोजनविरमण का पृथक् उल्लेख एतद्विषयक शैथिल्य को दूर करने अथवा इसे व्रत के समकक्ष बनाने की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। इसी सूत्र के वीरस्तुति नामक छठे अध्ययन में भी रात्रिभोजन का पृथक् निषेध किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक की अन्तिम गाथा में भगवान् महावीर के लिए 'नायपुत्त' का प्रयोग हुआ है। साथ ही इन विशेषणो का भी उपयोग किया गया है अणुत्तरणाणी, अणुत्तरदसी, अणुत्तरनाणदसणधरे, अरहा, भगव और वेसालिए अर्थात् श्रेष्ठतमज्ञानी,

श्रेष्ठतमदर्शी, श्रेष्ठतमज्ञानदर्शनधर, अर्हत्, भगवान् और वैशालिक—विशाला नगरी में उत्पन्न।

उपसर्ग

तृतीय अध्ययन का नाम उपसर्गपरिज्ञा है। साधक जब अपनी साधना के लिए तत्पर होता है तब से लगातार साधना के अन्त तक उसे अनेक प्रकार के विघ्नों का सामना करना पड़ता है। साधनाकाल में आने वाले इन विघ्नों, बाधाओं, विपत्तियों को उपसर्ग कहते हैं। वैसे ये उपसर्ग गिने नहीं जा सकते, फिर भी प्रस्तुत अध्ययन में इनमें से कुछ प्रतिकूल एवं अनुकूल उपसर्ग गिनाये गये हैं। इनसे इन विघ्नों की प्रकृति का पता लग सकता है। सच्चा साधक इस प्रकार के उपसर्गों को जीत कर वीतराग अथवा स्थितप्रज्ञ बनता है। यही सम्पूर्ण अध्ययन का सार है। इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में १७ गाथाएँ हैं, जिनमें भिक्षावृत्ति, शीत, ताप, भूख प्यास, डांस, मच्छर, अस्नान, अपमान, प्रतिकूलशय्या, केशलोच, आजीवन-ब्रह्मचर्य आदि प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन है। मनुष्य को जब तक संग्राम में जिसे जीतना है उसके बल का पता नहीं होता तब तक वह अपने को शूर समझता है और कहता है कि इसमें क्या? उसे तो मैं एक चुटकी में साफ कर दूंगा। मेरे सामने वह तो एक मच्छर है। किन्तु जब शत्रु सामने आता है तब उसके होश गायब हो जाते हैं। सूत्रकार ने इस तथ्य को समझाने के लिए शिशुपाल और कृष्ण का उदाहरण दिया है। यहाँ कृष्ण के लिए 'महारथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। चूर्णिकार ने महारथ का अर्थ केशव (कृष्ण) किया है। साधक के लिये उपसर्गों को जीतना उतना ही कठिन है जितना कि शिशुपाल के लिए कृष्ण को जीतना। उपसर्गों की चपेट में आनेवाले ढीलेढाले व्यक्ति की तो श्रद्धा ही समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार निर्बल स्त्री अपने ऊपर आपत्ति आने पर अपने मा-बाप व पीहर के लोगों को याद करती है उसी प्रकार निर्बल साधक अपने ऊपर उपसर्गों का आक्रमण होने पर अपनी रक्षा के लिए स्वजनों को याद करने लगता है।

द्वितीय उद्देशक में २२ गाथाएँ हैं। इनमें स्वजनों अर्थात् माता पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी आदि द्वारा होने वाले उपसर्गों का वर्णन है। ये उपसर्ग प्रतिकूल नहीं अपितु अनुकूल होते हैं। जिस प्रकार साधक प्रतिकूल उपसर्गों से भयभीत होकर अपना मार्ग छोड़ सकता है उसी प्रकार अनुकूल उपसर्गों के आकर्षण के कारण भी पथभ्रष्ट हो सकता है। इस तथ्य को समझाने के लिए अनेक उपमाएं दी गई हैं।

तृतीय उद्देशक में सब मिल कर २१ गाथाए हैं। इनमें इस प्रकार के उपसर्गों का वर्णन है जो निर्बल मनवाले श्रमण की वासना द्वारा उत्पन्न होते हैं तथा अन्य मतवाले लोगो के आक्षेपों के पात्र होते हैं। निर्बल भिक्षु के मन में किस प्रकार के सकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं, इसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत उद्देशक में है। बुद्धिमान् भिक्षु इन सब सकल्प-विकल्पो में ऊपर उठ कर अपने मार्ग में स्थिर रहते हैं जबकि अज्ञानी व मूढ भिक्षु अपने मार्ग से च्युत हो जाते हैं। इस उद्देशक में आनेवाले अन्यमतियों से चूर्णिकार व वृत्तिकार का तात्पर्य आजीवको एव दिगम्बर परम्परा के भिक्षुओ से है (आजीविकप्राया अन्यतीर्थिका, बोडिगा—चूर्णि)। जब सयत भिक्षुओ के सामने किसी के साथ वाद-विवाद करने का प्रसग उपस्थित हो तब उन्हें किसी को विरोधभाव व क्लेश न हो इस ढग से तर्क व युक्ति का बहुगुणयुक्त मार्ग स्वीकार करना चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक की सोलहवी गाथा में कहा गया है कि प्रतिवादियो की यह मान्यता है कि दानादि धर्म की प्रज्ञापना आरभ-समारभ में पडे हुए गृहस्थों की शुद्धि के लिए है, भिक्षुओ के लिए नही, ठीक नही। पूर्वपुरुषों ने इसी दृष्टि से अर्थात् गृहस्थो की ही शुद्धि की दृष्टि से दानादिक की कोई निरूपणा नही की। चूर्णिकार ने यहा पर केवल इतना ही लिखा है कि इस प्रवृत्ति का पूर्व में कोई निषेध नही किया गया है जबकि वृत्तिकार ने इस कथन को थोडा सा बढाया है और कहा है कि सर्वज्ञ पुरुषों ने प्राचीन काल में ऐसी कोई बात नही कही है। यह चर्चा वृत्तिकार के कथनानुसार दिगम्बरपक्षीय भिक्षुओ और श्वेताम्बर परम्परा के साधुओं के बीच है। वृत्तिकार का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है।

चतुर्थ उद्देशक में सब मिल कर २२ गाथाए हैं। इस उद्देशक के विषय के सम्बन्ध में नियुक्तिकार कहते हैं कि कुछ श्रमण कुतर्क अर्थात् हेत्वाभास द्वारा अनाचाररूप प्रवृत्तियो को आचार में समाविष्ट करने का प्रयत्न करते हैं एव जानबूझकर अनाचार में फसने का उपसर्ग उत्पन्न करते हैं। प्रस्तुत उद्देशक में इसी प्रकार के उपसर्गों का वर्णन है।

प्रथम चार गाथाओ में बताया गया है कि कुछ शिथिल श्रमण यो कहने लगते हैं कि प्राचीन काल में कुछ ऐसे भी तपस्वी हुए हैं जो उपवासादि तप न करते, उष्ण पानी न पीते, फल फूल आदि खाते फिर भी उन्हें जैन प्रवचन में महापुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। इतना ही नही, इन्हें मुक्त भी माना गया है। इनके नाम ये हैं रामगुत्त, बाहुअ, नारायणरिसि अथवा तारायणरिसि, आसिलदेवल, दीवायणमहारिसि और पारासर। इन पुरुषो का महापुरुष एव अर्हत् के रूप में ऋषिभाषित नामक अति प्राचीन जैनप्रवचनानुसारी श्रुत में स्पष्ट

उल्लेख है। इसके आधार पर कुछ शिथिल श्रमण यह कहने के लिए तैयार होते है कि यदि ये लोग ठडा पानी पीकर, निरतरभोजी रहकर एव फल-फूलादि खाकर महापुरुष बने है एव मुक्त हुए है तो हम वैसा क्यो नही कर सकते ? इस प्रकार के हेत्वाभास द्वारा ये शिथिल श्रमण अपने आचार मे भ्रष्ट होते है। उपर्युक्त सब तपस्वियो का वृत्तान्त वैदिक ग्रन्थो मे विशेष प्रसिद्ध है। एतद्विषयक विशेष विवेचन 'पुरातत्त्व' नामक त्रैमासिक पत्रिका मे प्रकाशित 'सूत्रकृतागमा आवता विशेषनामो' शीर्षक लेख मे उपलब्ध है।

कुछ शिथिल श्रमण यो कहते है कि सुख द्वारा सुख प्राप्त किया जा सकता है अत सुख प्राप्त करने के लिए कष्ट सहन करने की आवश्यकता नही है। जो लोग सुखप्राप्ति के लिए तपरूप कष्ट उठाते है वे भ्रम में है। चूर्णिकार ने यह मत शाक्यो अर्थात् बौद्धो का माना है। वृत्तिकार ने भी इसी का समर्थन किया है और कहा है कि लोच आदि के कष्ट से सतप्त कुछ स्वयूथ्य अर्थात् जैन श्रमण भी इस प्रकार कहने लगते है एके शाक्यादय स्वयूथ्या वा लोचादिना उपतप्ता। चूर्णिकार व वृत्तिकार की यह मान्यता कि 'सुख से सुख मिलता है' यह मत बौद्धो का है, सही है किन्तु बुद्ध के प्रवचन मे भी तप, सवर, अहिंसा तथा त्याग की महिमा है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसमे घोरातिघोरतम तप का समर्थन नही है। विसुद्धिमग्ग व धम्मपद को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

आगे की गाथाओ में तो इनसे भी अधिक भयकर हेत्वाभासो द्वारा अनुकूल तर्क लगाकर वासना तृप्तिरूप सुखकर अनुकूल उपसर्ग उपपन्न किये गये हैं। नवी व दसवी गाथा मे बताया गया है कि कुछ अनार्य पासत्थ (पार्श्वस्थ अथवा पाशस्थ) जो कि स्त्रियो के वशीभूत हैं तथा जिनशासन से पराङ्मुख हैं, यो कहते हैं कि जैसे फोडे को दबाकर साफ कर देने से शान्ति मिलती है वैसे ही प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ सभोग करने में कोई दोष नही है। जिस प्रकार भेड अपने घुटनो को पानी मे झुकाकर पानी को बिना गदा किये धीरे धीरे स्थिरतापूर्वक पीता है उसी प्रकार रागरहित चित्त वाला मनुष्य अपने चित्त को दूषित किये बिना स्त्री के साथ सभोग करता है। इसमें कोई दोष नही है। वृत्तिकार ने इस प्रकार की मान्यता रखने वालो में नीलवस्त्रवाले बौद्धविशेषो, नाथवादिक मडल में प्रविष्ट शैवविशेषो एव स्वयूथिक कुशील पार्श्वस्थो का समावेश किया है। इन गाथाओ से स्पष्ट है कि जैनेतर भिक्षुओ की भाँति कुछ जैन श्रमण—शिथिल चैत्यवासी भी स्त्रीससर्ग का सेवन करने लगे थे। इस प्रकार के लोगो को पूतना की उपमा देते हुए सूत्रकार ने कहा है कि जैसे पिशाचिनी पूतना छोटे बालकों में आसक्त रहती है वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि स्त्रियो में आसक्त रहते हैं।

स्त्री परिज्ञा

स्त्रीपरिज्ञा नामक चतुर्थ अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में ३१ एव दूसरे में २२ गाथाएँ हैं। स्त्रीपरिज्ञा का अर्थ है स्त्रियो के स्वभाव का सब तरह से ज्ञान। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि स्त्रियाँ श्रमण को किस प्रकार फँसाती है और किस प्रकार उसे अपना गुलाम तक बना लेती हैं। इसमें यहाँ तक कहा गया है कि स्त्रियाँ विश्वसनीय नही हैं। वे मन में कुछ और ही सोचती है, मुँह से कुछ और ही बोलती है व प्रवृत्ति कुछ और ही करती हैं। इस प्रकार स्त्रियाँ अति मायावी हैं। श्रमण को स्त्रियो का विश्वास कभी नही करना चाहिए। इस विषय में तनिक भी असावधानी रखने पर श्रमणत्व का विनाश हो सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में स्त्रियो की जो निन्दा की गयी है वह एकागी है। वास्तव में श्रमण की भ्रष्टता का मुख्य कारण तो उसकी खुद की वासना ही है। स्त्री उस वासना का उत्तेजित करने में निमित्त कारण अवश्य बन सकती है। वैसे सभी स्त्रियाँ एकसी नही होती। ससार में ऐसी अनेक स्त्रियाँ हुई हैं जो प्रात स्मरणीय है। फिर जैसे स्त्रियो में दोष दिखाई देते है वैसे ही पुरुषो में भी दोषो की कमी नही है। ऐसी स्थिति में केवल स्त्री पर दोषारोपण करना उचित नही। निर्युक्तिकार ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और कहा है कि जो दोष स्त्रियो में है वे ही पुरुषो में भी हैं। अत साधक श्रमण को पूरी तरह से सावधान रहना चाहिए। पतन का मुख्य कारण तो खुद के दोष ही हैं। स्त्री अथवा पुरुष तो उसमें केवल निमित्त हैं। जैसे स्त्री के परिचय में आने पर पुरुष में दोष उत्पन्न होते हैं वैसे ही पुरुष के परिचय में आने पर स्त्री में भी दोष उत्पन्न होते हैं अत वैराग्यमार्ग में स्थित श्रमण व श्रमणी दोनो को सावधानी रखनी चाहिए। यदि ऐसा है तो फिर इस अध्ययन का नाम 'स्त्रीपरिज्ञा' ही क्यो रखा ? 'पुरुषपरिज्ञा' भी तो रखना चाहिये था। इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार कहते हैं कि 'पुरिसोत्तरिओ धम्मो' अर्थात् धर्म पुरुषप्रधान है अत पुरुष के दोष बताना ठीक नही। धर्मप्रवर्तक पुरुष होते हैं अत पुरुष उत्तम माना जाता है। इस उत्तमता को लाछित न करने के लिए ही प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'पुरुषपरिज्ञा' न रखते हुए 'स्त्रीपरिज्ञा' रखा गया। व्यावहारिक दृष्टि से टीकाकारो का यह समाधान ठीक है, पारमार्थिक दृष्टि से नही। सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन में प्रसगवशात् गृहस्थोपयोगी अनेक वस्तुओ तथा बालोपयोगी अनेक खिलौनो के नाम भी गिनाये हैं।

नरकविभक्ति

पचम अध्ययन का नाम नरकविभक्ति है। चतुर्थ अध्ययनोक्त स्त्रीकृत

उपसर्गों मे फँसने वाला नरकगामी बनता है। नरकविभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक म २७ गाथाएँ है और द्वितीय में २५। इनमें यह बताया गया है कि नरक के विभागों में अर्थात् नरक के भिन्न भिन्न स्थानों में कैसे कैसे भयकर कष्ट भोगने पडते हैं एव कैसी-कैसी असाधारण यातनाएँ सहनी पडती है? जो लोग पापी है—हिंसक है, असत्यभाषी हैं, चोर हैं, लुटेरे है, महापरिग्रही है, असदाचारी है उन्हें इस प्रकार के नरकवासो में जन्म लेना पडता है नरक की इन भयकर वेदनाओ को सुनकर वीर पुरुष जरा भी हिंसक प्रवृत्ति न करें, अपरिग्रही बनें एव निर्लोभवृत्ति का सेवन करें—यही इस अध्ययन का उद्देश्य है। वैदिक, बौद्ध व जैन इन तीनो परम्पराओं मे नरक के महाभयो का वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि नरकविषयक यह कल्पना अति प्राचीन काल से चली आ रही है। योगसूत्र के व्यासभाष्य मे छ महानरकों का वर्णन है। भागवत मे अट्ठाईस नरक गिनाये गये हैं। बौद्ध परम्परा के पिटकग्रन्थरूप सुत्तनिपात के कोकालिय नामक सुत्त में नरको का वर्णन है। यह वर्णन प्रस्तुत अध्ययन के वर्णन से बहुत कुछ मिलता जुलता है। अभिधर्मकोश के तृतीय कोश स्थान के प्रारभ मे आठ नरको के नाम दिये गये हैं। इन सब स्थलों को देखने से पता चलता है कि भारतीय परम्परा की तीनो शाखाओ का नरकवर्णन एक दूसरेसे काफी मिलता हुआ है। इतना ही नहीं, उनकी शब्दावली भी बहुत-कुछ समान है।

वीरस्तव

षष्ठ अध्ययन में वीर वर्धमान की स्तुति की गई है इसलिए इस अध्ययन का नाम वीरस्तव रखा गया है। इसमे २९ गाथाएँ है। भगवान् महावीर का मूल नाम तो वर्धमान है किन्तु उनकी असाधारण वीरता के कारण उनकी ख्याति वीर अथवा महावीर के रूप में हुई है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन में प्रख्यात नाम 'महावीर' द्वारा स्तुति की गई है। इस अध्ययन की नियुक्ति में स्तव अथवा स्तुति कैसी-कैसी प्रवृत्ति द्वारा होती है उसकी बाह्य व आभ्यन्तरिक दोनो रीतिया बताई गई हैं। इस अध्ययन मे भी पहले के अध्ययनों की भांति चूर्णिसमतवाचना एव वृत्तिसमतवाचना मे काफी अन्तर है। तीसरी गाथा में महावीर को जिन विशेषणो द्वारा परिचित करवाया गया है वे ये हैं खेयन्न, कुसल, आसुपन्न, अणतनाणी, अणतदसी। खेयन्न अर्थात् क्षेत्रज्ञ अथवा खेदज्ञ। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है आत्मा के स्वरूप का यथावस्थित ज्ञान रखने वाला आत्मज्ञ अथवा क्षेत्र अर्थात् आकाश उसे जानने वाला अर्थात् लोकालोकरूप आकाश के स्वरूप का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ कहलाता है। खेदज्ञ का अर्थ है ससारियो के खेद अर्थात् दु ख को जानने वाला। भगवद्गीता में 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक

एक पूरा अध्याय है। उसमें ३४ श्लोकों द्वारा क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के स्वरूप के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है। भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त 'खेयन्न' विशेषण की व्याख्या यदि गीता के इस अध्याय के अनुसार की जाय तो अधिक उचित होगी। इस व्याख्या से ही भगवान् की वास्तविकता का पता लग सकता है। कुशल, आशुप्रज्ञ, अनन्तज्ञानी एवं अनन्तदर्शी का अर्थ सुप्रतीत है। पाँचवीं गाथा में भगवान् के धृतिगुण का वर्णन है। भगवान् धृतिमान् हैं, स्थितात्मा हैं, निरामगंध हैं, ग्रन्थातीत हैं, निर्भय हैं। धृतिमान् का अर्थ है धैर्यशाली। कैसा भी सुख अथवा दुःख का प्रसंग उपस्थित होने पर भगवान् सदा एकरूप रहते हैं। यही उनका धैर्य है। स्थितात्मा का अर्थ है स्थिर आत्मावाला। मानापमान की कैसी भी स्थिति में भगवान् स्थिरचित्त—निश्चल रहते हैं। निरामगंध का अर्थ है निर्दोषभोजी। भगवान् का भोजन सर्व प्रकार से निर्दोष होता है। ग्रन्थातीत का अर्थ है परिग्रहरहित। भगवान् अपने पास किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते, किसी प्रकार की भोगसामग्री पर उनका अधिकार अथवा ममत्व नहीं होता और न वे किसी वस्तु की आकांक्षा ही रखते हैं। निर्भय का अर्थ है निडर। भगवान् सर्वत्र एवं सर्वदा सर्वथा निर्भय रहते हैं। आगे की गाथाओं में अन्य अनेक विशेषणों व उपमाओं द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है। भगवान् भूतिप्रज्ञ अर्थात् मंगलमय प्रज्ञावाले हैं, अनिकेतचारी अर्थात् अनगार हैं, ओघंतर अर्थात् संसाररूप प्रवाह को तैरने वाले हैं, अनन्तचक्षु अर्थात् अनन्तदर्शी हैं, निरंतर धर्मरूप प्रकाश फैलानेवाले एवं अधर्मरूप अंधकार दूर करने वाले हैं, शक्र के समान द्युतिवाले, महोदधि के समान गंभीरज्ञानी, मेरु के समान अडिग हैं। जैसे वृक्षों में शाल्मलीवृक्ष, पुष्पों में अरविन्द कमल, वनों में नंदनवन, शब्दों में मेघशब्द, गन्धों में चंदनगंध, दानों में अभयदान, वचनों में निर्दोष सत्यवचन, तपों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है वैसे ही निर्वाणवादी तीर्थङ्करों में भगवान् महावीर श्रेष्ठ हैं। योद्धाओं में जैसे विष्वक्सेन अर्थात् कृष्ण एवं क्षत्रियों में जैसे दंतवक्त्र श्रेष्ठ है वैसे ही ऋषियों में वर्धमान महावीर श्रेष्ठ हैं। यहाँ चूर्णिकार व वृत्तिकार ने दंतवक्क-दंतवक्त्र का जो सामान्य अर्थ (चक्रवर्ती) किया है वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यह शब्द एक विशिष्ट क्षत्रिय के नाम का सूचक है। जिसके मुख में जन्म से ही दांत हो उसका नाम है दंतवक्त्र। इस नाम के विषय में महाभारत में भी ऐसी ही प्रसिद्धि है। वृत्तिकार ने तो विष्वक्सेन का भी सामान्य अर्थ (चक्रवर्ती) किया है जब कि अमरकोश आदि में इसका कृष्ण अर्थ प्रसिद्ध है।

वर्धमान महावीर ने जिस परम्परा का अनुसरण किया उसमें क्या सुधार किया? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने लिखा कि उन्होंने स्त्रीसहवास एवं रात्रिभोजन

का निषेध किया। भगवान महावीर के पूर्व चली आने वाली भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा चतुर्यामप्रधान थी। उसमें मैथुनविरमण व्रत का स्पष्ट शब्दो मे समावेश करने का कार्य भगवान् महावीर ने किया। इसी प्रकार उन्होंने उसमें रात्रि-भोजनविरमण व्रत का भी अलग से समावेश किया।

कुशील

सातवा अध्ययन कुशीलविषयक है। इस अध्ययन मे ३० गाथाएँ हैं। कुशील का अर्थ है अनुपयुक्त अथवा अनुचित आचार वाला। जैन परम्परा की दृष्टि से जिनका आचार शुद्ध नही है अर्थात् जो असयमी है उनमें से कुछ का थोडा बहुत परिचय प्रस्तुत अध्ययन में मिलता है। इन कुशीलो में चूर्णिकार ने गौतम सम्प्रदाय, गोव्रतिक सम्प्रदाय, रडदेवता सम्प्रदाय (चडीदेवता सम्प्रदाय) वारिभद्रक सम्प्रदाय, अग्निहोमवादियो तथा जलशौचवादियो का समावेश किया है। वृत्तिकार ने भी इनकी मान्यताओ का उल्लेख किया है। औपपातिक सूत्र में इस प्रकार के अनेक कुशीलो का नामोल्लेख है। प्रस्तुत अध्ययन मे सूत्रकार ने तीन प्रकार के कुशीलो की चर्चा की है (१) आहारसंपज्जण अर्थात् आहार में मधुरता उत्पन्न करने वाले लवण आदि के त्याग से मोक्ष मानने वाले, (२) सीओदगसेवण अर्थात् शीतल जल के सेवन से मोक्ष मानने वाले, (३) हुएण अर्थात् होम से मोक्ष मानने वाले। इनकी मान्यताओ का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार ने विविध दृष्टान्तो द्वारा इन मतो का खण्डन किया है एव यह प्रतिपादित किया है कि मोक्ष के प्रतिबधक कारणों—राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि का अत करने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

वीर्य अर्थात् पराक्रम

आठवा अध्ययन वीर्यविषयक है। इसमे वीर्य अर्थात् पराक्रम के स्वरूप का विवेचन है। चूर्णि की वाचना के अनुसार इसमें २७ गाथाएँ हैं जबकि वृत्तिसमत वाचना के अनुसार गाथासख्या २६ ही है। चूर्णि में १९ वी गाथा अधिक है। इस अध्ययन में चूर्णि की वाचना व वृत्ति की वाचना में बहुत अन्तर है। नियुक्तिकार ने वीर्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि वीर्य शब्द सामर्थ्य-पराक्रम बल—शक्ति का सूचक है। वीर्य अनेक प्रकार का है। जड वस्तु में वीर्य होता है एव चेतन वस्तु में भी। चदन, कबल, शस्त्र, औषध आदि की विविध शक्तियो का अनुभव हम करते ही है। यह जड वस्तु का वीर्य है। शरीरबल, इद्रियबल, मनोबल, उत्साह, धैर्य, क्षमा आदि चेतन वस्तु की शक्तिया हैं। सूत्रकार कहते हैं कि वीर्य दो प्रकार का है अकर्मवीर्य अर्थात् पडितवीर्य ओर कर्मवीर्य अर्थात् बालवीर्य। सयमपरायण का वीर्य पडितवीर्य

कहलाता है तथा असंयमपरायण का वीर्य बालवीर्य। 'कर्मवीर्य' का 'कर्म' शब्द प्रमाद एवं असंयम का सूचक है तथा 'अकर्मवीर्य' का 'अकर्म' शब्द अप्रमाद एवं संयम का निर्देशक है। कर्मवीर्य—बालवीर्य का विशेष परिचय देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि कुछ लोग प्राणियों के विनाश के लिए शस्त्रविद्या सीखते हैं एवं कुछ लोग प्राणियों की हिंसा के लिए मंत्रादि सीखते हैं। इसी प्रकार अकर्मवीर्य—पंडितवीर्य का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस वीर्य में संयम की प्रधानता है। ज्यों-ज्यों पंडितवीर्य बढ़ता जाता है त्यों-त्यों संयम बढ़ता जाता है एवं पूर्णसंयम प्राप्त होने पर निर्वाणरूप अक्षय सुख मिलता है। यही पंडितवीर्य अथवा अकर्मवीर्य का सार है। बालवीर्य अथवा कर्मवीर्य का परिणाम इससे विपरीत होता है। उससे दुःख बढ़ता है—संसार बढ़ता है।

धर्म :

धर्म नामक नवम अध्ययन का व्याख्यान करते हुए निर्युक्तिकार आदि ने 'धर्म' शब्द का अनेक रूपों में प्रयोग किया है, यथा—कुलधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म, गणधर्म, संघधर्म, पाखंडधर्म, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म, गृहस्थधर्म, पदार्थधर्म, दानधर्म आदि। अथवा सामान्यतया धर्म दो प्रकार का है : लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म। जैन परम्परा अथवा जैन प्रणाली के अतिरिक्त सब धर्म, मार्ग अथवा सम्प्रदाय लौकिक धर्म में समाविष्ट हैं। जैन प्रणाली की दृष्टि से प्रचलित समस्त आचार-विचार लोकोत्तर धर्म में समाविष्ट होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में लोकोत्तर धर्म का निरूपण है। इसमें चूर्णि की वाचना के अनुसार ३७ गाथाएँ हैं जबकि वृत्तिकी वाचना के अनुसार गाथाओं की संख्या ३६ है। गाथाओं की वाचना में भी चूर्णि व वृत्ति की दृष्टि से काफी भेद है।

प्रथम गाथा के पूर्वार्ध में प्रश्न है कि मतिमान् ब्राह्मणों ने कौन सा व कैसा धर्म बताया है? उत्तरार्ध में उत्तर है कि जिनप्रभुओं ने—अर्हतों ने जिस आर्जवरूप—अकपटरूप धर्म का प्रतिपादन किया है उसे मेरे द्वारा सुनो। आगे बताया गया है कि लोग आरम्भ आदि दूषितप्रवृत्तियों में फँसे रहते हैं वे इस लोक तथा परलोक में दुःख से मुक्ति नहीं पा सकते। अतः निर्ममतारूप एवं निरहंकाररूप ऋजुधर्म का आचरण करना चाहिए जो परमार्थानुगामी है। श्रमणधर्म के दूषण-रूप कुछ आदान प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार गिनाये हैं :—

१. असत्य वचन
२. बहिद्धा अर्थात् परिग्रह एवं अब्रह्मचर्य
३. अदत्तादान अर्थात् चौर्य
४. वक्रता अर्थात् माया—कपट—परिकुंचन—पलिउंचण

५ लोभ—भजन—भयण
६ क्रोध—स्थण्डिल—थण्डिल
७ मान—उच्छ्रयण—उस्सयण

ये सब धूर्तादान अर्थात् धूर्तता के आयतन हैं। इनके अतिरिक्त धावन, रजन, वमन, विरेचन, स्नान, दंतप्रक्षालन, हस्तकर्म आदि दूषित प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने आहार सम्बन्धी व अन्य प्रकार के कुछ दूषण भी गिनाये हैं। भिक्षुओं को इनका आचरण नहीं करना चाहिए, ऐसा निग्रन्थ महामुनि महावीर ने कहा है। भाषा कैसी बोलनी चाहिए इस पर भी सूत्रकार ने प्रकाश डाला है।

समाधि

दसवें अध्ययन का नाम समाधि है। इस अध्ययन में २४ गाथाएँ हैं। समाधि का अर्थ है तुष्टि—संतोष—प्रमोद—आनन्द। निर्युक्तिकार ने द्रव्यसमाधि, क्षेत्रसमाधि, कालसमाधि एवं भावसमाधि का स्वरूप बताया है। जिन गुणों द्वारा जीवन में समाधिलाभ हो वे भावसमाधि कहलाते हैं। यह भावसमाधि ज्ञानसमाधि, दर्शनसमाधि, चारित्रसमाधि एवं तपसमाधि रूप है। प्रस्तुत अध्ययन में इस भावसमाधि अर्थात् आत्म प्रसन्नता की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। संपूर्ण अध्ययन में किसी प्रकार का संचय न करना, समस्त प्राणियों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, सब प्रकार की प्रवृत्ति में हाथ-पैर आदि को संयम में रखना, किसी अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना आदि सदाचार के नियमों के पालन के विषय में बार-बार कहा गया है। सूत्रकार ने पुनः-पुनः इस बात का समर्थन किया है कि स्त्रियों में आसक्त रहने वाले एवं परिग्रह में ममत्व रखने वाले श्रमण समाधि प्राप्त नहीं कर सकते। अतः समाधिप्राप्ति के लिए यह अनिवार्य है कि स्त्रियों में आसक्ति न रखी जाय, मैथुनक्रिया से दूर रहा जाय एवं परिग्रह में ममत्व न रखा जाय। एकान्त क्रियावाद व एकान्त अक्रियावाद को अज्ञानमूलक बताते हुए सूत्रकार ने कहा है कि एकान्त क्रियावाद का अनुसरण करने वाले तथा एकान्त अक्रियावाद का अनुसरण करने वाले दोनों ही वास्तविक धर्म अथवा समाधि से बहुत दूर हैं।

मार्ग

मार्ग नामक ग्यारहवें अध्ययन का विषय समाधि नामक दसवें अध्ययन के विषय से मिलता जुलता है। इसकी गाथा संख्या ३८ है। चूर्णिसंमत वाचना व वृत्तिसंमत वाचना में पाठभेद है। इस अध्ययन के विवेचन के प्रारंभ में निर्युक्तिकार ने 'मार्ग' शब्द का विविध प्रकार से अर्थ किया है एवं मार्ग के अनेक प्रकार बताये हैं, यथा फलकमार्ग (पट्टमार्ग), लतामार्ग, आंदोलकमार्ग

(शाखामार्ग), वेत्रमार्ग रज्जुमार्ग, दवनमार्ग (वाहनमार्ग), बिलमार्ग, पाशमार्ग, कीलकमार्ग, अजमार्ग, पक्षिमार्ग, छत्रमार्ग, जलमार्ग, आकाशमार्ग। ये सब बाह्यमार्ग हैं। प्रस्तुत अध्ययन में इन मार्गों के विषय में कुछ नहीं कहा गया है किंतु जिससे आत्मा को समाधि प्राप्त हो—शान्ति मिले उसी मार्ग का विवेचन किया गया है। ऐसा मार्ग ज्ञानमार्ग, दर्शनमार्ग, चारित्रमार्ग एवं तपोमार्ग कहलाता है। संक्षेप में उसका नाम संयममार्ग अथवा सदाचारमार्ग है। इस पूरे अध्ययन में आहारशुद्धि, सदाचार, संयम, प्राणातिपातविरमण आदि पर प्रकाश डाला गया है एवं कहा गया है कि प्राणों की परवाह किये बिना इन सबका पालन करना चाहिए। दानादि प्रवृत्तियों का श्रमण को न तो समर्थन करना चाहिए और न निषेध, क्योंकि यदि वह कहता है कि इस प्रवृत्ति में धर्म है अथवा पुण्य है तो उसमें होने वाली हिंसा का समर्थन होता है जिससे प्राणियों की रक्षा नहीं हो सकती और यदि वह कहता है कि इस प्रवृत्ति में धर्म नहीं है अथवा पुण्य नहीं है तो जिसे सुख पहुँचाने के लिए वह प्रवृत्ति की जाती है उसे सुखप्राप्ति में अन्तराय पहुँचती है जिससे प्राणियों का कष्ट बढ़ता है। ऐसी स्थिति में श्रमण के लिए इस प्रकार की प्रवृत्तियों के प्रति उपेक्षाभाव अथवा मौन रखना ही श्रेष्ठ है।

समवसरण

बारहवें अध्ययन का नाम समवसरण है। इस अध्ययन में २२ गाथाएँ हैं। चूर्णिसंमत वाचना एवं वृत्तिसंमत वाचना में पाठभेद है। देवादिकृत समवसरण अथवा समोसरण यहाँ विवक्षित नहीं है। उसका शब्दार्थ निर्युक्तिकार ने सम्मेलन अथवा मिलन अर्थात् एकत्र होना किया है। चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने भी इस अर्थ का समर्थन किया है। यही अर्थ यहाँ अभीष्ट है। समवसरण नामक प्रस्तुत अध्ययन में विविध प्रकार के मतप्रवर्तकों अथवा मतों का सम्मेलन है। ये मतप्रवर्तक हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी। क्रिया को माननेवाले क्रियावादी कहलाते हैं। ये आत्मा, कर्मफल आदि को मानते हैं। अक्रिया को मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। ये आत्मा, कर्मफल आदि का अस्तित्व नहीं मानते। अज्ञान को माननेवाले अज्ञानवादी कहलाते हैं। ये ज्ञान की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। विनय को माननेवाले विनयवादी कहलाते हैं। ये किसी भी मत की निन्दा नहीं करते अपितु समस्त प्राणियों का विनयपूर्वक आदर करते हैं। विनयवादी लोग गधे से लेकर गाय तक तथा चांडाल से लेकर ब्राह्मण तक सब स्थलचर, जलचर और खेचर प्राणियों को

नमस्कार करते रहते हैं। यही उनका विनयवाद है। प्रस्तुत अध्ययन में केवल इन चार मतो अर्थात् वादो का ही उल्लेख है। स्थानाग सूत्र में अक्रियावादियो के आठ प्रकार बताए गये हैं एकवादी, अनेकवादी, मितवादी, निर्मितवादी, सुखवादी, समुच्छेदवादी, नियतवादी तथा परलोकाभाववादी।[1] समवायाग में सूत्रकृताग का परिचय देते हुए क्रियावादी आदि मतो के ३६३ भेदों का केवल एक सख्या के रूप में निर्देश कर दिया गया है। ये भेद कौन से हैं, इसके विषय में वहाँ कुछ नही कहा है। सूत्रकृताग की नियुक्ति में क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२—इस प्रकार कुल ३६३ भेदो की सख्या बताई गई है। ये भेद किस प्रकार हुए है एव उनके नाम क्या हैं, इसके विषय में नियुक्तिकार ने कोई प्रकाश नही डाला है। चूर्णिकार एव वृत्तिकार ने इन भेदो की नामपूर्वक गणना की है।

प्रस्तुत अध्ययन के प्रारभ में क्रियावाद आदि से सम्बन्धित चार वादियों का नामोल्लेख है। यहाँ पर बताया गया है कि समवसरण चार ही हैं, अधिक नही। द्वितीय गाथा में अज्ञानवाद का निरसन है। सूत्रकार कहते है कि अज्ञानवादी वैसे तो कुशल है किन्तु धर्मोपाय के लिए अकुशल हैं। उनमें विचार करने की प्रवृत्ति का अभाव है। अज्ञानवाद क्या है अर्थात् अज्ञानवादियो की मान्यता का स्वरूप क्या है, इसका स्पष्ट एव पूर्ण निरूपण न तो सूत्रकार ने किया है, न किसी टीकाकार ने। जैसे सूत्रकार ने निरसन को प्रधानता दी है वैसे ही टीकाकारो ने भी वह शैली अपनाई है। परिणामत बौद्धो तक को अज्ञानवादियो की कोटि में गिना जाने लगा। तीसरी गाथा में विनयवादियो का निरसन है। चौथी गाथा का पूर्वार्ध विनयवाद से सम्बन्धित है एव उत्तरार्ध अक्रियावाद विषयक है। पाँचवी गाथा में अक्रियावादियो पर आक्षेप किया गया है कि ये लोग हमारे द्वारा प्रस्तुत तर्क का कोई स्पष्ट उत्तर नही दे सकते, मिश्रभाषा द्वारा छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं, उन्मत्त की भाँति बोलते हैं अथवा गूँगे की तरह साफ जवाब नही दे सकते। छठी गाथा में इस प्रकार के अक्रियावादियो को ससार मे भ्रमण करने वाला बताया गया है। सातवी गाथा में अक्रियावाद की मान्यता इस प्रकार बताई है सूर्य उदित नही होता, सूर्य अस्त भी नही होता, चन्द्रमा बढ़ता नही, चन्द्रमा कम भी नही होता, नदियाँ पर्वतो से निकलती नही, वायु बहता नही। इस तरह यह सम्पूर्ण लोक नियत है वध्य है, निष्क्रिय है। ग्यारहवी गाथा में कहा गया है कि यहाँ जो चार समवसरण अर्थात् वाद बताये गये हैं उनका तथागत

---

१ विशेष परिचय के लिए देखिये—स्थानाग-समवायांग (प० दलसुख मालवणिया कृत गुजराती रूपान्तर), पृ ४४८

पुरुषों अर्थात् तीर्थंकरो ने लोक का यथार्थ स्वरूप समझ कर ही प्रतिपादन किया है एव अन्य वादो का निरसन करते हुए क्रियावाद की प्रतिष्ठा की है। उन्होने बताया है कि जो कुछ दु ख—कम है वह अन्यकृत नही अपितु स्वकृत है एव 'विज्जा' अर्थात ज्ञान तथा 'चरण' अर्थात् चारित्ररूप क्रिया इन दोनो द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इस गाथा में केवल ज्ञान द्वारा अथवा केवल क्रिया द्वारा मुक्ति मानने वालों का निरसन है। आगे की गाथाओ में ससार एव तद्गत आसक्ति का स्वरूप, कर्मनाश का उपाय, रागद्वेषरहितता, ज्ञानी पुरुषो का नेतृत्व, बुद्धत्व अतकरत्व, सर्वत्र समभाव, मध्यस्थवृत्ति, धर्मप्ररूपणा, क्रियावादप्ररूपकत्व आदि पर प्रकाश डाला गया है।

याथातथ्य

तेरहवें अध्ययन का नाम आहत्तहिय-याथातथ्य है। इसमें २३ गाथाएँ हैं। याथातथ्य का अथ है यथार्थ—वास्तविक—परमाथ—जैसा है वैसा। इस अध्ययन की प्रथम गाथा में ही आहत्तहिय—आघत्तघिज्ज—याथातथ्य शब्द का प्रयोग हुआ है। अध्ययन के नाम से तो ऐसा मालूम होता है कि इसमें किसी व्यापक वस्तु का विवेचन किया गया है किन्तु बात ऐसी नही है। इसमें शिष्य के गुण-दोषो की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। शिष्य कैसे विनयी होते हैं व कैसे अविनयी होते हैं, कैसे अभिमानी होते हैं, व कैसे सरल होते हैं, कैसे क्रोधी होते हैं व कैसे शान्त होते हैं, कैसे कपटी होते हैं व कैसे सरल होते हैं, कैसे लोभी होते हैं व कैसे नि स्पृह रहते हैं—यह सब प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित है।

ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह

चौदहवें अध्ययन का नाम ग्रथ है। निर्युक्ति आदि के अनुसार ग्रन्थ का सामान्य अथ परिग्रह होता है। ग्र थ दो प्रकार का ह बाह्यग्रन्थ और आभ्यन्तरग्रन्थ। बाह्य ग्रन्थ के मुख्य दस प्रकार हैं १ क्षेत्र, २ वास्तु, ३ धन धान्य, ४ ज्ञातिजन व मित्र, ५ वाहन, ६ शयन, ७ आसन ८ दासी, ९ दास, १० विविध सामग्री। इन दस प्रकार के बाह्य ग्रन्थो मे मूर्छा रखना ही वास्तविक ग्रन्थ है। आभ्यन्तर ग्रन्थ के मुख्य चौदह प्रकार हैं १ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ, ५ स्नेह, ६ द्वेष, ७ मिथ्यात्व, ८ कामाचार, ९ सयम में अरुचि, १० असयम में रुचि, ११ विकारी हास्य, १२ शोक, १३ भय, १४ घृणा। जो दोनो प्रकार के ग्रन्थ से रहित है अर्थात् जिन्हें दोनो प्रकार के ग्रन्थ में रुचि नही है तथा जो सयममार्ग की प्ररूपणा करने वाले आचाराग आदि ग्रन्थो का अध्ययन करने वाले हैं वे शैक्ष अथवा शिष्य कहलाते हैं। शिष्य दो प्रकार के होते हैं दीक्षाशिष्य और शिक्षाशिष्य। दीक्षा देकर

बनाया हुआ शिष्य दीक्षाशिष्य कहलाता है। इसी प्रकार शिक्षा देकर अर्थात सूत्रादि सिखाकर बनाया हुआ शिष्य शिक्षाशिष्य कहलाता है। आचार्य अर्थात गुरु के भी शिष्य की ही तरह दो भेद हैं दीक्षा देने वाला गुरु—दीक्षा गुरु और शिक्षा देने वाला गुरु—शिक्षागुरु। प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि इस प्रकार के गुरु और शिष्य कैसे होने चाहिए, उन्हें कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए, उनके कर्तव्य क्या होने चाहिए ? इसमें २७ गाथाएं हैं। अध्ययन की प्रारम्भिक गाथा में ही 'ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग है। बीसवी गाथा में 'ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा' ऐसा उल्लेख है। इसका अर्थ यह है कि भिक्षु को किसी को आशीर्वाद नही देना चाहिए। यहा 'आशिष्' शब्द का प्राकृत रूप 'आसिया' अथवा 'आसिआ' हुआ है, जैसे 'सरित्' शब्द का प्राकृतरूप 'सरिया' अथवा 'सरिआ' होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसके लिए स्पष्ट नियम बनाया है जो स्त्रियाम् आत् अविद्युत' (८ १ १५) सूत्र से प्रकट होता है। ऐसा होते हुए भी कुछ विद्वान् इसका अर्थ यो करते हैं कि भिक्षु को अस्याद्वादयुक्त वचन का प्रयोग नही करना चाहिए। यह ठीक नही। प्रस्तुत गाथा में स्याद्वाद अथवा अस्याद्वाद का कोई उल्लेख नही है और न वहा इस प्रकार का कोई प्रसग ही है। वृत्तिकार ने भी इसका अर्थ आशीर्वाद के निषेध के रूप में ही किया है।

आदान अथवा आदानीय

पन्द्रहवें अध्ययन के तीन नाम हैं आदान अथवा आदानीय, सकलिका अथवा शृखला और जमतीत अथवा यमकीय। निर्युक्तिकार का कथन है कि इस अध्ययन की गाथाओ में जो पद पहली गाथा के अत मे आता है वही दूसरी गाथा के आदि में आता है अर्थात् जिस पद का आदान प्रथम पद्य के अन्त में है उसी का आदान द्वितीय पद्य के प्रारम में है अतएव इसका नाम आदान अथवा आदानीय है। वृत्तिकार कहते है कि कुछ लोग इस अध्ययन को सकलिका नाम से पुकारते हैं। इसके प्रथम पद्य का अन्तिम वचन एव द्वितीय पद्य का आदि वचन शृखला की भाति जुडे हुए हैं अर्थात् उन दोनो की कडिया एक समान है अतएव इसका नाम सकलिका अथवा शृखला है। अध्ययन का आदि शब्द जमतीत—ज अतीत है अत इसका नाम जमतीत है। अथवा इस अध्ययन में यमक अलकार का प्रयोग हुआ है अत इसका नाम यमकीय है जिसका आर्षप्राकृतरूप जमईय है। निर्युक्तिकार ने इसका नाम आदान अथवा आदानीय बताया है। दूसरे दो नाम वृत्तिकार ने बताये है।

इस अध्ययन में विवेक की दुलभता, सयम के सुपरिणाम, भगवान् महावीर अथवा वीतराग पुरुष का स्वभाव, सयमी मनुष्य को जीवनपद्धति आदि का

निरूपण है। इसमें विशेष नाम अर्थात् व्यक्तिवाचक नाम के रूप में तीन बार 'महावीर' शब्द का तथा एक बार 'काश्यप' शब्द का उल्लेख है। यह 'काश्यप' शब्द भी भगवान् महावीर का ही सूचक है। इसमें २५ गाथाएँ हैं। अन्य अध्ययनों की भाँति इसमें भी चूर्णिसमत एवं वृत्तिसमत वाचना में भेद है।

गाथा

सोलहवें अध्ययन का नाम गाहा—गाथा है। यह प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्तिम अध्ययन है। गाथा का अर्थ बताते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिसका मधुरता से गान किया जा सके वह गाथा है। अथवा जिसमें बहुत अर्थसमुदाय एकत्र कर समाविष्ट किया गया हो वह गाथा है। अथवा पूर्वोक्त पंद्रह अध्ययनों को पिण्डरूप कर प्रस्तुत अध्ययन में समाविष्ट किया गया है इसलिए भी इसका नाम गाथा है।

निर्युक्तिकार ने ऊपर सामुद्र छंद का जो नाम दिया है उसका लक्षण छंदोनुशासन के छठें अध्याय में इस प्रकार बताया गया है ओजे सप्त समे नव सामुद्रकम्। यह लक्षण प्रस्तुत अध्ययन पर लागू नहीं होता अतः इस विषय में विशेष शोध की आवश्यकता है। वृत्तिकार ने इस छंद के विषय में इतना ही लिखा है कि 'तच्चेदं छन्द —अनिबद्धं च यत् लोके गाथा इति तत्पण्डितैः प्रोक्तम्' अर्थात् जो अनिबद्ध है—छंदोबद्ध नहीं है उसे ससार में पंडितों ने 'गाथा' नाम दिया है। इससे मालूम होता है कि यह अध्ययन किसी प्रकार के पद्य में नहीं है फिर भी गाया जा सकता है अतएव इसका नाम गाथा रखा गया है।

ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु व निर्ग्रन्थ

इस अध्ययन में बताया गया है कि जो समस्त पापकर्म से विरत है, राग-द्वेष-कलह-अभ्याख्यान पैशुन्य परनिन्दा-अरति रति मायामृषावाद मिथ्यादर्शनशल्य से रहित हैं, समितियुक्त हैं, ज्ञानादिगुण सहित है, सर्वदा प्रयत्नशील है, क्रोध नहीं करता, अहंकार नहीं रखता वह ब्राह्मण है। इसी प्रकार जो अनासक्त है, निदान रहित है, कषायमुक्त है, हिंसा असत्य-बहिद्धा (अब्रह्मचर्य-परिग्रह) रहित है वह श्रमण है। जो अभिमानरहित है, विनयसम्पन्न है, परिग्रह एवं उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने वाला है, आध्यात्मिक वृत्तियुक्त है, परदत्तभोजी है वह भिक्षु है। जो ग्रंथरहित है—परिग्रहादिरहित एकाकी है, एकविद् है—केवल आत्मा का ही जानकार है, पूजा सत्कार का अर्थी नहीं है वह निर्ग्रन्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु एवं निर्ग्रन्थ का स्वरूप बताया गया है। यही समस्त अध्ययनों का सार है।

सात महाअध्ययन

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। निर्युक्तिकार ने इन सात अध्ययनो को महाअध्ययन कहा है। वृत्तिकार ने इन्हे महाअध्ययन कहने का कारण बताते हुए लिखा है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो बातें सक्षेप मे कही गई है वे ही इन अध्ययनो मे विस्तार मे बताई गई है अतएव इन्हे महाअध्ययन कहा गया है। इन सात अध्ययनो के नाम ये हैं १ पुण्डरीक, २ क्रियास्थान, ३ आहारपरिज्ञा, ४ प्रत्याख्यानक्रिया, ५ आचारश्रुत अथवा अनगारश्रुत, ६ आर्द्रकीय, ७ नालदीय। इनमें से आचारश्रुत व आर्द्रकीय ये दो अध्ययन पद्यरूप हैं, शेष पाँच गद्यरूप। केवल आहारपरिज्ञा मे चारेक पद्य आते है, बाकी का सारा अध्ययन गद्यरूप है।

पुण्डरीक

जिस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में भूतवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, आत्मषष्ठवादी, ईश्वरवादी, नियतिवादी आदिवादियो के मतो का उल्लेख है उसी प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पुण्डरीक नामक प्रथम अध्ययन में इन वादियो में से कुछ वादियो के मतो की चर्चा है। पुण्डरीक का अर्थ है सौ पखुडियो वाला उत्तम श्वेत कमल। प्रस्तुत अध्ययन में पुण्डरीक के रूपक की कल्पना की गई है एव उस रूपक का भावार्थ समझाया गया है। रूपक इस प्रकार है एक विशाल पुष्करिणी है। उसमे चारो ओर सुन्दर-सुन्दर कमल खिले हुए हैं। उसके ठीक मध्य में एक पुण्डरीक खिला हुआ है। वहाँ पूर्व दिशा से एक पुरुष आया और उसने इस पुण्डरीक को देखा। देखकर वह कहने लगा—मैं क्षेत्रज्ञ (अथवा खेदज्ञ) हूँ, कुशल हूँ, पडित हूँ, व्यक्त हूँ, मेधावी हूँ, अबाल हूँ, मार्गस्थ हूँ, मार्गविद् हूँ एव मार्ग पर पहुँचने के गतिपराक्रम का भी ज्ञाता हूँ। मैं इस उत्तम कमल को तोड सकूँगा। यो कहते-कहते वह पुष्करिणी में उतरा एव ज्यो ज्यो आगे बढ़ने लगा त्यो-त्यो गहरा पानी एव भारी कीचड आने लगा। परिणामत वह किनारे से दूर कीचड में फँस गया और न इस ओर वापस आ सका, न उस ओर जा सका। इसी प्रकार पश्चिम, उत्तर व दक्षिण से आये हुए तीन और पुरुष उस कीचड मे फँसे। इतने में एक सयमी नि स्पृह एव कुशल भिक्षु वहाँ आ पहुँचा। उसने उन चारो पुरुषो को पुष्करिणी में फँसा हुआ देखा और सोचा कि ये लोग अकुशल, अपडित एव अमेधावी मालूम होते हैं। इस प्रकार कही कमल प्राप्त किया जा सकता है? मैं इस कमल को प्राप्त करूँगा। यो सोच कर वह पानी में न उतरते हुए किनारे पर खडा रह कर

ही कहने लगा—हे उत्तम कमल ! मेरे पास उड़ आ, मेरे पास उड़ आ । यों कहते ही वह कमल वहाँ से उठकर भिक्षु के पास आ गया ।

इस रूपक का परमार्थ—सार बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यह संसार पुष्करिणी के समान है । इसमें कर्मरूप पानी तथा कामभोगरूप कीचड़ भरा हुआ है । अनेक जनपद चारों ओर फैले हुए कमलों के समान हैं । मध्य में रहा हुआ पुण्डरीक राजा के समान है । पुष्करिणी में प्रविष्ट होने वाले चारों पुरुष अन्यतीर्थिकों के समान हैं । कुशल भिक्षु धर्मरूप है, किनारा धर्मतीर्थरूप है, भिक्षु द्वारा उच्चारित शब्द धर्मदेशनारूप है एवं पुण्डरीक कमल का उड़ना निर्वाण के समान है ।

उपर्युक्त चार पुरुषों में से प्रथम पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी है । उसके मत से शरीर और जीव एक है—अभिन्न है । यह अनात्मवाद है । इसका दूसरा नाम नास्तिकवाद भी है । प्रस्तुत अध्ययन में इस वाद का वर्णन है । यह वर्णन दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में आने वाले भगवान् बुद्ध के समकालीन अजितकेसकम्बल के उच्छेदवाद के वर्णन से हूबहू मिलता है । इतना ही नहीं, इनके शब्दों में भी समानता दृष्टिगोचर होती है ।

दूसरा पुरुष पंचभूतवादी है । उसके मत से पांच भूत ही यथार्थ हैं जिनसे जीव की उत्पत्ति होती है । तज्जीवतच्छरीरवाद एवं पंचभूतवाद में अन्तर यह है कि प्रथम के मत से शरीर और जीव एक ही है अर्थात् दोनों में कोई भेद ही नहीं है जबकि दूसरे के मत से जीव की उत्पत्ति पांच महाभूतों के सम्मिश्रण से शरीर के बनने पर होती है एवं शरीर के नष्ट होने के साथ जीव का भी नाश हो जाता है । पंचभूतवादी की चर्चा में आत्मषष्ठवादी के मत का भी उल्लेख किया गया है । जो पांच भूतों के अतिरिक्त छठे आत्मतत्त्व की भी सत्ता स्वीकार करता है वह आत्मषष्ठवादी है । वृत्तिकार ने इस वादी को सांख्य का नाम दिया है ।

तृतीय पुरुष ईश्वरकारणवादी है । उसके मत से यह लोक ईश्वरकृत है अर्थात् संसार का कारण ईश्वर है ।

चतुर्थ पुरुष नियतिवादी है । नियतिवाद का स्वरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की प्रथम तीन गाथाओं में बताया गया है । उसके अनुसार जगत की सारी क्रियाएं नियत हैं—अपरिवर्तनीय हैं । जो क्रिया जिस रूप में नियत है वह उसी रूप में पूरी होगी । उसमें कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता ।

अन्त में आने वाला भिक्षु इन चारों पुरुषों से भिन्न प्रकार का है । वह संसार को असार समझ कर भिक्षु बना है एवं धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ कर

त्यागधर्म का उपदेश देता है जिसमे निर्वाण की प्राप्ति होती है। यह धम जिन प्रणीत है, वीतरागकथित है। जो अनासक्त हैं, निस्पृह हैं, अहिंसादि को जीवन मे मूतरूप देने वाले हैं वे निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। इससे विपरीत आचरण वाले मोक्ष प्राप्त नही कर सकते। यही प्रथम अध्ययन का सार है। इस अध्ययन के कुछ वाक्य एव शब्द आचाराग के वाक्यो एव शब्दो से मिलते जुलते हैं।

क्रियास्थान

क्रियास्थान नामक द्वितीय अध्ययन मे विविध क्रियास्थानो का परिचय दिया गया है। क्रियास्थान का अर्थ है प्रवृत्ति का निमित्त। विविध प्रकार की प्रवृत्तियों के विविध कारण होते हैं। इन्ही कारणो को प्रवृत्तिनिमित्त अथवा क्रियास्थान कहते हैं इन क्रियास्थानो के विषय में प्रस्तुत अध्ययन में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। क्रियास्थान प्रधानतया दो प्रकार के हैं धर्मक्रियास्थान और अधर्मक्रियास्थान। अधर्मक्रियास्थान के बारह प्रकार हैं —

१ अर्थदण्ड, २ अनर्थदण्ड, ३ हिंसादण्ड, ४ अकस्मात्दण्ड, ५ दृष्टि-विपर्यासदण्ड, ६ मृषाप्रत्ययदण्ड, ७ अदत्तादानप्रत्ययदण्ड, ८ अध्यात्मप्रत्यय-दण्ड, ९ मानप्रत्ययदण्ड, १० मित्रदोषप्रत्ययदण्ड, ११ मायाप्रत्ययदण्ड, १२ लोभप्रत्ययदण्ड। धर्मक्रियास्थान में धर्महेतुक प्रवृत्ति का समावेश होता है। इस प्रकार १२ अधर्मक्रियास्थान एव १ धर्मक्रियास्थान इन १३ क्रियास्थानो का निरूपण प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

१. हिंसा आदि दूषणयुक्त जो प्रवृत्ति किसी प्रयोजन के लिए की जाती है वह अर्थदण्ड है। इसमें अपनी जाति, कुटुम्ब, मित्र आदि के लिए की जाने वाली त्रस अथवा स्थावर जीवो की हिंसा का समावेश होता है।

२ बिना किसी प्रयोजन के केवल आदत के कारण अथवा मनोरजन के हेतु की जानेवाली हिंसादि दूषणयुक्त प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है।

३ अमुक प्राणियो ने मुझे अथवा मेरे किसी सम्बन्धी को मारा था, मारा है अथवा मारने वाला है—ऐसा समझ कर जो मनुष्य उन्हें मारने की प्रवृत्ति करता है वह हिंसादण्ड का भागी होता है।

४ मृगादि को मारने की भावना से बाण आदि छोडने पर अकस्मात् किसी अन्य पक्षी आदि का वध होने का नाम अकस्मात्दण्ड है।

५ दृष्टि में विपरीतता होने पर मित्र आदि को अमित्र आदि की बुद्धि से मार देने का नाम दृष्टिविपर्यासदण्ड है।

६ अपने लिए, अपने कुटुम्ब के लिए अथवा अन्य किसी के लिए झूठ

बोलना, झूठ बुलवाना और झूठ बोलने वाले का समर्थन करना मृषाप्रत्यय-दण्ड है।

७ इसी प्रकार चोरी करना, करवाना अथवा करने वाले का समर्थन करना अदत्तादानप्रत्ययदण्ड है।

८ हमेशा चिन्ता में डूबे रहना, उदास रहना, भयभीत रहना, संकल्प-विकल्प में मग्न रहना अध्यात्मप्रत्ययदण्ड है। इस प्रकार के मनुष्य के मन में क्रोधादि कषायों की प्रवृत्ति चलती ही रहती है।

९ जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, ज्ञानमद, लाभमद, ऐश्वर्यमद, प्रज्ञामद आदि के कारण दूसरों को हीन समझना मानप्रत्ययदण्ड है।

१० अपने साथ रहने वालों में से किसी का जरा-सा भी अपराध होने पर उसे भारी दण्ड देना मित्रदोषप्रत्ययदण्ड है। इस प्रकार का दण्ड देने वाला महापाप का भागी होता है।

११ कपटपूर्वक अनर्थकारी प्रवृत्ति करने वाले मायाप्रत्ययदण्ड के भागी होते हैं।

१२ लोभ के कारण हिंसक प्रवृत्ति में फँसने वाले लोभप्रत्ययदण्ड का उपार्जन करते हैं। ऐसे लोग इस लोक व परलोक दोनों में दुःखी होते हैं।

१३ तेरहवाँ क्रियास्थान धर्महेतुकप्रवृत्ति का है। जो इस प्रकार की प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ाते हैं वे यतनापूर्वक समस्त प्रवृत्ति करने वाले, जितेन्द्रिय, अपरिग्रही पंचसमिति एवं त्रिगुप्तियुक्त होते हैं एवं अन्ततोगत्वा निर्वाण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार निर्वाण के इच्छुकों के लिए यह तेरहवाँ क्रियास्थान आचरणीय है। शुरू के बारह क्रियास्थान हिंसापूर्ण हैं। इनसे साधक को दूर रहना चाहिए।

बौद्ध दृष्टि से हिंसा :

बौद्ध परम्परा में हिंसक प्रवृत्ति की परिभाषा भिन्न प्रकार की है। वे ऐसा मानते हैं कि निम्नोक्त पाँच अवस्थाओं की उपस्थिति में ही हिंसा हुई कही जा सकती है, एवं इसी प्रकार की हिंसा कर्मबन्धन का कारण होती है —

१ मारा जाने वाला प्राणी होना चाहिए।
२ मारने वाले को 'यह प्राणी है' ऐसा स्पष्ट भान होना चाहिए।
३ मारने वाला यह समझता हुआ होना चाहिए कि 'मैं इसे मार रहा हूँ'।
४ साथ ही शारीरिक क्रिया होनी चाहिए।
५ शारीरिक क्रिया के साथ प्राणी का वध भी होना चाहिए।

इन शर्तों को देखते हुए बौद्ध परम्परा में अकस्मात्‌दण्ड, अनर्थदण्ड वगैरह हिंसारूप नहीं गिने जा सकते। जैन परिभाषा के अनुसार राग-द्वेषजन्य प्रत्येक

प्रकार की प्रवृत्ति हिंसात्मक होती है जो वृत्ति अर्थात् भावना की तीव्रता-मंदता के अनुसार कर्मबंध का कारण बनती है।

प्रसंगवशात सूत्रकार ने अष्टांगनिमित्तों एवं अंगविद्या आदि विविध विद्याओं का भी उल्लेख किया है। दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में भी अंगविद्या, उत्पातविद्या, स्वप्नविद्या आदि के लक्षणों का इसी प्रकार उल्लेख है।

आहारपरिज्ञा

आहारपरिज्ञा नामक तृतीय अध्ययन में समस्त स्थावर एवं त्रस प्राणियों के जन्म तथा आहार के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। इस अध्ययन का प्रारंभ बीजकायों—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज एवं स्कन्धबीज—के आहार की चर्चा से होता है।

पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति स्थावर हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग त्रस हैं। मनुष्य भी त्रस है। मनुष्य की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका निरूपण भी प्रस्तुत अध्ययन में है। मनुष्य के आहार के विषय में इस अध्ययन में यों बताया गया है ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे अर्थात् मनुष्य का आहार ओदन, कुल्माष एवं त्रस व स्थावर प्राणी है। इस सम्पूर्ण अध्ययन में सूत्रकार ने देव अथवा नारक के आहार की कोई चर्चा नहीं की है। नियुक्ति एवं वृत्ति में एतद्विषयक चर्चा है। उनमें आहार के तीन प्रकार बताये गये हैं ओजआहार रोमआहार और प्रक्षेपआहार। जहाँ तक दृश्य शरीर उत्पन्न न हो वहाँ तक तैजस एवं कार्मण शरीर द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है वह ओजआहार है। अन्य आचार्यों के मत से जब तक इन्द्रियाँ श्वासोच्छ्वास, मन आदि का निर्माण न हुआ हो तब तक केवल शरीरपिण्ड द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है वह ओजआहार कहलाता है। रोमकूप-द्वारा चमड़ी द्वारा गृहीत आहार का नाम रोमाहार है। कवल द्वारा होने वाला आहार प्रक्षेपाहार है। देवों व नारकों का आहार रोमाहार अथवा लोमाहार कहलाता है। यह निरन्तर चालू रहता है। इस विषय में अन्य आचार्यों का मत यह है—जो स्थूल पदार्थ जिह्वा द्वारा इस शरीर में पहुँचाया जाता है वह प्रक्षेपाहार है। जो नाक, आँख, कान द्वारा ग्रहण किया जाता है एवं धातुरूप से परिणत होता है वह ओजआहार है तथा जो केवल चमड़ी द्वारा ग्रहण किया जाता है वह रोमाहार—लोमाहार है।

बौद्ध परम्परा में आहार का एक प्रकार कवलीकार आहार माना गया है जो गन्ध, रस एवं स्पर्शरूप है। इसके अतिरिक्त स्पर्शआहार, मनस्संचेतना एवं विज्ञानरूप तीन प्रकार के आहार और माने गये हैं। कवलीकार आहार दो प्रकार का है। औदारिक—स्थूल आहार और सूक्ष्म आहार। जन्मान्तर प्राप्त करते

समय गति में रहे हुए जीवों का आहार सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म प्राणियों का आहार भी सूक्ष्म ही होता है। कामादि तीन धातुओं में स्पर्श, मनस्संचेतना एवं विज्ञानरूप आहार है।[1]

आहारपरिज्ञा नामक प्रस्तुत अध्ययन में यह स्पष्ट बताया गया है कि जीव की हिंसा किये बिना आहार की प्राप्ति असंभव है। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति एवं आहार को दृष्टि में रखते हुए यह बात आसानी से फलित की जा सकती है। इस अध्ययन के अन्त में संयमपूर्वक आहार प्राप्त करने के प्रयास पर भार दिया गया है जिससे जीवहिंसा कम से कम हो।

प्रत्याख्यान

चतुर्थ अध्ययन का नाम प्रत्याख्यानक्रिया है। प्रत्याख्यान का अर्थ है अहिंसादि मूलगुणों एवं सामायिकादि उत्तरगुणों के आचरण में बाधक सिद्ध होने वाली प्रवृत्तियों का यथाशक्ति त्याग। प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार की प्रत्याख्यानक्रिया के सम्बन्ध में निरूपण है। यह प्रत्याख्यानक्रिया निरवद्यानुष्ठानरूप होने के कारण आत्मशुद्धि के लिए साधक है। इससे विपरीत अप्रत्याख्यानक्रिया सावद्यानुष्ठानरूप होने के कारण आत्मशुद्धि के लिए बाधक है। प्रत्याख्यान न करने वाले को भगवान ने असंयत, अविरत, पापक्रिया असंवृत बाल एवं सुप्त कहा है। ऐसा पुरुष विवेकहीन होने के कारण सतत कर्मबन्ध करता रहता है। यद्यपि इस अध्ययन का प्रारम्भ भी पिछले अध्ययनों की ही भांति 'हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि भगवान् ने यों कहा है' इससे होता है तथापि यह अध्ययन संवादरूप है। इसमें एक पूर्वपक्षी अथवा प्रेरक शिष्य है और दूसरा उत्तरपक्षी अथवा समाधानकर्ता आचार्य है। इस अध्ययन का सार यह है कि जो आत्मा षट्काय के जीवों के वध के त्याग की वृत्तिवाली नहीं है तथा जिसने उन जीवों को किसी भी समय मार देने की छूट ले रखी है वह आत्मा इन छहों प्रकार के जीवों के साथ अनिवार्यतया मित्रवत् व्यवहार करने की वृत्ति से बंधा हुआ नहीं है। वह जब चाहे, जिस किसी का वध कर सकता है। उसके लिए पापकर्म के बन्धन की निरन्तर संभावना रहती है और किसी सीमा तक वह नित्य पापकर्म बांधता भी रहता है क्योंकि प्रत्याख्यान के अभाव में उसकी भावना सदा सावद्यानुष्ठानरूप रहती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है। एक व्यक्ति वधक है—वध करने वाला है। उसने यह सोचा कि अमुक गृहस्थ, गृहस्थपुत्र, राजा अथवा राजपुरुष की हत्या करनी है। अभी थोड़ी देर सो जाऊं और फिर उसके घर में घुस कर मौका पाते ही उसका काम

---

१ देखिये—अभिधर्मकोश, तृतीय कोशस्थान, श्लो० ३८-४४

तमाम कर दूगा । ऐसा सोचने वाला सोया हुआ हो अथवा जगता हुआ, चलता हुआ हो अथवा बैठा हुआ, निरन्तर उसके मन में हत्या की भावना बनी ही रहती है । वह किसी भी समय अपनी हत्या की भावना को क्रियारूप में परिणत कर सकता है । अपनी इस दुष्ट मनोवृत्ति के कारण वह प्रतिक्षण कर्मबन्ध करता रहता है । इसी प्रकार जो जीव सर्वथा सयमहीन हैं, प्रत्याख्यान रहित हैं वे समस्त षड्जीवनिकाय के प्रति हिंसक भावना रखने के कारण निरन्तर कर्मबन्ध करते रहते हैं । अतएव सयमी के लिए सावद्ययोग का प्रत्याख्यान आवश्यक है । जितने अश में सावद्यवृत्ति का त्याग किया जाता है उतने ही अश में पापकर्म का बन्धन रुकता है । यही प्रत्याख्यान की उपयोगिता है । असयत एव अविरत के लिए अमर्यादित मनोवृत्ति के कारण पाप के समस्त द्वार खुले रहते हैं अत उसके लिए सर्वप्रकार के पापबधन की सभावना रहती है । इस सभावना को अल्प अथवा मर्यादित करने के लिए प्रत्याख्यानरूप क्रिया की आवश्यकता है ।

प्रस्तुत अध्ययन की वृत्ति में वृत्तिकार ने नागार्जुनीय वाचना का पाठान्तर दिया है । यह पाठान्तर माथुरी वाचना के मूल पाठ की अपेक्षा अधिक विशद एव सुबोध है ।

आचारश्रुत

पाँचवें अध्ययन के दो नाम हैं आचारश्रुत व अनगारश्रुत । निर्युक्तिकार ने इन दोनो नामो का उल्लेख किया है । यह सम्पूर्ण अध्ययन पद्यमय है । इसमें ३३ गाथाए हैं । निर्युक्तिकार के कथनानुसार इस अध्ययन का सार 'अनाचारो का त्याग करना' है । जब तक साधक को आचार का पूरा ज्ञान नही होता तब तक वह उसका सम्यक्तया पालन नही कर सकता । अबहुश्रुत साधक को आचार-अनाचार के भेद का पता कैसे लग सकता है ? इस प्रकार के मुमुक्षु द्वारा आचार की विराधना होने की बहुत सभावना रहती है । अत आचार की सम्यगाराधना के लिए साधक को बहुश्रुत होना आवश्यक है ।

प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम ग्यारह गाथाओ में अमुक प्रकार के एकान्तवाद को अनाचरणीय बताते हुए उसका निषेध किया गया है । आगे लोक नही है, अलोक नही है, जीव नही है, अजीव नही है, धर्म नही है, अधर्म नही है, बंध नही है, मोक्ष नही है, पुण्य नही है, पाप नही है, आस्रव नही है, सवर नही है, वेदना नही है, निर्जरा नही है, क्रिया नही है, अक्रिया नही है, क्रोध-मान-माया-लोभ राग-द्वेष ससार-देव-देवी-सिद्धि-असिद्धि नही है, साधु-असाधु-कल्याण-अकल्याण नही है—इत्यादि मान्यताओ को अनाचरणीय बताते हुए लोकादि के अस्तित्व पर श्रद्धा रखने एव तदनुरूप आचरण करने के लिए कहा गया है ।

अन्तिम कुछ गाथाओ में अनगार को अमुक प्रकार की भाषा न बोलने का उपदेश दिया गया है।

आर्द्रकुमार

आर्द्रकीय नामक छठा अध्ययन भी पूरा पद्यमय है। इसमें कुल ५५ गाथाएं हैं। अध्ययन के प्रारम्भ में ही 'पुराकडं अद्द! इमं सुणेह' अर्थात 'हे आर्द्र! तू इस पूर्वकृत को सुन' इस प्रकार आर्द्र को सबोधित किया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि इस अध्ययन में चर्चित वाद विवाद का सम्बन्ध 'आर्द्र' के साथ है। नियुक्तिकार ने इस आर्द्र को आर्द्रनामक नगर का राजकुमार बताया है। यह राजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार का मित्र था। अनुश्रुति यह है कि आर्द्रपुर अनार्यदेश में था। कुछ लोगों ने सो 'अद्द-आर्द्र' शब्द की तुलना 'अेडन' के साथ भी की है। आर्द्रपुर के राजा और मगधराज श्रेणिक के बीच स्नेहसम्बन्ध था। इसलिए अभयकुमार से भी आर्द्रकुमार का परिचय हुआ। नियुक्तिकार ने लिखा है कि अभयकुमार ने अपने मित्र आर्द्रकुमार के लिए जिन भगवान् की प्रतिमा भेंट भेजी थी। इससे उसे बोध हुआ और वह अभयकुमार से मिलने के लिए उत्सुक हुआ। पूर्वजन्म का ज्ञान होने के कारण आर्द्रकुमार का मन कामभोगो से विरक्त हो गया और उसने अपने देश से भागकर स्वयमेव प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। सयोगवशात् उसे एक बार साधुवेश छोडकर गृहस्थधर्म में प्रविष्ट होना पडा। पुन साधुवेश स्वीकार कर वह जहाँ भगवान् महावीर उपदेश दे रहे थे, वहाँ जाने के लिए निकला। मार्ग में उसे गोशालक के अनुयायी भिक्षु, बौद्धभिक्षु, ब्रह्मव्रती (त्रिदण्डी), हस्तितापस आदि मिले। आर्द्रकुमार व इन भिक्षुओ के बीच जो वाद-विवाद हुआ वही प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित है।

इस अध्ययन की प्रारभिक पचीस गाथाओ में आर्द्रकुमार का गोशालक के भिक्षुओ के साथ वाद-विवाद है। इसमें इन भिक्षुओ ने भगवान् महावीर की बुराई की है और बताया है कि यह महावीर पहले तो त्यागी था, एकान्त में रहता था, प्राय मौन रखता था किन्तु अब आराम में रहता है, सभा में बैठता है, मौन का सेवन नही करता। इस प्रकार के और भी आक्षेप इन भिक्षुओ ने भगवान् महावीर पर लगाये है। आर्द्रमुनि ने इन तमाम आक्षेपो का उत्तर दिया है। इस वाद-विवाद के मूल में कही भी गोशालक का नाम नही है। नियुक्तिकार एव वृत्तिकार ने इसका सम्बन्ध गोशालक के साथ जोडा है। इस वाद-विवाद को पढ़ने से यह मालूम पडता है कि पूर्वपक्षी महावीर का पूरी तरह से परिचित व्यक्ति होना चाहिए। यह व्यक्ति गोशालक के सिवाय दूसरा कोई

नही हो सकता। इसीलिए इस वाद-विवाद का सम्बन्ध गोशालक के अनुयायी भिक्षुओ के साथ जोडा गया है जो उचित ही है। आगे बौद्धभिक्षुओ के साथ वाद विवाद है। इसमें तो बुद्ध शब्द ही आया है। साथ ही बौद्धपरिभाषा के पदों का प्रयोग भी हुआ है। यह वाद-विवाद बयालीसवी गाथा तक है। इसके बाद ब्रह्मव्रती (त्रिदण्डी) का वाद-विवाद आता है। यह इकावनवी गाथा तक है अन्तिम चार गाथाओ में हस्तितापस का वाद विवाद है। ब्रह्मव्रती को निर्युक्तिकार ने त्रिदण्डी कहा है जब कि वृत्तिकार ने एकदण्डी भी कहा है। त्रिदण्डी हो अथवा एकदण्डी सभी ब्रह्मव्रती वेदवादी है। इन्होने आर्हतमत को वेदबाह्य होने के कारण अग्राह्य माना है। हस्तितापस सम्प्रदाय का समावेश प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत कुशील नामक सातवे अध्ययन में वर्णित असयमियो में होता है। इस सम्प्रदाय के मतानुसार प्रतिदिन खाने के लिए अनेक जीवों की हिंसा करने के बजाय एक बडे हाथी को मारकर उसे पूरे वर्ष तक खाना अच्छा है। ये तापस इसी प्रकार अपना जीवन-निर्वाह करते थे अत इनका 'हस्तितापस' नाम प्रसिद्ध हुआ।

नालदा

सातवें अध्ययन का नाम नालदीय है। यह सूत्रकृताग का अन्तिम अध्ययन है। राजगृह के बाहर उत्तर-पूर्व अर्थात् ईशानकोण में स्थित नालदा की प्रसिद्धि जितनी जैन आगमो में है उतनी ही बौद्ध पिटको में भी है। निर्युक्तिकार ने 'नालदा' पद का अर्थ बताते हुए कहा है कि न + अल + दा इस प्रकार तीन शब्दों से बनने वाला नालदा नाम स्त्रीलिंग का है। दा अर्थात् देना—दान देना, न अर्थात नही और अल अर्थात् बस। इन तीनो अर्थों का सयोग करने पर जो अर्थ निकलता है वह यह है कि जहाँ पर दान देने की बात पर किसी की ओर से बस नही है—ना नही है अर्थात जिस जगह दान देने के लिए कोई मना नही करता उस जगह का नाम नालदा है। लेने वाला चाहे श्रमण हो अथवा ब्राह्मण, आजीवक हो अथवा परिव्राजक सबके लिए यहाँ दान सुलभ है। किसी के लिए किसी की मनाही नही है। कहा जाता है कि राजा श्रेणिक तथा अन्य बडे-बडे सामत सेठ आदि नरेन्द्र यहाँ रहते थे अत इसका नाम 'नारेन्द्र' प्रसिद्ध हुआ। मागधी उच्चारण की प्रक्रिया के अनुसार 'नारेन्द्र' का 'नालेन्द्र' और बाद में ह्रस्व होने पर नालिंद तथा 'इ' का 'अ' होने पर नालद होना स्वाभाविक है। नालदा की यह व्युत्पत्ति विशेष उपयुक्त मालूम होती है।

उदक पेढालपुत्त

नालदा में लेव नामक एक उदार एव विश्वासपात्र गृहस्थ रहता था। वह जैनपरम्परा एव जैनधर्म का असाधारण श्रद्धालु था। उसके परिचय के लिए सूत्र

में अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। वह जैन श्रमणोपासक होने के कारण जैन-तत्त्वज्ञान से पूर्ण परिचित था एवं तद्विषयक सारी बात निश्चिततया समझता था। उसका द्वार दान के लिए हमेशा खुला रहता था। उसे राजा के अन्तःपुर में भी आने-जाने की छूट थी अर्थात् वह इतना विश्वासपात्र था कि राजभंडार में तो क्या रानियों के निवास-स्थान में भी उसका प्रवेश अनुमत था।

नालन्दा के ईशानकोण में लेपद्वारा निर्मापित सेसदविया—शेषद्रव्या नामक एक विशाल उदकशाला—प्याऊ थी। शेषद्रव्या का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि लेप ने जब अपने रहने के लिए मकान बनवाया तब उसमें से बची हुई सामग्री (शेषद्रव्य) द्वारा इस उदकशाला का निर्माण करवाया। अतएव इसका नाम शेषद्रव्या रखा। इस उदकशाला के ईशानकोण में हत्थिजाम—हस्तियाम नाम का एक वनखण्ड था। वह वनखण्ड बहुत ठंडा था। इस वन-खण्ड में एक समय गौतम इन्द्रभूति ठहरे हुए थे। उस समय मेयज्जगोत्रीय पेढालपुत्त उदय नामक एक पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ गौतम के पास आया और बोला—हे आयुष्मान् गौतम! मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। आप उसका यथाश्रुत एवं यथादर्शित उत्तर दीजिए। गौतम ने कहा—हे आयुष्मन्! प्रश्न सुनने व समझने के बाद तद्विषयक चर्चा करूँगा। उदय निर्ग्रन्थ ने पूछा—हे आयुष्मान् गौतम! आपके प्रवचन का उपदेश देने वाले कुमारपुत्तिय—कुमारपुत्र नामक श्रमण निर्ग्रन्थ श्रावक को जब प्रत्याख्यान—त्याग करवाते हैं तब यों कहते हैं कि अभियोग[1] को छोड़कर गृहपतिचोरविमोक्षणन्याय[2] के अनुसार तुम्हारे त्रस-

---

१ अभियोग अर्थात् राजा की आज्ञा, गण की आज्ञा—गणतन्त्रात्मक राज्य की आज्ञा, बलवान् की आज्ञा, माता-पिता आदि की आज्ञा तथा आजीविका का भय। इन परिस्थितियों की अनुपस्थिति में त्रस प्राणियों की हिंसा का त्याग करना।

२ गृहपतिचोरविमोक्षणन्याय इस प्रकार है :—किसी गृहस्थ के छः पुत्र थे। वे छहों किसी अपराध में फंस गये। राजा ने उन छहों को फांसी का दण्ड दिया। यह जानकर वह गृहस्थ राजा के पास आया और निवेदन करने लगा—महाराज! यदि मेरे छहों पुत्रों को फांसी होगी तो मैं अपुत्र हो जाऊँगा। मेरा वंश आगे कैसे चलेगा? मेरे वंश का समूल नाश हो जायगा। कृपया पांच को छोड़ दीजिये। राजा ने उसकी यह बात नहीं मानी। तब उसने चार को छोड़ने की बात कही। जब राजा ने यह भी स्वीकार नहीं किया तब उसने क्रमशः तीन, दो और अन्त में एक पुत्र को

प्राणियों की हिंसा का त्याग है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। इससे प्रत्याख्यान करने वाला व प्रत्याख्यान करने वाला दोनों दोष के भागी होते हैं। वह कैसे ? संसार में जन्म धारण करने वाले प्राणी स्थावररूप से भी जन्म ग्रहण करते हैं और त्रसरूप से भी। जो स्थावररूप से जन्म लेते हैं वे ही त्रसरूप से भी जन्म लेते हैं तथा जो त्रसरूप से जन्म लेते हैं वे ही स्थावररूप से भी जन्म लेते हैं अत स्थावर और त्रस प्राणियों की समझ में बहुत उलझन होती है। कौन-सा प्राणी स्थावर है और कौन-सा त्रस, इसका निपटारा अथवा निश्चय नहीं हो सकता। अत त्रस प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान व उसका पालन कैसे सम्भव है ? ऐसी स्थिति में केवल त्रस प्राणी की हिंसा का प्रत्याख्यान करवाने के बजाय त्रसभूत प्राणी की अर्थात् जो वर्तमान में त्रसरूप है उसकी हिंसा का प्रत्याख्यान करवाना चाहिए। इस प्रकार प्रत्याख्यान में 'त्रस' के बजाय 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त होगा। इससे न प्रत्याख्यान देने वाले को कोई दोष लगेगा, न लेने वाले का। उदय पेढालपुत्त की इस शका का समाधान करते हुए गौतम इन्द्रभूति मुनि ने कहा कि हमारा मत 'त्रस' के बजाय 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग करने का समर्थन इसलिए नहीं करता कि आप लोग जिसे 'त्रसभूत' कहते हैं उसी अर्थ में हम लोग 'त्रस' शब्द का प्रयोग करते हैं। जिस जीव के त्रस नामकर्म तथा त्रस आयुष्यकर्म का उदय हो उसी को त्रस कहते हैं। इस प्रकार के उदय का सम्बन्ध वर्तमान से ही है, न कि भूत अथवा भविष्य से।

उदय पेढालपुत्त ने गौतम इन्द्रभूति से दूसरा प्रश्न यह पूछा है कि मान लीजिये इस ससार में जितने भी त्रसजीव हैं सबके सब स्थावर हो जायँ अथवा जितने भी स्थावर जीव हैं सबके सब त्रस हो जाय तो आप जो प्रत्याख्यान करवाते हैं वह क्या व्यर्थ नही हो जायगा ? सब जीवो के स्थावर हो जाने पर त्रस की हिंसा का कोई प्रश्न ही नही रहता। इसी प्रकार सब लोगों के त्रस हो जाने पर त्रस की हिंसा का त्याग कैसे सम्भव हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए गौतम ने कहा है कि सब स्थावरो का त्रस हो जाना अथवा सब त्रसों का स्थावर हो जाना असम्भव है। ऐसा न कभी हुआ है, न होता है और न होगा। इस तथ्य को समझाने के लिए सूत्रकार ने अनेक उदाहरण दिए हैं। प्रस्तुत अध्ययन में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध मे इसी प्रकार की चर्चा है। इनमें कुछ शब्द एव

छोड देने की विनती की। राजा ने उनमें से एक को छोड दिया। इसी न्याय से छ कायो में से स्थूल प्राणातिपात का त्याग किया जाता है अर्थात् त्रस प्राणियों की हिंसा न करने का नियम स्वीकार किया जाता है।

वाक्य ऐसे हैं जो पूरी तरह से समझ में नहीं आते। वृत्तिकार ने तो अपनी पारम्परिक अनुश्रुति के अनुसार उनका अर्थ कर दिया है किन्तु मूल शब्दों का जरा गहराई से विचार करने पर मन को पूरा सन्तोष नहीं होता। इस अध्ययन में पार्श्वापत्यीय उदय पेढालपुत्त एवं भगवान् महावीर के मुख्य गणधर गौतम इन्द्रभूति के बीच जो वाद-विवाद अथवा चर्चा हुई है उनकी पद्धति को दृष्टि में रखते हुए यह मानना अनुपयुक्त न होगा कि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा वाले भगवान् महावीर की परम्परा को अपने से भिन्न परम्परा के रूप में ही मानते थे, भले ही बाद में पार्श्वनाथ की परम्परा महावीर की परम्परा में मिल गई। इस अध्ययन में एक जगह स्पष्ट लिखा है कि जब गौतम उदय पेढालपुत्त को मैत्री एवं विनयप्रतिपत्ति के लिए समझाने लगे तो उदय ने गौतम के इस कथन का अनादर कर अपने स्थान पर लौट जाने का विचार किया। तएण से उदए पेढालपुत्ते भगव गोयम अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए।



पञ्चम प्रकरण

स्थानांग व समवायांग

गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद द्वारा सचालित पूजाभाई जैन ग्रन्यमाला के २३वें पुष्प के रूप में स्थानाग[1] तथा समवायाग का प० दलसुख मालवणियाकृत जो सुन्दर, सुबोध एव सुस्पष्ट अनुवाद, प्रस्तावना व तुलनात्मक टिप्पणियो के साथ प्रकाशन हुआ है उससे इन दोनो अगग्रन्थो का परिचय प्राप्त हो जाता है। अत इन ग्रन्थो के विषय में यहाँ विशेष लिखना अनावश्यक है। फिर भी इनके सम्बन्ध में थोडा प्रकाश डालना अनुपयुक्त न होगा।

अगसूत्रों मे विशेषत उपदेशात्मक एव आत्मार्थी मुमुक्षुओ के लिए विध्यात्मक

---

१ (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-१९२०, माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद, सन् १९३७

(आ) आगमसग्रह, बनारस, सन् १८८०

(इ) अभयदेवकृत वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—अष्टकोटि बृहद्पक्षीय सघ मुद्रा (कच्छ), वि स १९९९

(ई) गुजराती अनुवादसहित—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९३१

(उ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी स २४४६

(ऊ) गुजराती रूपान्तर—दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, सन् १९५५

२ (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९१९, मफतलाल झवेरचन्द्र, अहमदाबाद, सन् १९३८

(आ) आगमसग्रह, बनारस, सन् १८८०

(इ) अभयदेवकृत वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जेठालाल हरिभाई, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० स० १९९५

(ई) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० स० २४४६

(उ) गुजराती रूपान्तर—दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदावाद सन् १९५५

(ऊ) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६२

व निषेधात्मक वचन उपलब्ध हैं। कुछ सूत्रों में इस प्रकार के वचन सीधे रूप में हैं तो कुछ में कथाओं, संवादों एवं रूपकों के रूप में। स्थानांग व समवायांग में ऐसे वचनों का विशेष अभाव है। इन दोनों सूत्रों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये संग्रहात्मक कोश के रूप में निर्मित किये गये हैं। अन्य अंगों की अपेक्षा इनके नाम एवं विषय सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। इन अंगों की विषय-निरूपणशैली से ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि अन्य सब अंग पूर्णतया बन गये होंगे तब स्मृति अथवा धारणा की सरलता की दृष्टि से अथवा विषयों की खोज की सुगमता की दृष्टि से पीछे से इन दोनों अंगों की योजना की गई होगी तथा इन्हें विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करने के हेतु इनका अंगों में समावेश कर दिया गया होगा।

इन अंगों की उपलब्ध सामग्री व शैली को देख कर वृत्तिकार अभयदेवसूरि के मन में जो भावना उत्पन्न हुई उसका थोड़ा सा परिचय प्राप्त करना अनुपयुक्त न होगा। वे लिखते हैं :

सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगत ।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥१॥

वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धतः ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यात् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥

—स्थानांगवृत्ति के अन्त में प्रशस्ति.

यस्य ग्रन्थवरस्य वाक्यजलधेर्लक्षं सहस्राणि च,
चत्वारिंशदहो चतुर्भिरधिका मानं पदानामभूत् ।
तस्योच्चैश्चुलुकाकृतिं निदधतः कालादिदोषात् तथा,
दुर्लेखात् खिलतां गतस्य कुधियः कुर्वन्तु किं मादृशाः ॥१॥
रगुरुविरहात् वाऽतीतकाले मुनीशैर्गणधरवचनानां श्रस्तसंघातनात् वा ।

× × ×

सभाव्योऽस्मिस्तथापि क्वचिदपि मनसो मोहतोऽर्थादिभेद ॥५॥

—समवायांगवृत्ति के अन्त में प्रशस्ति

अर्थात् ग्रंथ को समझने की परम्परा का अभाव है, अच्छे तर्क का वियोग है, व स्वपर शास्त्र देखे न जा सके और न उनका स्मरण ही हो सका, वाचनाएँ अनेक

निवासी वासिष्ठगोत्रीय इसिगुत्त से माणवगण एव वग्घावच्चगोत्रीय सुस्थित व सुप्रतिबद्ध से कोडिय नामक गण निकला।

उपर्युक्त उल्लेख में कामड्ढित गण की उत्पत्ति का कोई निर्देश नही है। सभव है आर्य सुहस्ती के शिष्य कामड्ढि स्थविर से ही यह भी निकला हो। कल्पसूत्र की स्थविरावली में कामड्ढितगणविषयक उल्लेख नही है किन्तु कामड्ढित कुलसम्बन्धी उल्लेख अवश्य है। यह कामड्ढित कुल उस वेसवाडिय-विस्सवातित गण का ही एक कुल है जिसकी उत्पत्ति कामड्ढि स्थविर से बतलाई गई है। उपर्युक्त सभी गण भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष के बाद के काल के हैं। बाद के कुछ गण महावीर-निर्वाण के पाँच सौ वर्ष के बाद के भी हो सकते हैं।

स्थानाग में जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल इन सात निह्नवो का भी उल्लेख आता है। इनमें से प्रथम दो के अतिरिक्त सब निह्नवों की उत्पत्ति भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के समय में हुई है। अतएव यह मानना अधिक उपयुक्त है कि इस सूत्र की अन्तिम योजना वीरनिर्वाण की छठी शताब्दी में होने वाले किसी गीतार्थ पुरुष ने अपने समय तक की घटनाओ को पूर्व परम्परा से चली आने वाली घटनाओ के साथ मिलाकर की है। यदि ऐसा न माना जाय तो यह तो मानना ही पडेगा कि भगवान् महावीर के बाद घटित होने वाली उक्त सभी घटनाओ को किसी गीतार्थ स्थविर ने इस सूत्र में पीछे से जोडा है।

इसी प्रकार समवायाग में भी ऐसी घटनाओ का उल्लेख है जो महावीर के निर्वाण के बाद में हुई हैं। उदाहरण के लिए १००वें सूत्र में इन्द्रभूति व सुधर्मा के निर्वाण का उल्लेख। इन दोनो का निर्वाण महावीर के बाद हुआ है। अत यह कथन कि यह सूत्र सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को कहा, अथवा सुधर्मास्वामी से जम्बूस्वामी ने सुना, किस अर्थ में व कहाँ तक ठीक है, विचारणीय है। ऐसी स्थिति में आगमों को ग्रथबद्ध करने वाले आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ही यदि इन दोनो अगों के अतिमरूप देनेवाले माने जायें तो भी कोई हर्ज नही।

शैली :

इन सूत्रों की शैली के विषय में सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्थानाग के प्रथम प्रकरण में एक-एक पदार्थ अथवा क्रिया आदि का निरूपण है, द्वितीय में दो-दो का, तृतीय में तीन-तीन का, यावत् अन्तिम प्रकरण में दस-दस पदार्थों अथवा क्रियाओ का वर्णन है। जिस प्रकरण में एकसख्यक वस्तु का विचार है उसका नाम एकस्थान अथवा प्रथमस्थान है। इसी प्रकार द्वितीयस्थान यावत् दशमस्थान के विषय में समझना चाहिए। इस प्रकार स्थानांग में दस स्थान,

अध्ययन अथवा प्रकरण हैं। जिस प्रकरण में निरूपणीय सामग्री अधिक है उसके उपविभाग भी किये गये हैं। द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ प्रकरण में ऐसे चार-चार उपविभाग हैं तथा पचम प्रकरण में तीन उपविभाग हैं। इन उपविभागों का पारिभाषिक नाम 'उद्देश' है।

समवायाग की शैली भी इसी प्रकार की है किन्तु उसमें दस से आगे की सख्या वाली वस्तुओ का भी निरूपण है अत उसकी प्रकरणसख्या स्थानाग की तरह निश्चित नही है अथवा यों समझना चाहिए कि उसमें स्थानाग की तरह कोई प्रकरणव्यवस्था नही की गई है। इसीलिए नदीसूत्र में समवायाग का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें एक ही अध्ययन है।

स्थानाग व समवायाग की कोशशैली बौद्धपरम्परा एव वैदिक परम्परा के ग्रन्थो में भी उपलब्ध होती है। बौद्धग्रन्थ अगुत्तरनिकाय, पुग्गलपञ्ञत्ति, महाव्युत्पत्ति एव धर्मसग्रह में इसी प्रकार की शैली में विचारणाओं का सग्रह किया गया है। वैदिक परम्परा के ग्रथ महाभारत के वनपर्व (अध्याय १३४) में भी इसी शैली में विचार सगृहीत किये गये हैं।

स्थानाग व समवायाग में सग्रहप्रधान कोशशैली होते हुए भी अनेक स्थानों पर इस शैली का सम्यक्तया पालन नही किया जा सका। इन स्थानो पर या तो शैली खडित हो गई है या विभाग करने में पूरी सावधानी नही रखी गई है। उदाहरण के लिए अनेक स्थानो पर व्यक्तियों के चरित्र आते हैं, पर्वतों का वर्णन आता है, महावीर और गौतम आदि के सवाद आते हैं। ये सब खडित शैली के सूचक है। स्थानाग के सू० २४४ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय चार प्रकार के हैं, सू० ४३१ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय पाँच प्रकार के हैं और सू० ४८४ में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय छ प्रकार के हैं। यह अन्तिम सूत्र तृणवनस्पतिकाय के भेदो का पूर्ण निरूपण करता है जबकि पहले के दोनो सूत्र इस विषय में अपूर्ण हैं। अन्तिम सूत्र की विद्यमानता में ये दोनों सूत्र व्यर्थ हैं। यह विभाजन की असावधानी का उदाहरण है।

समवायाग में एकसख्यक प्रथम सूत्र के अन्त में इस आशय का कथन है कि कुछ जीव एकभव में सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसके बाद द्विसख्यक सूत्र से लेकर तैंतीससख्यक सूत्र तक इस प्रकार का कथन है कि कुछ जीव दो भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे, कुछ जीव तीन भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे, यावत् कुछ जीव तैंतीस भव में सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसके बाद इस आशय का कथन बद हो जाता है। इससे क्या समझा जाय ? क्या कोई जीव चौंतीस भव अथवा इससे अधिक भव में सिद्धि प्राप्त नही करेगा ? इस प्रकार के सूत्र विभाजन की शैली को दोषयुक्त बनाते हैं एव अनेक प्रकार की विसगति उत्पन्न करते है।

विषय-सम्बद्धता :

सकलनात्मक स्थानाग-समवायाग में वस्तु का निरूपण सख्या की दृष्टि से किया गया है अतः उनके अभिधेयों—प्रतिपाद्य विषयों में परस्पर सम्बद्धता होना आवश्यक नही है। फिर भी वृत्तिकार ने खीचतान कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अमुक विषय के बाद अमुक विषय का कथन क्यों किया गया है ? उदाहरणार्थ पहले के सूत्र में जम्बूद्वीपनामक द्वीप का कथन आता है और बाद के सूत्र में भगवान् महावीरविषयक वर्णन। इन दोनों का सम्बन्ध बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि जम्बूद्वीप का यह प्ररूपण भगवान् महावीर ने किया है अत. जम्बूद्वीप के बाद महावीर का वर्णन असम्बद्ध नही है। पहले के सूत्र में महावीर का वणन आता है और बाद के सूत्र में अनुत्तरविमान में उत्पन्न होने वाले देवों का वर्णन। इन दोनो सूत्रों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि भगवान् महावीर निर्वाण प्राप्त कर जिस स्थान पर रहते हैं वह स्थान और अनुत्तर विमान पास-पास ही है अत महावीर के निर्वाण के बाद अनुत्तर विमान का कथन सुसंबद्ध है। इस प्रकार वृत्तिकार ने सब सूत्रों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध बैठाने का भारी प्रयास किया है। वास्तव में शब्दकोश के शब्दो की भाँति इन सूत्रो में परस्पर कोई अर्थसम्बन्ध नही है। सख्या की दृष्टि से जो कोई भी विषय सामने आया, सबका उस सख्यावाले सूत्र में समावेश कर दिया गया।

विषय-वैविध्य

स्थानाग व समवायाग दोनों में जैन प्रवचनसमत तथ्यों के साथ ही साथ लोकसमत बातो का भी निरूपण है। इनके कुछ नमूने ये हैं

स्थानाग, सू० ७१ में श्रुतज्ञान के दो भेद बताये गये हैं · अगप्रविष्ट और अगबाह्य। अगबाह्य के पुन दो भेद हैं आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यकव्यतिरिक्त फिर दो प्रकार का है कालिक और उत्कालिक। यहाँ उपाग नामक भेद का कोई उल्लेख नही है। इससे सिद्ध होता है कि यह भेद विशेष प्राचीन नही है। इसी सूत्र में अन्यत्र केवलज्ञान के अवस्था, काल आदि की दृष्टि से अनेक भेद-प्रभेद किये गये है। सर्वप्रथम केवलज्ञान के दो भेद बताये गये हैं भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। भवस्थकेवलज्ञान दो प्रकार का है सयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अयोगिभवस्थकेवलज्ञान। सयोगिभवस्थकेवलज्ञान पुन दो प्रकार का है प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अप्रथमसमयसयोगि-भवस्थकेवलज्ञान अथवा चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अचरमसमयसयोगि-भवस्थकेवलज्ञान। इसी प्रकार अयोगिभवस्थकेवलज्ञान के भी दो-दो भेद समझने

चाहिए । सिद्धकेवलज्ञान भी दो प्रकार का है अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान व परम्पर-सिद्धकेवलज्ञान । इन दोनों के पुनः दो-दो भेद किये गये हैं ।

इसी अंग के सू० ७५ में बताया गया है कि जिन जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रियां होती हैं उनका शरीर अस्थि, मांस व रक्त से निर्मित होता है। इसी प्रकार जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियां अथवा स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं उनका शरीर भी अस्थि, मांस व रक्त से बना होता है। जिनके श्रोत्र सहित पांच इन्द्रियाँ होती हैं उनका शरीर अस्थि, मांस, रक्त, स्नायु व शिरा से निर्मित होता है। सूत्रकार के इस कथन की जाँच प्राणिविज्ञान के आधार पर की जा सकती है।

सू० ४४६ में रजोहरण के पाँच प्रकार बताये गये हैं १ ऊन का रजोहरण, २ ऊँट के बाल का रजोहरण, ३ सन का रजोहरण, ४ बल्वज (तृणविशेष) का रजोहरण, ५ मूंज का रजोहरण । वर्तमान में केवल प्रथम प्रकार का रजोहरण ही काम में लाया जाता है।

इसी सूत्र में निर्ग्रन्थों व निग्रन्थियों के लिए पांच प्रकार के वस्त्र के उपयोग का निर्देश किया गया है १ जांगमिक—ऊन का, २ भांगिक—अलसी का, ३ शाणक-सन का, ४ पोत्तिअ—सूत का, ५ तिरीडवट्ट—वृक्ष की छाल का। वृत्तिकार ने इन वस्त्रों का विशेष विवेचन किया है एवं बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए उत्सर्ग की दृष्टि से कपास व ऊन के ही वस्त्र ग्राह्य हैं और वे भी बहुमूल्य नहीं अपितु अल्पमूल्य । बहुमूल्य का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में प्रचलित-मुद्रा के अठारह रुपये से अधिक मूल्य का वस्त्र बहुमूल्य समझना चाहिए ।

प्रव्रज्या :

सू० ३५५ में प्रव्रज्या के विविध प्रकार बताये गये हैं जिन्हें देखने से प्राचीन समय के प्रव्रज्यादाताओं एवं प्रव्रज्याग्रहणकर्ताओं की परिस्थिति का कुछ पता लग सकता है। इसमें प्रव्रज्या चार प्रकार की बताई गई है। १ इहलोकप्रतिबद्धा, २ परलोकप्रतिबद्धा, ३ उभयलोकप्रतिबद्धा, ४ अप्रतिबद्धा। १ केवल जीवन निर्वाह के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करना इहलोकप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। २ जन्मान्तर में कामादि सुखों की प्राप्ति के लिए प्रव्रज्या लेना परलोकप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ३ उक्त दोनों उद्देश्यों को ध्यान में रखकर प्रव्रज्या ग्रहण करना उभयलोकप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। ४ आत्मोन्नति के लिए प्रव्रज्या स्वीकार करना अप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। अन्य प्रकार से प्रव्रज्या के चार भेद ये

बतलाये गये हैं 1 पुरत. प्रतिबद्धा, 2 मागत प्रतिबद्धा, 3 उभयतः प्रतिबद्धा, 4 अप्रतिबद्धा। 1 शिष्य व आहारादि की प्राप्ति के उद्देश्य से ली जानेवाली प्रव्रज्या पुरत प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। 2 प्रव्रज्या लेने के बाद स्वजनों में विशेष प्रतिबद्ध होना अर्थात् स्वजनों के लिए भौतिक सामग्री प्राप्त करने की भावना रखना मार्गत प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। 3 उक्त दोनों प्रकार की प्रव्रज्याओं का सम्मिश्रित रूप उभयत प्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। 4. आत्मशुद्धि के लिए ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या अप्रतिबद्धा प्रव्रज्या है। प्रकारान्तर से प्रव्रज्या के चार भेद इस प्रकार बताये गये हैं 1 तुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् किसी को पीड़ा पहुँचाकर अथवा मन्त्रादि द्वारा प्रव्रज्या की ओर मोड़ना एव प्रव्रज्या देना। 2 पुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात किसी को भगाकर प्रव्रज्या देना। आर्यरक्षित को इसी प्रकार प्रव्रज्या दी गई थी। 3 बुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् अच्छी तरह सभाषण करके प्रव्रज्या की ओर झुकाव पैदा करना एव प्रव्रज्या देना अथवा मोयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात् किसी को मुक्त कर अथवा मुक्त करने का लोभ देकर अथवा मुक्त करवाकर प्रव्रज्या की ओर झुकाना एव प्रव्रज्या देना। 4 परिपुयावइत्ता प्रव्रज्या अर्थात किसी का भोजन सामग्री आदि का प्रलोभन देकर अर्थात उसमें भोजनादि की पर्याप्तता का आकर्षण उत्पन्न कर प्रव्रज्या देना।

सू० 712 में प्रव्रज्या के दस प्रकार बताये गये हैं 1 छदप्रव्रज्या, 2 रोषप्रव्रज्या, 3 परिद्युनप्रव्रज्या, 4, स्वप्नप्रव्रज्या, 5 प्रतिश्रुतप्रव्रज्या, 6. स्मारणिकाप्रव्रज्या, 7 रोगिणिकाप्रव्रज्या, 8. अनादृतप्रव्रज्या, 9 देवसंज्ञप्ति-प्रव्रज्या, 10 वत्सानुबंधिताप्रव्रज्या।

1 स्वेच्छापूर्वक ली जाने वाली प्रव्रज्या छन्दप्रव्रज्या है। 2 रोष के कारण ली जानेवाली प्रव्रज्या रोषप्रव्रज्या है। 3 दीनता अथवा दरिद्रता के कारण ग्रहण की जानेवाली प्रव्रज्या परिद्युम्नप्रव्रज्या है। 4 स्वप्न द्वारा सूचना प्राप्त होने पर ली जाने वाली प्रव्रज्या को स्वप्नप्रव्रज्या कहते हैं। 5. किसी प्रकार की प्रतिज्ञा अथवा वचन के कारण ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या का नाम प्रतिश्रुतप्रव्रज्या है। 6 किसी प्रकार की स्मृति के कारण ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या स्मारिकाप्रव्रज्या है। 7 रोगो के निमित्त से ली जाने वाली प्रव्रज्या रोगिणिकाप्रव्रज्या है। 8 अनादर के कारण ली जाने वाली प्रव्रज्या अनादृतप्रव्रज्या कहलाती है। 9 देव के प्रतिबोध द्वारा ली जाने वाला प्रव्रज्या का नाम देवसंज्ञप्तिप्रव्रज्या है। 10 पुत्र के प्रव्रजित होने के कारण माता-पिता द्वारा ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या को वत्सानुबंधिताप्रव्रज्या कहते है।

स्थविर :

सू० ७६१ में दस प्रकार के स्थविरो का उल्लेख है · १ ग्रामस्थविर, २ नगरस्थविर, ३ राष्ट्रस्थविर, ४ प्रशास्तास्थविर, ५ कुलस्थविर, ६ गणस्थविर, ७ सघस्थविर, ८. जातिस्थविर, ९ श्रुतस्थविर, १० पर्यायस्थविर।

ग्राम की व्यवस्था करने वाला अर्थात् जिसका कहना सारा गाँव माने वैसा शक्तिशाली व्यक्ति ग्रामस्थविर कहलाता है। इसी प्रकार नगरस्थविर एव राष्ट्रस्थविर की व्याख्या समझनी चाहिए। लोगो को धर्म में स्थिर रखने वाले धर्मोपदेशक प्रशास्तास्थविर कहलाते हैं। कुल, गण एव संघ की व्यवस्था करने वाले कुलस्थविर, गणस्थविर एव सघस्थविर कहलाते हैं। साठ अथवा साठ से अधिक वर्ष की आयु वाले वयोवृद्ध जातिस्थविर कहे जाते हैं। स्थानाग आदि श्रुत के धारक को श्रुतस्थविर कहते हैं। जिसका दीक्षा-पर्याय बीस वर्ष का हो गया हो वह पर्यायस्थविर कहलाता है। अन्तिम दो भेद जैन परिभाषा-सापेक्ष हैं। ये दस भेद प्राचीन काल की ग्राम, नगर, राष्ट्र, कुल, गण आदि की व्यवस्था के सूचक हैं।

लेखन-पद्धति :

समवायाग, सू० १८ में लेखन-पद्धति के अठारह प्रकार बताये गये हैं जो ब्राह्मी लिपि के अठारह भेद हैं। इन भेदों में ब्राह्मी को भी गिना गया है जिसके कारण भेदो की सख्या उन्नीस हो गई है। इन भेदों के नाम इस प्रकार हैं · १ ब्राह्मी, २ यावनी, ३ दोपोपकरिका, ४ खरोष्ट्रिका, ५ खरश्राविता, ६ पकारादिका, ७ उच्चत्तरिका, ८ अक्षरपृष्ठिका, ९ भोगवतिका, १० वैणयिका, ११ निह्नविका, १२ अकलिपि, १३ गणितलिपि, १४ गाधर्वलिपि, १५ भूतलिपि, १६ आदर्शलिपि, १६ माहेश्वरीलिपि, १८ द्राविडलिपि, १९ पुलिंदलिपि। वृत्तिकार ने इस सूत्र की टीका करते हुए लिखा है कि इन लिपियो के स्वरूप के विषय में किसी प्रकार का विवरण उपलब्ध नही हुआ अत यहाँ कुछ न लिखा गया एतत्स्वरूप न दृष्ट, इति न दर्शितम्।

वर्तमान मे उपलब्ध साधनो के आधार पर लिपियो के विषय में इतना कहा जा सकता है कि अशोक के शिलालेखो मे प्रयुक्त लिपि का नाम ब्राह्मीलिपि है। यावनीलिपि अर्थात् यवनो की लिपि। भारतीय लोगों से भिन्न लोगों की लिपि यावनीलिपि कहलाती है, यथा अरबी, फारसी आदि। खरोष्ठी लिपि दाहिनी ओर से प्रारम्भ कर बाईं ओर लिखी जाती है। इस लिपि का प्रचार गाधार

देश में था। इस लिपि में उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश में अशोक के एक-दो शिलालेख मिलते हैं। गधे के होठ को खरोष्ठ कहते हैं। कदाचित् इस लिपि के मोड का सम्बन्ध गधे के होठ के साथ हो और इसीलिए इसका नाम खरोष्ठी खरोष्ठिका अथवा खरोष्ट्रिका पड़ा हो। खरश्राविता अर्थात् सुनने में कठोर लगने वाली। संभवत: इस लिपि का उच्चारण कर्ण के लिए कठोर हो जिससे इसका नाम खरश्राविता प्रचलित हुआ हो। पकारादिका जिसका प्राकृत रूप पहाराइआ अथवा पआराइआ है, संभवत: पकार से प्रारंभ होती हो जिससे इसका यह नाम पड़ा हो। निह्नविका का अर्थ है सांकेतिक अथवा गुप्तलिपि। कदाचित् यह लिपि विशेष प्रकार के संकेतों से निर्मित हुई हो। अंकों से निर्मित लिपि का नाम अंकलिपि है। गणितशास्त्र सम्बन्धी संकेतों की लिपि को गणितलिपि कहते हैं। गांधर्वलिपि अर्थात् गंधर्वों की लिपि एवं भूतलिपि अर्थात् भूतों की लिपि। संभवत: गंधर्व जाति में काम में आने वाली लिपि का नाम गांधर्वलिपि एवं भूतजाति में अर्थात् भोट याने भोटिया लोगों में अथवा भूटान के लोगों में प्रचलित लिपि का नाम भूतलिपि पड़ा हो। कदाचित् पैशाची भाषा की लिपि भूतलिपि हो। आदर्शलिपि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हुआ है। माहेश्वरी की लिपि का नाम माहेश्वरीलिपि है। वर्तमान में माहेश्वरी नामक एक जाति है। उसके साथ इस लिपि का कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह अन्वेषणीय है। द्रविड़ों की लिपि का नाम द्राविडलिपि है। पुलिंदलिपि शायद भील लोगों की लिपि हो। शेष लिपियों के विषय में कोई विशेष बात मालूम नहीं हुई है। लिपिविषयक मूल पाठ की अशुद्धि के कारण भी एतद्विषयक विशेष कठिनाई सामने आती है। बौद्धग्रंथ ललितविस्तर में चौंसठ लिपियों के नाम बताये गये हैं। इन एवं इस प्रकार के अन्यत्र उल्लिखित नामों के साथ इस पाठ को मिलाकर शुद्ध कर लेना चाहिए।

समवायांग, सू. ४३ में ब्राह्मी लिपि में उपयोग में आने वाले अक्षरों की संख्या ४६ बताई है। वृत्तिकार ने इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि ये ४६ अक्षर अकार से लगाकर क्ष सहित हकार तक के होने चाहिए। इनमें ऋ, ॠ, ऌ, ॡ और ळ ये पाँच अक्षर नहीं गिनने चाहिए। यह ४६ की संख्या इस प्रकार है: ऋ, ॠ, ऌ और ॡ इन चारों स्वरों के अतिरिक्त अ से लगाकर अः तक के १२ स्वर, क से लगाकर म तक के २५ स्पर्शाक्षर, य, र, ल और व ये ४ अंतस्थ, श, ष, स और ह ये ४ उष्माक्षर, १क्ष = १२ + २५ + ४ + ४ + १ = ४६।

अनुपलब्ध शास्त्र :

स्थानांग व समवायांग में कुछ ऐसे जैनशास्त्रों के नाम भी मिलते हैं जो

वर्तमान में अनुपलब्ध है। इसी प्रकार इसमे अतकृद्दशा एव अनुत्तरौपपातिक नामक अगों के ऐसे प्रकरणो का भी उल्लेख है जो इन ग्रन्थो के उपलब्ध सस्करण में अनुपलब्ध हैं। मालूम होता है या तो नामो में कुछ परिवतन हो गया है या वाचना में अन्तर हुआ है।

गर्भधारण

स्थानाग, सू ४१६ में बताया गया है कि पुरुष के ससर्ग के बिना भी निम्नोक्त पाँच कारणो से स्त्री गर्भ धारण कर सकती है (१) जिस स्थान पर पुरुष का वीर्य पडा हो उस स्थान पर स्त्री इस ढग से बैठे कि उसकी योनि में वीर्य प्रविष्ट हो जाय (२) वीर्यससक्त वस्त्रादि द्वारा वीर्य के अणु स्त्री की योनि में प्रविष्ट हो जायें, (३) पुत्र की आकाक्षा से नारी स्वय वीर्याणुओं को अपनी योनि में रखे अथवा अन्य से रखवावे, (४) वीर्याणुयुक्त पानी पीये, (५) वीर्याणुयुक्त पानी में स्नान करे।

भूकम्प

स्थानाग सू १९८ में भूकम्प के तीन कारण बताये गये हैं (१) पृथ्वी के नीचे के घनवात के व्याकुल होने पर घनोदधि में तूफान आने पर, (२) किसी महासमर्थ महोरग देव[1] द्वारा अपना सामर्थ्य दिखाने के लिए पृथ्वी को चालित करने पर, (३) नागों एव सुपर्णों-गरुडो[2] में सग्राम होने पर।

नदियाँ

स्थानाग, सू ८८ मे भरतक्षेत्र में बहनेवाली दो महानदियो के नामों का उल्लेख है गगा और सिंधु। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि गगा नाम आर्यभाषाभाषियो के उच्चारण का है। इसका वास्तविक नाम तो 'खोंग' है। 'खोग' शब्द तिब्बती भाषा का है जिसका अर्थ होता है नदी। इस शब्द का भारतीय उच्चारण गगा है। यह शब्द अति लम्बे काल से अपने मूल अर्थ को छोड कर विशेष नदी के नाम के रूप में प्रचलित हो गया है। सू० ४१२ में गगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही—ये पाँच नदियाँ महार्णवरूप अर्थात समुद्र के समान कही गई हैं। इन्हें जैन श्रमणों व श्रमणियो को महीने में दो-तीन बार पार करने के लिए कहा गया है।

राजधानियाँ

स्थानाग सू० ७१८ में भरतक्षेत्र की निम्नोक्त दस राजधानियो के नाम गिनाये गये हैं चपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर,

---

१ एक प्रकार का व्यन्तर देव

२ भवनपति देवों की दो जातियाँ

कांपिल्य, मिथिला, कौशाम्बी और राजगृह। वृत्तिकार ने इनसे सम्बन्धित देशों के नाम इस प्रकार बताये हैं : अंग, शूरसेन, काशी, कुणाल, कोशल, कुरु, पांचाल, विदेह, वत्स और मगध। वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि श्रमण-श्रमणियों को ऐसी राजधानियों में उत्सर्ग के तौर पर अर्थात् सामान्यतया महीने में दो-तीन बार अथवा इससे अधिक प्रवेश नहीं करना चाहिए क्योंकि वहाँ यौवनसम्पन्न रमणीय वारांगनाओं एवं अन्य मोहक तथा कामनोत्तेजक सामग्री के दर्शन से अनेक प्रकार के दूषणों की संभावना रहती है। वृत्तिकार ने यह एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात लिखी है जिसकी ओर वर्तमानकालीन श्रमणसंघ का ध्यान आकृष्ट होना अत्यावश्यक है। राजधानियाँ तो अनेक हैं किन्तु यहाँ दस की विवक्षा के कारण दस ही नाम गिनाये गये हैं।

वृष्टि

इसी अंग के सू० १७६ में अल्पवृष्टि एवं महावृष्टि के तीन-तीन कारण बतलाये गये हैं : १. जिस देश अथवा प्रदेश में जलयोनि के जीव अथवा पुद्गल अल्प मात्रा में हों वहाँ अल्पवृष्टि होती है। २. जिस देश अथवा प्रदेश में देव, नाग, यक्ष, भूत आदि की सम्यग् आराधना न होती हो वहाँ अल्पवृष्टि होती है। ३. जहाँ से जलयोनि के पुद्गलों अर्थात् बादलों को वायु अन्यत्र खींच ले जाता है अथवा बिखेर देता है वहाँ अल्पवृष्टि होती है। इनसे ठीक विपरीत तीन कारणों से बहुवृष्टि अथवा महावृष्टि होती है। यहाँ बताये गये देव, नाग, यक्ष, भूत आदि की आराधना रूप कारण का वृष्टि के साथ क्या कार्यकारण सम्बन्ध है, यह समझ में नहीं आता। सम्भव है, इसका सम्बन्ध वैदिक परम्परा की उस मान्यता से हो जिसमें यज्ञ द्वारा देवों को प्रसन्न कर उनके द्वारा मेघों का प्रादुर्भाव माना जाता है।

इस प्रकार इन दोनों अंगों में अनेक विषयों का परिचय प्राप्त होता है। वृत्तिकार ने अति परिश्रमपूर्वक इन पर विवेचन लिखा है। इससे सूत्रों को समझने में बहुत सहायता मिलती है। यदि यह वृत्ति न होती तो इन अंगों को सम्पूर्णतया समझना अशक्य नहीं तो भी दुःशक्य तो अवश्य होता। इस दृष्टि से वृत्तिकार की बहुश्रुतता, प्रवचनभक्ति एवं अन्य परम्परा के ग्रन्थों का उपयोग की वृत्ति विशेष प्रशंसनीय है।



षष्ठ प्रकरण

व्याख्याप्रज्ञप्ति

पाँचवें अंग का नाम वियाहपण्णत्ति—व्याख्याप्रज्ञप्ति[1] है। अन्य अगों की अपेक्षा अधिक विशाल एव इसीलिए अधिक पूज्य होने के कारण इसका दूसरा नाम भगवती भी प्रसिद्ध है। विद्यमान व्याख्याप्रज्ञप्ति का ग्रथाग्र १५००० श्लोक-प्रमाण है। इसका प्राकृत नाम वियाहपण्णत्ति है किन्तु लेखको—प्रतिलिपिकारो की असावधानी के कारण कही-कही विवाहपण्णत्ति तथा विवाहपण्णत्ति पाठ भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार वियाहपण्णत्ति, विवाहपण्णत्ति एव विबाहपण्णत्ति इन तीन पाठो में वियाहपण्णत्ति पाठ ही प्रामाणिक एव प्रतिष्ठित है। जहाँ कहीं यह नाम सस्कृत में आया है, सवत्र व्याख्याप्रज्ञप्ति शब्द का ही प्रयोग हुआ है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने इन तीनो पाठो में से वियाहपण्णत्ति पाठ की व्याख्या

---

१ (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई सन् १९१८-१९२१, धनपतसिंह बनारस, सन् १८८२, ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वे० सस्था, रतलाम, सन् १९३७-१९४० (१४ शतक तक)

(आ) १५ वें शतक का अग्रेजी अनुवाद—Hoernle, Appendix to उपासकदशा, Bibliotheca Indica, Calcutta, 1885-1888.

(इ) षष्ठ शतक तक अभयदेवकृत वृत्ति व उसके गुजराती अनुवाद के साथ—बेचरदास दोशी, जिनागम प्रकाशक सभा, बम्बई, वि, स १९७४-१९७९, शतक ७-१५ मूल व गुजराती अनुवाद—भगवानदास दोशी, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, वि स १९८५, शतक १६-४१ मूल व गुजराती अनुवाद—भगवान दास दोशी, जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद, वि स १९८८

(ई) भगवतीसार गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९३८

(उ) हिन्दी विषयानुवाद (शतक १-२०)—मदनकुमार मेहता, श्रुत-प्रकाशन-मन्दिर, कलकत्ता, वि स २०११

(ऊ) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६१

(ऋ) हिन्दी अनुवाद के साथ—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वि स २४४६

सर्वप्रथम करके इस पाठ को विशेष महत्त्व दिया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति शब्द की व्याख्या वृत्तिकार ने अनेक प्रकार से की है

१. वि + आ + ख्या + प्र + ज्ञप्ति अर्थात् विविध प्रकार से समग्रतया कथन का प्रकृष्ट निरूपण। जिस ग्रन्थ में कथन का विविध ढग से सम्पूर्णतया प्रकृष्ट निरूपण किया गया हो वह ग्रन्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाता है वि विविधाः, आ अभिविधिना, ख्या. ख्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादिविनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्या ता प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्।

२ वि + आख्या + प्रज्ञप्ति अर्थात् विविधतया कथन का प्रज्ञापन। जिस शास्त्र में विविध रूप से कथन का प्रतिपादन किया गया हो उसका नाम है व्याख्याप्रज्ञप्ति। वृत्तिकार ने इस व्याख्या को यो बताया है वि विविधतया विशेषेण वा आख्यायन्ते इति व्याख्या ता प्रज्ञाप्यन्ते यस्याम्।

३ व्याख्या + प्रज्ञा + आप्ति अथवा आत्ति अर्थात् व्याख्यान की कुशलता से प्राप्त होने वाला अथवा ग्रहण किया जाने वाला श्रुतविशेष व्याख्याप्रज्ञाप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञात्ति कहलाता है।

४ व्याख्याप्रज्ञ + आप्ति अथवा आत्ति अर्थात् व्याख्यान करने में प्रज्ञ अर्थात् कुशल भगवान् से गणधर को जिस ग्रथ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो अथवा कुछ ग्रहण करने का अवसर मिले उसका नाम व्याख्याप्रज्ञाप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञात्ति है।

विवाहप्रज्ञप्ति की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है वि + वाह + प्रज्ञप्ति अर्थात विविध प्रवाहों का प्रज्ञापन। जिस शास्त्र में विविध अथवा विशिष्ट अर्थप्रवाहों का निरूपण किया गया हो उसका नाम है विवाहप्रज्ञप्ति–विवाहपण्णत्ति।

इसी प्रकार विबाधप्रज्ञप्ति का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि वि अर्थात् रहित बाध अर्थात् बाधा एव प्रज्ञप्ति अर्थात् निरूपण याने जिस ग्रन्थ में बाधारहित अर्थात् प्रमाण से अबाधित निरूपण उपलब्ध हो उसका नाम विबाध-प्रज्ञप्ति—विवाहपण्णत्ति है। इन शब्दों में भी आप्ति एव आत्ति जोडकर पूर्ववत् अर्थ समझ लेना चाहिए।

उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति में जो शैली विद्यमान है वह गौतम के प्रश्नों एव भगवान् महावीर के उत्तरो के रूप में है। यह शैली अति प्राचीन प्रतीत होती है। अचेलक परम्परा के ग्रथ राजवार्तिक में भट्ट अकलक ने व्याख्याप्रज्ञप्ति में इस प्रकार की शैली होने का स्पष्ट उल्लेख किया है - एव हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम् इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम् (अ० ४, सू० २६, पृ० २४५)।

इस अग के प्रकरणों को 'सय'—'शत' नाम दिया गया है। जैन परम्परा में 'शतक' शब्द प्रसिद्ध ही है। यह 'शत' का ही रूप है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में 'सय समत्त' ऐसा पाठ मिलता है। शत अथवा शतक में उद्देशक रूप उपविभाग हैं। ऐसे उपविभाग कुछ शतकों में दस-दस हैं और कुछ में इससे भी अधिक हैं। इकतालीसवें शतक में १९६ उद्देशक हैं। कुछ शतकों में उद्देशको के स्थान पर वर्ग हैं जबकि कुछ में शतनामक उपविभाग भी हैं एव इनकी सख्या ११४ तक है। केवल पन्द्रहवें शतक में कोई उपविभाग नही है। शत अथवा शतक का अर्थ सौ होता है। इन शतकों में सौ का कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नही होता। यह शत अथवा शतक नाम प्रस्तुत ग्रथ में रूढ है। कदाचित् कभी यह नाम अन्वर्थ रहा हो। इस सम्बन्ध में वृत्तिकार ने कोई विशेष स्पष्टीकरण नही किया है।

मगल

भगवती के अतिरिक्त अग अथवा अगबाह्य किसी भी सूत्र के प्रारम्भ में मगल का कोई विशेष पाठ उपलब्ध नही होता। इस पाँचवें अग के प्रारम्भ में 'नमो अरिहताण' आदि पाँच पद देकर शास्त्रकार ने मगल किया है। इसके बाद नमो बभीए लिवीए' द्वारा ब्राह्मी लिपि को भी नमस्कार किया है। तदनन्तर प्रस्तुत अग के प्रथम शतक के उद्देशको में वर्णित विषयों का निर्देश करनेवाली एक सग्रह-गाथा दी गई है। इस गाथा के बाद 'नमो सुअस्स' रूप एक मगल और आता है। इसे प्रथम शतक का मगल कह सकते हैं। शतक के प्रारम्भ मे उपोद्घात है जिसमें राजगृह नगर, गुणशिलक चैत्य, राजा श्रेणिक तथा रानी चिल्लणा का उल्लेख है। इसके बाद भगवान् महावीर तथा उनके गुणो का विस्तृत वर्णन है। तदनन्तर भगवान् के प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम, उनके गुण, शरीर आदि का विस्तृत परिचय है। इसके बाद 'इद्रभूति ने भगवान् से यो कहा' इस प्रकार के उल्लेख के साथ इस सूत्र में आने वाले प्रथम प्रश्न की शुरुआत होती है। वैसे तो इस सूत्र में अनेक प्रकार के प्रश्न व उनके उत्तर हैं किन्तु अधिक भाग स्वर्गों, सूर्यों, इन्द्रो, असुरकुमारो, असुरकुमारेन्द्रो, उनकी अग्रमहिषियो, उनके लोकपालो, नरको आदि से सम्बन्धित है। कुछ प्रश्न एक ही समान हैं। उनके उत्तर पूर्ववत् समझ लेने का निर्देश किया गया है। कुछ स्थानो पर पन्नवणा, जीवाभिगम, नदी आदि के समान तद्-तद् विषयों को समझ लेने का भी उल्लेख किया गया है। वैसे देखा जाय तो प्रथम शतक विशेष महत्त्वपूर्ण है। आगे के शतको में किसी न किसी रूप में प्राय प्रथम शतक के विषयों की ही चर्चा की गई है। कुछ स्थानो पर अन्यतीर्थिकों के मत दिये गये हैं किन्तु उनका कोई विशेष नाम नही बताया गया है। इस अग में

प्रश्न—पृथ्वीकाय यावत् वनस्पतिकाय के जीव कितने समय में श्वास लेते है।

उत्तर—विविध समय में अर्थात् विविध रीति से श्वास लेते हैं।

प्रश्न—क्या ये सब जीव आहार लेते हैं ?

उत्तर—हाँ ये सभी जीव आहार लेते हैं।

प्रश्न—ये सब जीव कितने समय में आहार ग्रहण करते हैं ?

उत्तर—ये सब जीव निरन्तर आहार ग्रहण करते हैं।

ये जीव जिन पुद्गलो का आहार करते हैं वे काले, नीले, पीले, लाल एव सफेद होते हैं। ये सब सुगन्धी भी होते हैं और दुर्गन्धी भी। स्वाद में सब प्रकार के स्वादो से युक्त होते हैं एव स्पर्श में सब प्रकार के स्पर्श वाले होते हैं।

इसी प्रकार के प्रश्न द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एव चतुरिन्द्रिय सम्बन्धी भी हैं।

प्रश्न—जीव आत्मारभी हैं, परारभी हैं, उभयारभी हैं अथवा अनारभी हैं ?

उत्तर—कुछ जीव आत्मारम्भी भी हैं, परारभी भी हैं उभयारभी भी हैं तथा कुछ जीव आत्मारभी भी नही हैं, परारभी भी नही हैं और उभयारभी भी नही हैं किन्तु केवल अनारम्भी हैं।

यहाँ आरम्भ का अर्थ आस्रवद्वार सम्बन्धी प्रवृत्ति है। यतनारहित आचरण करने वाले समस्त जीव आरम्भी ही हैं। यतनासहित एव शास्त्रोक्त विधान के अनुसार आचरण करने वाले जीव भी वैसे तो आरम्भी हैं किन्तु यतना की अपेक्षा से अनारम्भी हैं। सिद्ध आत्माएँ अशरीरी होने के कारण अनारम्भी ही हैं।

प्रश्न—क्या असयत अथवा अविरत जीव भी मृत्यु के बाद देव होते हैं ?

उत्तर—हाँ, होते हैं।

प्रश्न—यह कैसे ?

उत्तर—जिन्होंने भूख, प्यास, डास, मच्छर आदि के उपसर्ग अनिच्छा से भी सहे हैं वे वाणव्यन्तर नामक देवो की गति प्राप्त करते हैं। जिन्होंने ब्रह्मचर्य का अनिच्छा से भी पालन किया है इस प्रकार की कुलीन बालविधवाएँ अथवा [illegible] आदि प्राणी देवगति प्राप्त करते हैं। जिन्होंने अनिच्छापूर्वक भी शीत, ताप आदि सहन किया है वे भी देवगति प्राप्त करते हैं।

देवगति :

जो असयत हैं अर्थात् ऊपर-ऊपर से सयम के उग्र अनुष्ठानों का आचरण करने वाले हैं एवं भीतर से केवल मान-पूजा-प्रतिष्ठा के ही अभिलाषी हैं वे मर कर कम से कम भवनवासी नामक देवगति में उत्पन्न होते हैं व अधिक से अधिक ग्रैवेयक नामक विमान में देवरूप से उत्पन्न होते हैं। जो सयम की अधिकाशतया निर्दोष आराधना करते हैं वे कम से कम सौधर्म नामक स्वर्ग में व अधिक से अधिक सर्वार्थसिद्ध नामक विमान में देव होते हैं। जिन्होने सयम की विराधना की हो अर्थात् सयम का दूषित ढग से पालन किया हो। वे कम से कम भवनवासी देवयोनि में व अधिक से अधिक सौधर्म देवलोक में जन्म ग्रहण करते हैं। जो श्रावक धर्म का अधिकाशतया निर्दोष ढग से पालन करते हैं वे कम से कम सौधर्म देवलोक में व अधिक से अधिक अच्युत विमान में देवरूप से उत्पन्न होते हैं। जिन्होंने श्रावकधर्म का दूषित ढग से पालन किया हो वे कम से कम भवनवासी व अधिक से अधिक ज्योतिष्क देव होते हैं। जो जीव असज्ञी हैं अर्थात् मन-रहित हैं वे परवशता के कारण दु ख सहन कर भवनवासी देव होते हैं अथवा वाणव्यन्तर की गति प्राप्त करते हैं। तापस लोग अर्थात् जो जिनप्रवचन का पालन करने वाले नही हैं वे घोर तप के कारण कम से कम भवनवासी एव अधिक से अधिक ज्योतिष्क देवो की गति प्राप्त करते हैं। जो कादर्पिक हैं अर्थात् बहुरूपादि द्वारा दूसरो को हँसाने वाले हैं वे केवल बाह्यरूप से जैन सयम की आराधना कर कम से कम भवनवासी एव अधिक से अधिक सौधर्म देव होते हैं। चरक अर्थात् जोर से आवाज लगाकर भिक्षा प्राप्त करने वाले त्रिदडी, लगोटधारी तथा परिव्राजक अर्थात् कपिलमुनि के शिष्य कम से कम भवनवासी देव होते हैं एव अधिक से अधिक ब्रह्मलोक नामक स्वर्ग तक पहुँचते हैं। किल्विषिक अर्थात् बाह्यतया जैन सयम की साधना करते हुए भी जो ज्ञान का, ज्ञानी का, धर्माचार्य का, साधुओं का अवर्णवाद यानि निन्दा करने वाले हैं वे कम से कम भवनवासी देव होते हैं एव अधिक से अधिक लातक नामक स्वर्ग तक पहुँचते हैं। जिनमार्गानुयायी तिर्यञ्च अर्थात् गाय, बैल, घोडा आदि कम से कम भवनवासी देवरूप से उत्पन्न होते हैं एव अधिक से अधिक लातक से भी आगे आये हुए सहस्रार नामक स्वर्ग तक जाते हैं। वृत्तिकार ने बताया है कि तिर्यञ्च भी अपनी मर्यादा के अनुसार श्रावकधर्म का पालन कर सकते हैं। आजीविक अर्थात् आजीविक मत के अनुयायी कम से कम भवनवासी देव होते हैं एव अधिक से अधिक सहस्रार से भी आगे आये हुए अच्युत नामक स्वर्ग तक जा सकते हैं। आभियोगिक अर्थात् जो जैन वेषधारी होते हुए भी मत्र, तत्र, वशीकरण आदि का प्रयोग करने वाले हैं, सिर पर विभूति अर्थात् वासक्षेप डालने वाले हैं, प्रतिष्ठा के लिए निमित्तशास्त्र आदि का उपयोग

करने वाले हैं वे कम से कम भवनवासी देव होते हैं एव अधिक से अधिक अच्युत नामक स्वर्ग मे जाते है। स्वलिंगी अर्थात् केवल जैन वेष धारण करने वाले सम्यग्दर्शनादि से भ्रष्ट साधु कम मे कम भवनवासी देवरूप से उत्पन्न होते हैं व अधिक से अधिक ग्रैवेयक विमान में देव बनते हैं। यह सब देवगति प्राप्त होने की अवस्था में ही समझना चाहिए, अनिवार्य रूप में अर्थात् सामान्य नियम के तौर पर नही।

उपर्युक्त उल्लेख मे महावीर के समकालीन आजीविको, वैदिक परम्परा के तापसो एव परिव्राजको तथा जैन श्रमण श्रमणियो एव श्रावक-श्राविकाओ का निर्देश है। इसमें केवल एक बौद्ध परम्परा के भिक्षुओं का कोई नामनिर्देश नही है। ऐसा क्यो ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। यह भी विचारणीय है कि जो केवल जैन वेषधारी हैं व बाह्यतया जैन अनुष्ठान करने वाले हैं किन्तु वस्तुत सम्यग्दर्शनरहित हैं वे ऊँचे से ऊँचे स्वर्ग तक कैसे पहुँच सकते हैं जबकि उसी प्रकार के अन्य वेषधारी मिथ्यादृष्टि वहाँ तक नही पहुँच सकते। तात्पर्य यह जान पडता है कि जैन बाह्य आचार की कठिनता और उग्रता अन्य श्रमणो और परिव्राजकों की अपेक्षा अधिक सयम प्रधान थी जिसमे हिंसा आदि पापाचार की बाह्यरीति से सभावना कम थी। अतएव दर्शनविशुद्धि न होने पर भी अन्य मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा जैनश्रमणो को उच्च स्थान दिया गया है।

काक्षामोहनीय :

निर्ग्रन्थ श्रमण काक्षामोहनीय कर्म का किस प्रकार वेदन करते हैं—अनुभव करते हैं। इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने आगे बताया है कि ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर एव प्रमाणान्तररूप कारणो से शकित, काक्षित, विचिकित्सित, बुद्धिभेद तथा चित्त की कलुषितता को प्राप्त निर्ग्रन्थ श्रमण काक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं। इन कारणो की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है :—

ज्ञानान्तर—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय व केवल रूप पाँच ज्ञानो—ज्ञान के प्रकारो के विषय मे शका करना।

दर्शनान्तर—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन आदि दर्शन के अवान्तर भेदो के विषय मे श्रद्धा न रखना अथवा सम्यक्त्वरूप दर्शन के औपशमिकादि भेदो के विषय में शका करना।

चारित्रान्तर—सामायिक, छेदोपस्थापनीय आदि रूप चरित्र के प्रति सशय रखना।

प्रवचनान्तर—चतुर्याम एवं पंचयाम के भेद के विषय में शंका करना।

प्रावचनिकान्तर—प्रावचनिक अर्थात् प्रवचन का ज्ञाता। प्रावचनिकों के भिन्न-भिन्न आचार-व्यवहारों के प्रति शंका करना।

कल्पान्तर—कल्प अर्थात् आचार। आचार के सचेलकत्व, अचेलकत्व आदि भेदों के प्रति संशय रखना।

मार्गान्तर—मार्ग अर्थात् परम्परा से चली आने वाली सामाचारी। विविध प्रकार की सामाचारी के विषय में अश्रद्धा रखना।

मतान्तर—परम्परा से चले आने वाले मत-मतान्तरों के प्रति अश्रद्धा रखना।

नियमान्तर—एक नियम के अन्तर्गत अन्य नियमान्तरों के प्रति अविश्वास रखना।

प्रमाणान्तर—प्रत्यक्षरूप एक प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के प्रति विश्वास न रखना।

इसी प्रकार अन्य कारणों के स्वरूप के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

रोह अनगार के इस प्रश्न के उत्तर में कि जीव पहले है या अजीव, भगवान् ने बताया है कि इन दोनों में से अमुक पहले है और अमुक बाद में, ऐसा कोई क्रम नहीं है ये दोनों पदार्थ शाश्वत हैं—नित्य हैं।

लोक का आधार :

गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में कि समग्र लोक किसके आधार पर रहा हुआ है, भगवान् ने बताया है कि आकाश के आधार पर वायु, वायु के आधार पर समुद्र, समुद्र के आधार पर पृथ्वी तथा पृथ्वी के आधार पर समस्त त्रस एवं स्थावर जीव रहे हुए हैं। समस्त अजीव जीवों के आधार पर रहे हुए हैं। लोक का ऐसा आधार-आधेय भाव है, यह किस आधार पर कहा जा सकता है? इसके उत्तर में निम्न उदाहरण दिया गया है :—

एक बड़ी मशक में हवा भर कर ऊपर से बाँध दी जाय। बाद में उसे बीच से बाँध कर ऊपर का मुँह खोल दिया जाय। इसके ऊपर के भाग की हवा निकल जायगी। फिर उस खाली भाग में पानी भर कर ऊपर से मुँह बाँध दिया जाय व बीच की गाँठ खोल दी जाय। इससे ऊपर के भाग में भरा हुआ पानी नीचे भरी हुई हवा के आधार पर टिका रहेगा। इसी प्रकार लोक पवन के आधार पर रहा हुआ है। अथवा जैसे कोई मनुष्य अपनी कमर पर हवा से भरी हुई मशक बाँध कर पानी के ऊपर तैरता रहता है, डूबता नहीं उसी प्रकार वायु के आधार पर समग्र लोक टिका हुआ है। इन उदाहरणों की परीक्षा आसानी से की जा सकती है।

पार्श्वापत्य

पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों अर्थात् पार्श्वापत्यो द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्न प्रस्तुत सूत्र में सगृहीत हैं। कालासवेसियपुत्त नामक पार्श्वापत्य भगवान् महावीर के शिष्यो से कहते है कि हे स्थविरो! आप लोग सामायिक नहीं जानते, सामायिक का अर्थ नहीं जानते, प्रत्याख्यान नही जानते, प्रत्याख्यान का अर्थ नहीं जानते, सयम नही जानते, सयम का अर्थ नहीं जानते, सवर व सवर का अर्थ नहीं जानते, विवेक व विवेक का अर्थ नही जानते, व्युत्सर्ग व व्युत्सर्ग का अर्थ नहीं जानते। यह सुनकर महावीर के शिष्य कालासवेसियपुत्त से कहते हैं कि हे आर्य! हम लोग सामायिक आदि व सामायिक आदि का अर्थ जानते हैं। यह सुन कर पार्श्वापत्य अनगार ने उन स्थविरों से पूछा कि यदि आप लोग यह सब जानते हैं तो बताइए कि सामायिक आदि क्या है व सामायिक आदि का अर्थ क्या है? इसका उत्तर देते हुए वे स्थविर कहने लगे कि अपनी आत्मा सामायिक है व अपनी आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इसी प्रकार आत्मा ही प्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान का अर्थ है, इत्यादि। यह सुनकर पार्श्वापत्य अनगार ने पूछा कि यदि ऐसा है तो फिर आप लोग क्रोध, मान, माया व लोभ का त्याग करने के बाद इनकी गर्हा—निन्दा क्यों करते हैं? इसके उत्तर में स्थविरों ने कहा कि सयम के लिए हम क्रोधादि की गर्हा करते हैं। यह सुन कर कालासवेसियपुत्त ने पूछा कि गर्हा सयम है या अगर्हा? स्थविरो ने कहा कि गर्हा सयम है, अगर्हा सयम नही। गर्हा समस्त दोषों को दूर करती है एव उसके द्वारा हमारी आत्मा सयम मे स्थापित होती है। इससे आत्मा में सयम का उपचय अर्थात् सग्रह होता है। यह सब सुनकर कालासवेसियपुत्त को सतोष हुआ और उन्होने महावीर के स्थविरो को वदन किया, नमन किया व यह स्वीकार किया कि सामायिक से लेकर व्युत्सर्ग तथा गर्हा तक के सब पदो का मुझे ऐसा ज्ञान नही है। मैंने इस विषय में ऐसा विवेचन भी नही सुना है। इन सब पदो का मुझे ज्ञान नही है, अभिगम नही है अत ये सब पद मेरे लिए अदृष्ट हैं, अश्रुतपूर्व हैं, अस्मृतपूर्व हैं, अविज्ञात हैं, अव्याकृत हैं, अपृथक्कृत हैं, अनुद्धृत हैं, अनवधारित हैं। इसीलिए जैसा आपने कहा वैसी मुझे श्रद्धा न थी, प्रतीति न थी, रुचि न थी। अब आपकी बताई हुई सारी बातें मेरी समझ में आ गई हैं एव वैसी ही मेरी श्रद्धा, प्रतीति व रुचि हो गई है। यह कह कर कालासवेसियपुयत्त ने उन स्थविरो की परम्परा में मिल जाने का अपना विचार व्यक्त किया। स्थविरो की अनुमति से वे उनमें मिल गये एव नग्नभाव, मुडभाव, अस्नान, अदन्तधावन, अछत्र, अनुपानहता (जूते का त्याग), भूमिशय्या, ब्रह्मचर्यवास, केशलोच, भिक्षाग्रहण आदि नियमो का पालन कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट मालूम होता है कि श्रमण भगवान् महावीर व श्रमण भगवान् पार्श्वनाथ की परम्पराओं के बीच विशेष भेद था। इनके साधु एक-दूसरे की मान्यताओं से अपरिचित थे। इनमें परस्पर वंदनव्यवहार भी न था। सूत्रकृतांग के वीरस्तुति अध्ययन में स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् महावीर ने स्त्रीत्याग एवं रात्रिभोजनविरमण रूप दो नियम नये बढ़ाये थे।

पांचवें शतक में भी पार्श्वापत्य स्थविरों की चर्चा आती है। उसमें यह बताया गया है कि पार्श्वापत्य भगवान् महावीर के पास आकर बिना वंदना-नमस्कार किये ही अथवा अन्य किसी प्रकार से विनय का भाव दिखाये बिना ही उनसे पूछते हैं कि असंख्येय लोक में रात्रि व दिवस अनन्त होते हैं अथवा परिमित ? भगवान् दोनों विकल्पों का उत्तर हाँ में देते हैं। इसका अर्थ यह है कि असंख्येय लोक में रात्रि व दिवस अनन्त भी होते हैं और परिमित भी। तब वे पार्श्वापत्य भगवान् से पूछते हैं कि यह कैसे ? इसके उत्तर में महावीर कहते हैं कि आपके पुरुषादानीय पार्श्व अर्हत् ने लोक को शाश्वत कहा है, अनादि कहा है, अनन्त कहा है तथा परिमित भी कहा है। इसलिए उसमें रात्रि-दिवस अनन्त भी होते हैं तथा परिमित भी। यह सुनकर उन पार्श्वापत्यों ने भगवान् महावीर को सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी के रूप में पहचाना, उन्हें वन्दना-नमस्कार किया एवं उनकी परम्परा को स्वीकार किया।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर व पार्श्वनाथ एक ही परम्परा के तीर्थंकर हैं, यह तथ्य पार्श्वापत्यों को ज्ञात न था।

इसी प्रकार का एक उल्लेख नवें शतक में भी आता है। गांगेय नामक पार्श्वापत्य अनगार ने बिना वंदना-नमस्कार किये ही भगवान् महावीर से नरकादि विषयक कुछ प्रश्न पूछे जिनका महावीर ने उत्तर दिया। इसके बाद ही गांगेय ने भगवान् को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी के रूप में पहचाना। इसके पूर्व उन्हें इस बात का पता न था अथवा निश्चय न था कि महावीर तीर्थंकर हैं, केवली हैं।

वनस्पतिकाय :

शतक सातवें व आठवें में वनस्पतिसम्बन्धी विवेचन है। सातवें शतक के तृतीय उद्देशक में बताया गया है कि वनस्पतिकाय के जीव किस ऋतु में अधिक से अधिक आहार ग्रहण करते हैं व किस ऋतु में कम से कम आहार लेते हैं ? प्रावृट्ऋतु में अर्थात् श्रावण-भाद्रपद में तथा वर्षाऋतु में अर्थात् आश्विन-कार्तिक में वनस्पतिकायिक जीव अधिक से अधिक आहार लेते हैं। शरदृऋतु, हेमन्तऋतु, वसन्तऋतु एवं ग्रीष्मऋतु में इनका आहार उत्तरोत्तर कम होता जाता है

अर्थात् ग्रीष्मऋतु में वनस्पतिकायिक जीव कम से कम आहार ग्रहण करते हैं। यह कथन वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से विचारणीय है। इसी उद्देशक में आगे बताया गया है कि आलू आदि अनन्त जीववाले वनस्पतिकायिक हैं। यहाँ मूल में 'आलुअ' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह आलू अथवा आलुक नामक वनस्पति वतमान में प्रचलित आलू से मिलती-जुलती एक भिन्न प्रकार की वनस्पति मालूम पडती है क्योंकि उस समय भारत मे आलू की खेती होती थी अथवा नही, यह निश्चित नही है। प्रसगवशात् यह कहना भी अनुचित न होगा कि आलू मूगफली की ही तरह डालियो पर लगने के कारण कदमूल में नहीं गिने जा सकते। भगवान् ऋषभदेव के जमाने में युगलिक लोग कदाहारी-मूलाहारी होते थे फिर भी वे स्वर्ग में जाते थे। क्या वे कद और मूल वतमान कद व मूल से भिन्न तरह के होते थे? वस्तुत सद्गति का सम्बन्ध मूलगुणो के पालन से अर्थात् जीवनशुद्धि से है, न कि कदादि के भक्षण और अभक्षण से।

जीव की समानता

सातवें शतक के आठवें उद्देशक में भगवान् ने बताया है कि हाथी और कुथु का जीव समान है। विशेष वर्णन के लिए सूत्रकार ने रायपसेणइज्ज सूत्र देखने की सूचना दी है। रायपसेणइज्ज में केशिकुमार श्रमण ने राजा पएसी के साथ आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के विषय में चर्चा की है। उस प्रसग पर एक प्रश्न के उत्तर में दीपक के प्रकाश का उदाहरण देकर हाथी और कुथु के जीव की समानता समझाई गई है। इससे जीव की सकुचन-प्रसारणशीलता सिद्ध होती है।

केवली

छठें शतक के दसवें उद्देशक मे एक प्रश्न है कि क्या केवली इद्रियों द्वारा जानता है, देखता है? उत्तर मे बताया गया है कि नही, ऐसा नहीं होता। अठारहवें शतक के सातवें उद्देशक में एक प्रश्न है कि जब केवली के शरीर में यक्ष का आवेश आता है तब क्या वह अन्यतीर्थिको के कथनानुसार दो भाषाएँ—असत्य और सत्यासत्य बोलता है? इसका उत्तर देते हुए बताया गया है कि अन्यतीर्थिको का यह कथन मिथ्या है। केवली के शरीर में यक्ष का आवेश नही आता अत यक्ष के आवेश से आवेष्टित होकर वह इस प्रकार की दो भाषाएँ नही बोलता। केवली सदा सत्य और असत्यमृषा—इस प्रकार की दो भाषाए बोलता है।

श्वासोच्छ्वास

द्वितीय शतक के प्रथम उद्देशक में प्रश्न है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवों की तरह क्या पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय

जीव भी श्वासोच्छ्वास लेते हैं ? उत्तर में बताया गया है कि हा, लेते हैं। क्या वायुकाय के जीव भी वायुकाय को ही श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते हैं ? यहा पर वृत्तिकार ने यह स्पष्ट किया है कि जो वायुकाय श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण किया जाता है वह चेतना नही अपितु जड अर्थात् पुद्गलरूप होता है। उसकी स्वतन्त्र वर्गणाए होती है जिन्हें श्वासोच्छ्वास-वर्गणा कहते हैं।

जमालि-चरित .

नवें शतक के तैंतीसवें उद्देशक में जमालि का पूरा चरित्र है। उसमें उसे ब्राह्मणकुडग्राम से पश्चिम में स्थित क्षत्रियकुडग्राम का निवासी क्षत्रियकुमार बताया गया है तथा उसके माता-पिता का नाम नही दिया गया है। भगवान् महावीर के उसके नगर में आने पर वह उनके दर्शन के लिए गया एव बोध प्राप्त कर भगवान् का शिष्य बना। बाद में उसका भगवान् के अमुक विचारो से विरोध होने पर उनसे अलग हो गया। इस पूरे वर्णन में कही भी यह उल्लेख नही है कि जमालि महावीर का जामाता था अथवा उनकी कन्या से उसका विवाह हुआ था। जब वह दीक्षा ग्रहण करता है तब रजोहरण व पडिग्गह अर्थात् पात्र ये दो उपकरण ही लेता है। मुहपत्ती आदि किन्हीं भी अन्य उपकरणों का इनके साथ उल्लेख नही है। जब जमालि भगवान् से अलग होता है और उनके अमुक विचारो से भिन्न प्रकार के विचारों का प्रचार करता है तब वह अपने आप को जिन एव केवली कहता है तथा महावीर के अन्य छद्मस्थ शिष्यो से खुद को भिन्न मानता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'जिन' और 'केवली' शब्द का प्रयोग उस समय के विचारक किस ढग से करते थे। महावीर से अलग होकर अपनी भिन्न विचारधारा का प्रचार करने वाला गोशालक भी महावीर से यही कहता था कि मैं जिन हूँ, केवली हूँ एव आपके शिष्य गोशालाक से भिन्न हूँ। जब जमालि यो कहता है कि अब मैं जिन हूँ, केवली हूँ तब महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम जमालि से कहते हैं कि केवली का ज्ञान-दर्शन तो पर्वतादि से निरूद्ध नहीं होता। यदि तुम सचमुच केवली अथवा जिन हो तो मेरे इन दो प्रश्नो के उत्तर दो—यह लोक शाश्वत है अथवा अशाश्वत ? यह जीव शाश्वत है अथवा अशाश्वत ? ये प्रश्न सुनकर जमालि निरूत्तर हो गया। यह देख कर भगवान् महावीर जमालि से कहने लगे कि मेरे अनेक शिष्य जो कि छद्मस्थ हैं इन प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं। फिर भी वे तुम्हारी तरह यो नही कहते कि हम जिन हैं, केवली हैं। अन्त में जब जमालि मृत्यु को प्राप्त होता है तब गौतम भगवान् से पूछते हैं कि आपका जमालि नामक कुशिष्य मरकर किस गति में गया ? इसका उत्तर देते हुए महावीर कहते हैं कि मेरा कुशिष्य अनगार जमालि मरकर अधम जाति की

देवगति में गया है । वह ससार में घूमता-घूमता अन्त में सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, मुक्त होगा ।

शिवराजर्षि

ग्यारहवें शतक के नवें उद्देशक में हस्तिनागपुर के राजा शिव का वर्णन है। इस राजा को इतिहास की दृष्टि से देखा जाय अथवा केवल दतकथा की दृष्टि से, इसका निर्णय नही किया जा सकता। इसके सामत राजा भी थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कोई विशिष्ट राजा रहा होगा। इसे तापस होने की इच्छा होती है अत अपने पुत्र शिवभद्र को गद्दी पर बैठाकर स्वय दिशाप्रोक्षक परम्परा की दीक्षा स्वीकार करने के लिए गगा के किनारे रहने वाले वानप्रस्थ तापसो के पास आता है एव उससे दीक्षा लेता है। दीक्षा लेते ही वह निरन्तर षष्ठ तप करने की प्रतिज्ञा करता है। इस तप के साथ वह रोज आतापनाभूमि पर आतापना लेता है। उसकी नित्य की चर्चा इस प्रकार बताई गई है षष्ठ तप के पारणा के दिन वह आतापना-भूमि से उतर कर नीचे आता है, वृक्ष की छाल के कपडे पहनता है, अपनी झोपडी मे आता है फिर किढिण अर्थात् बास का पात्र एव सकाइय—सकायिक अर्थात् कावड ग्रहण करता है। बाद में पूर्वदिशा का प्रोक्षण (पानी का छिडकाव) करता है एव 'पूर्वदिशा के सोम महाराज धर्म-साधना में प्रवृत्त शिवराज की रक्षा करें व पूर्व में रहे हुए कद, मूल, पत्र, पुष्प, फल आदि लेने की अनुमति दें' यो कहकर पूर्व में जाकर कदादि से अपना कावड भरता है। बाद में शाखा, कुश, समिधा, पत्र आदि लेकर अपनी झोपडी में आता है। आकर कावड आदि रखकर वेदिका को साफ कर पानी व गोबर से पुताई करता है। बाद में हाथ में शाखा व कलश लेकर गगानदी में उतरता है, स्नान करता है, देवकर्म-पितृकर्म करता है, शाखा व पानी से भरा कलश लेकर अपनी झोपडी में आता है, कुश आदि द्वारा वेदिका बनाता है, अरणि को घिसकर अग्नि प्रकट करता है, समिधा आदि जलाता है व अग्नि की दाहिनी ओर निम्नोक्त सात वस्तुएँ रखता है सकथा (तापस का एक उपकरण) वल्कल, ठाण अर्थात् दीप, शय्योपकरण, कमण्डल, दण्ड और सातवाँ वह खुद। तदनन्तर मधु, घी और चावल अग्नि में होम करता है, चरुबलि तैयार करता है, चरुबलि द्वारा वैश्वदेव बनाता है, अतिथि की पूजा करता है और बाद में भोजन करता है। इसी प्रकार दक्षिण दिशा के यम महाराज की, पश्चिम दिशा के वरुण महाराज की एव उत्तर दिशा के वैश्रमण महाराज की अनुमति लेकर उपर्युक्त सब क्रियाएँ करता है।

ये शिवराजर्षि यो कहते थे कि यह पृथ्वी सात द्वीप व सात समुद्र वाली है। इसके बाद कुछ नही है। जब इन्हे भगवान् महावीर के आगमन का पता

लगता है तब ये उनके पास जाकर उनका उपदेश सुनकर उनके शिष्य हो जाते हैं। ग्यारह अग पढकर अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं।

परिव्राजक तापस :

जैसे इस सूत्र में कई तापसो का वर्णन आता है वैसे ही औपपातिक सूत्र में परिव्राजक तापसों के अनेक प्रकार बताये गये हैं यथा—अग्निहोत्रीय, पोत्तिय—लुगी पहनने वाले, कोत्तिय—जमीन पर सोने वाले, जन्नई—यज्ञ करने वाले, हुवउट्ठ—कुडी रखने वाले श्रमण, दतुक्खलिय—दांतों से कच्चे फल खाने वाले, उम्मज्जग—केवल डुबकी लगाकर स्नान करने वाले, समज्जग—बार-बार डुबकी लगाकर स्नान करने वाले, निमज्जग—स्नान के लिए पानी में लम्बे समय तक पडे रहने वाले, सपक्खालग—शरीर पर मिट्टी घिस कर स्नान करने वाले, दक्खिणकूलग—गगा के दक्षिणी किनारे रहने वाले, उत्तरकूलग—गगा के उत्तरी किनारे रहने वाले, सखधमग—अतिथि को खाने के लिए निमन्त्रित करने हेतु शख फूंकने वाले, कूलधमग—किनारे पर खडे रह कर अतिथि के लिए आवाज लगाने वाले, मियलुद्धय—मृगलुब्धक, हस्तितापस—हाथी को मारकर उससे जीवन-निर्वाह करने वाले, उद्दडक—दण्ड ऊंचा रखकर फिरने वाले, दिशाप्रोक्षक—पानी द्वारा दिशा का प्रोक्षणकर—फल लेने वाले, वल्कवासी—वल्कल पहनने वाले चेलवासी—कपडा पहनने वाले, वेलवासी—समुद्र-तट पर रहने वाले, जलवासी—पानी में बैठे रहने वाले, बिलवासी—बिलो में रहने वाले, बिना स्नान किए न खाने वाले, वृक्षमूलिक—वृक्ष के मूल के पास रहने वाले, जलभक्षी—केवल पानी पीने वाले, वायुभक्षी—केवल हवा खाने वाले, शैवालभक्षी, मूलाहारी, कदाहारी त्वगाहारी फलाहारी, पुष्पाहारी, बीजाहारी, पचाग्नि तपने वाले आदि। यहाँ यह याद रखना जरूरी है कि ये कन्दहारी तापस भी मर कर स्वर्ग में जाते हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में शिवराजर्षि की ही तरह स्कन्द, तामिल, पूरण, पुद्गल आदि तापसो का भी वर्णन आता है। इसमें दानामा और प्राणामा रूप दो तापसी दीक्षाओं का भी उल्लेख है। दानामा अर्थात् भिक्षा लाकर दान करने के आचारवाली प्रव्रज्या और प्राणामा अर्थात् प्राणिमात्र को प्रणाम करते रहने की प्रव्रज्या। इन तापसों में से कुछ ने स्वर्ग प्राप्त किया है तथा कुछ ने इन्द्रपद भी पाया है। इससे यह फलित होता है कि स्वर्ग प्राप्ति के लिए कष्टमय तप की आवश्यकता है न कि यज्ञयागादि की। यह बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र में बार-बार देवो व असुरों का वर्णन दिया गया है। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने देवासुर सग्राम का वर्णन भी किया है। इस संग्राम में देवेन्द्र शक्र से भयभीत हुआ असुरेन्द्र चमर भगवान् महावीर की शरण में जाने के कारण बच जाता है।

यह सग्राम वैदिक देवासुर सग्राम का अनुकरण प्रतीत होता है। सग्राम का जो कारण बताया गया है वह अत्यन्त विलक्षण है। इससे यह भी फलित होता है कि इन्द्र जैसा सबल एव समर्थ व्यक्ति भी किस प्रकार कापायिक वृत्तियों का शिकार बनकर पामर प्राणी की भाँति आचरण करने लगता है। स्वर्ग की जो घटनाएँ बार-बार आती हैं उन्हें पढने से यह मालूम होता है कि स्वर्ग के प्राणी कितने अधम, चोर, असदाचारी एव कलहप्रिय होते हैं। इन सब घटनाओं का अर्थ यही है कि स्वर्ग वाछनीय नही है अपितु मोक्ष वाछनीय है। शुद्ध सयम का फल निर्वाण है जबकि दूषित सयम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वग का कारण यज्ञादि न होकर अहिंसाप्रधान आचरण ही है। स्वर्ग भी निर्वाण प्राप्ति में एक बाधा है जिसे दूर करना आवश्यक है। इस प्रकार जैन निर्ग्रन्थो ने स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष को प्रतिष्ठित कर हिंसा अथवा भोग के बजाय अहिंसा अथवा त्याग की प्रतिष्ठा की है।

स्वर्ग

स्वर्ग के वर्णन में वस्त्र, अलकार, ग्रथ, पात्र, प्रतिमाएँ आदि उल्लिखित हैं। विमानो की रचना में विविध रत्नों, मणियो एव बहुमूल्य पदार्थों का उपयोग बताया गया है। इसी प्रकार स्तम्भ, वेदिका, छप्पर, द्वार, खिडकी, झूला, खूँटी आदि का भी उल्लेख किया गया है। ये सब चीजें स्वर्ग में कहाँ से आती हैं? क्या यह इसी ससार के पदार्थों की कल्पित नकल नही है? स्वर्ग लौकिक आनन्दोपभोग एव विषयविलास की उत्कृष्टतम सामग्री की उच्चतम कल्पना का श्रेष्ठतम नमूना है।

भगवान् महावीर के समय में एक मान्यता यह थी कि युद्ध करने वाले स्वर्ग में जाते हैं। *व्याख्याप्रज्ञप्ति* (शतक ७, उद्देशक ९) में इस सम्बन्ध में बताया गया है कि सग्राम करने वाले को सग्राम करने से स्वर्ग प्राप्त नही होता अपितु न्यायपूर्वक सग्राम करने के बाद जो संग्रामकर्ता अपने दुष्कृत्यो के लिए पश्चात्ताप करता है तथा उस पश्चात्ताप के कारण जिसकी आत्मा शुद्ध होती है वह स्वग में जाता है। इसका अर्थ यह नही कि केवल सग्राम करने से किसी को स्वर्ग मिल जाता है। गीता (अध्याय २, श्लोक ३७) के 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' का रहस्योद्घाटन व्याख्याप्रज्ञप्ति के इस कथन में कितने सुदर ढग से किया गया है।

देवभाषा

महावीर के समय में भाषा के सम्बन्ध में भी बहुत मिथ्याधारणा फैली हुई थी। अमुक भाषा देवभाषा है और अमुक भाषा अपभ्रष्ट भाषा है तथा देवभाषा बोलने से पुण्य होता है और अपभ्रष्ट भाषा बोलने से पाप होता है, इस प्रकार

की मान्यता ने लोगो के दिलो में घर कर रखा था। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा कि भाषा का पुण्य व पाप से कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा तो केवल बोल-चाल के व्यवहार का एक साधन अर्थात् माध्यम है। मनुष्य चाहे कोई भी भाषा बोले, यदि उसका चारित्र—आचरण शुद्ध होगा तो उसके जीवन का विकास होगा। व्याख्याप्रज्ञप्ति के पाँचवें शतक के चौथे उद्देशक में यह बताया गया है कि देव अर्धमागधी भाषा बोलते है। देवो द्वारा बोली जाने वाली भाषाओ में अर्धमागधी भाषा विशिष्ट है यद्यपि यहाँ यह प्रतिपादित नही किया गया है कि अर्धमागधी भाषा बोलने से पुण्य होता है अथवा जीवन की शुद्धि होती है। वैदिको एव जैनो की तरह अन्य सम्प्रदाय वाले भी देवो की विशिष्ट भाषा मानते हैं। ईसाई देवो की भाषा हिब्रू मानते हैं जबकि मुसलमान देवो की भाषा अरबी मानते हैं। इस प्रकार प्राय प्रत्येक सम्प्रदाय वाले अपने-अपने शास्त्र की भाषा को देवभाषा कहते हैं।

गोशालक :

पन्द्रहवें शतक में मखलिपुत्र गोशालक का विस्तृत वर्णन है। गोशालक के लिए मखलिपुत्र एवं मक्खलिपुत्र इन दोनों शब्दो का प्रयोग होता रहा है। जैन शास्त्रों में मखलिपुत्र शब्द प्रचलित है जबकि बौद्ध परम्परा में मक्खलिपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। हाथ मे चित्रपट लेकर उनके द्वारा लोगो को उपदेश देकर अपनी आजीविका चलाने वाले भिक्षुक जैन परम्परा में 'मख' कहे गये हैं। प्रस्तुत शतक के अनुसार गोशालक[1] का जन्म सरवण नामक ग्राम में रहने वाले वेदविशारद गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में हुआ था और इसीलिए उसके पिता मखलि मख एव माता भद्रा ने अपने पुत्र का नाम गोशालक रखा। गोशालक जब युवा हुआ एव ज्ञान-विज्ञान द्वारा परिपक्व हुआ तब उसने अपने पिता का धधा मखपना स्वीकार किया। गोशालक स्वय गृहस्थाश्रम में था या नही, इसके विषय में प्रस्तुत प्रकरण में कोई स्पष्ट उल्लेख नही है। चूँकि वह नग्न रहता था इससे मालूम होता है कि वह गृहस्थाश्रम में न रहा हो। जब महावीर दीक्षित होने के बाद दूसरे चातुर्मास में घूमते-फिरते राजगृह के बाहर नालन्दा में आये एव बुनकर-वास में ठहरे तब वही उनके पास ही मखलिपुत्र गोशालक भी ठहरा हुआ था। इससे मालूम होता है कि मख भिक्षुओं की परम्परा महावीर के दीक्षित होने के पूर्व भी विद्यमान थी।

---

१ महावीरचरियं मे गोशालक के वृत्तात के लिए एक नई ही कल्पना बताई है। देखिए—महावीरचरिय, षष्ठ प्रस्ताव

महावीर दीक्षित होने के बाद बारह वर्ष पर्यन्त कठोर तप साधना करते रहे। इसके बाद अर्थात् बयालीस वर्ष की आयु में वीतराग हुए—केवली हुए। इसके बाद घूमते-घूमते चौदह वर्ष में श्रावस्ती नगरी में आये। इसी समय मखलिपुत्र गोशालक भी घूमता-फिरता वहाँ आ पहुँचा। इस प्रकार गोशालक का भगवान् महावीर के साथ छप्पन वष की आयु में पुन मिलाप हुआ।

इस शतक में यह भी बताया गया है कि केवली होने के पूर्व राजगृह में महावीर के चमत्कारिक प्रभाव से आकर्षित होकर जब गोशालक ने उनसे खुद अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की तब वे मौन रहे। बाद में जब महावीर घूमते-घूमते कोल्लाक सन्निवेश में पहुँचे तब वह फिर उन्हें ढूढता-ढूढता वहाँ जा पहुँचा एव उनसे पुन अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना की। इस बार महावीर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। बाद में वे दोनों छ वर्ष तक साथ फिरते रहे। इस समय एक प्रसग पर गोशालक ने महावीर के पास शीतलेश्या होने की बात जानी एव तेजोलेश्या के विषय में भी जानकारी प्राप्त की। उसने महावीर से तेजोलेश्या की लब्धि प्राप्त करने का उपाय पूछा। महावीर से एतद्विषयक विधि जान कर उसने वह लब्धि प्राप्त की। बाद में वह महावीर से अलग होकर विचरने लगा।

मखलिपुत्र गोशालक जब श्रावस्ती में अपनी अनन्य उपासिका हालाहला कुम्हारिन के यहाँ ठहरा हुआ था उस समय उसकी दीक्षापर्याय चौबीस वर्ष की थी। यह दीक्षापर्याय कौन-सी समझनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में मूल सूत्र में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। सम्भवत यह दीक्षापर्याय महावीर से अलग होने के बाद की है जबकि इसने अपने नये मत का प्रचार शुरू किया। इस दीक्षा-पर्याय की स्पष्टता के विषय में प० कल्याणविजयजीकृत 'श्रमण भगवान् महावीर' देखना आवश्यक है।

मालूम होता है भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को इस मखपरम्परा एव मखलिपुत्र गोशालक का विशेष परिचय न था। इसीलिए वे भगवान् से मखलिपुत्र का अथ से इति तक वृत्तान्त कहने की प्रार्थना करते हैं। उस समय नियतिवादी गोशालक जिन, केवली एवं अर्हत् के रूप में प्रसिद्ध था। वह आजीविक परम्परा का प्रमुख आचार्य था। उसका शिष्यपरिवार तथा उपासकवर्ग भी विशाल था।

गोशालक के विषय में यह भी कहा गया है कि निम्नोक्त छ दिशाचर गोशालक से मिले एव उसके साथी के रूप में रहने लगे शान, कलद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यान और गोमायुपुत्र अर्जुन। इन दिशाचरों के विषय में

टीकाकार कहते हैं कि ये भगवान् महावीर के पथभ्रष्ट शिष्य थे। चूर्णिकार का कथन है कि ये छ दिशाचर पासत्थ अर्थात् पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। आवश्यकचूर्णि में जहाँ महावीर के चरित्र का वर्णन है वहाँ गोशालक का चरित्र भी दिया हुआ है। यह चरित्र बहुत ही हास्यास्पद एव विलक्षण है।

वायुकाय व अग्निकाय

सोलहवें शतक के प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि अधिकरणी अर्थात् एरण पर हथौडा मारते हुए वायुकाय उत्पन्न होता है। वायुकाय के जीव अन्य पदार्थों का सस्पर्श होने पर ही मरते हैं, सस्पर्श के बिना नही। सिगडी (अगारकारिका—इगालकारिया) में अग्निकाय के जीव जघन्य अन्तमुहूर्त एव उत्कृष्ट तीन रात्रि-दिवस तक रहते हैं। वहाँ वायुकायिक जीव भी उत्पन्न होते हैं एव रहते हैं क्योंकि वायु के बिना अग्नि प्रज्वलित नही होती।

जरा व शोक

द्वितीय उद्देशक में जरा व शोक के विषय में प्रश्नोत्तर हैं। इसमें बताया गया है कि जिन जीवों के स्थूल मन नही होता उन्हें शोक नही होता किन्तु जरा तो होती ही है। जिन जीवों के स्थूल मन होता है उन्हें शोक भी होता है और जरा भी। यहाँ पर भवनपति व वैमानिक देवो के भी जरा व शोक होने का स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार जैन आगमों के अनुसार देव भी जरा व शोक से मुक्त नहीं हैं।

सावद्य व निरवद्य भाषा

इस प्रश्न के उत्तर में कि देवेन्द्र-देवराज शक्र सावद्य भाषा बोलता है अथवा निरवद्य, भगवान् महावीर ने बताया है जब शक्र 'सुहुमकाय णिजूहित्ता' अर्थात् सूक्ष्मकाय को ढँक कर बोलता है तब निरवद्य—निष्पाप भाषा बोलता है तथा जब वह 'सुहुमकायं अणिजूहित्ता' अर्थात् सूक्ष्मकाय को बिना ढँके बोलता है, तब सावद्य—सपाप भाषा बोलता है। तात्पर्य यह है कि हाथ अथवा वस्त्र द्वारा मुख ढँक कर बोलने वाले की भाषा निष्पाप अर्थात् निर्दोष होती है जब कि मुख को ढँके बिना बोलने वाले की भाषा सपाप अर्थात् सदोष होती है। इससे बोलने की एक जैनाभिमत विशिष्ट पद्धति का पता लगता है।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि देव :

पचम उद्देशक में उल्लुयतीर नामक नगर के एक जबू नामक चैत्य में भगवान् महावीर के आगमन का उल्लेख है। इस प्रकरण में भगवान् ने शक्रेन्द्र के प्रश्न के उत्तर में बताया है कि महाऋद्धिसम्पन्न यावत् महासुखसम्पन्न देव भी बाह्य

पुद्गलो को ग्रहण किये बिना आने-जाने, बोलने, आंख खोलने, आंख बद करने, अगोको सकुचित करने व फैलाने तथा विषयभोग करने में समथ नही। बाह्य पुद्गलो को ग्रहण कर ही वह ये सब कार्य कर सकता है। इसके बाद महाशुक्रकल्प नामक स्वग में रहने वाले दो देवो के विवाद का वर्णन है एक देव सम्यगदृष्टि है और दूसरा मिथ्यादृष्टि। इस विवाद में सम्यग्दृष्टि अर्थात् जैन देव ने मिथ्या दृष्टि अर्थात् अजैन देव को पराजित किया। विवाद का विषय पुद्गल परिणाम कहा गया है। इससे मालूम होता है कि स्वर्गवासी देव भी पुद्गल-परिणाम आदि की चर्चा करते हैं। सम्यग्दृष्टि देव का नाम गगदत्त बताया गया है। यह उसके पूर्व जन्म का नाम है। देव होने के बाद भी पूर्व जन्म का ही नाम चलता है, ऐमी जैन परम्परा की मान्यता है। प्रस्तुत प्रकरण में गगदत्त देव का पूव जन्म मानने हुए कहा गया है कि वह हस्तिनापुर निवासी एक गृहपति था एव तीर्थंकर मुनिसुव्रत के पास दीक्षित हुआ था।

स्वप्न

छठें उद्देशक में स्वप्न सम्बन्धी चर्चा है। भगवान् कहते हैं कि एक स्वप्न यथार्थ होता है अर्थात् जैसा स्वप्न देखा हो वैसा ही फल मिलता है। दूसरा स्वप्न अति विस्तारयुक्त होता है यह यथाय होता भी है और नही भी। तीसरा चिन्ता-स्वप्न होता है अर्थात् जाग्रत अवस्था की चिन्ता स्वप्नरूप में प्रकट होती है। चौथा विपरीतस्वप्न होता है अर्थात् जैसा स्वप्न देखा हो उससे विपरीत फल मिलता है। पाचवा अव्यक्तस्वप्न होता है अर्थात् स्वप्नदर्शन में अस्पष्टता होती है। आगे बताया गया है कि पूरा सोया हुआ अथवा जगता हुआ व्यक्ति स्वप्न नही देख सकता अपितु कुछ सोया हुआ व कुछ जगता हुआ व्यक्ति ही स्वप्न देख सकता है। सवृत, असवृत्त व सवृतासवृत ये तीनो ही जीव स्वप्न देखते हैं। इनमें से सवृत का स्वप्न यथार्थ ही होता है। असवृत व सवृतासवृत का स्वप्न यथाथ भी हो सकता है और अयथाथ भी। साधारण स्वप्न ४२ प्रकार के हैं और महास्वप्न ३० प्रकार के हैं। इस प्रकार कुल ७२ प्रकार के स्वप्न होते हैं। जब तीर्थंकर का जीव माता के गर्भ में आता है तब वह चौहद महास्वप्न देखकर जागती है। इसी प्रकार चक्रवर्ती की माता के विषय में भी समझना चाहिए। वासुदेव की माता सात, बलदेव की माता चार और माण्डलिक राजा की माता एक स्वप्न देखकर जागती है। श्रमण भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था मे एक रात्रि के अन्तिम प्रहर में दस महास्वप्न देखे थे। प्रस्तुत उद्देशक में यह भी बताया गया है कि स्त्री अथवा पुरुष अमुक स्वप्न देखे तो उसे अमुक फल मिलता है। इस चर्चा से यह मालूम होता है कि जैन अगशास्त्रो में स्वप्नविद्या को भी अच्छा स्थान मिला है।

कोणिक का प्रधान हाथी :

सत्रहवें शतक के प्रथम उद्देशक के प्रारंभ में राजा कोणिक के मुख्य हाथी के विषय में चर्चा है। इस चर्चा में मूल प्रश्न यह है कि यह हाथी पूर्वभव में कहाँ था और मरकर कहाँ जायगा ? उत्तर में बताया गया है कि यह हाथी पूवभव में असुरदेव था और मरकर नरक में जायगा तथा वहा से महाविदेह वर्ष में जाकर निर्वाण प्राप्त करेगा। राजा कोणिक का प्रधान हाथी कितना भाग्यशाली है कि उसकी चर्चा भगवान् महावीर के मुख से हुई है ? इसके बाद इसी प्रकार के अन्य हाथी भूतानद की चर्चा है। इसके बाद इसकी चर्चा है कि ताड के वृक्ष पर चढकर उसे हिलाने वाले एव फलों को नीचे गिराने वाले को कितनी क्रियाएँ लगती है। इसके बाद भी इसी प्रकार की चर्चा है जो सामान्य वृक्ष से सम्बन्धित है। इसके बाद इन्द्रिय,योग, शरीर आदि के विषय में चर्चा है।

कम्प :

तृतीय उद्देशक में शैलेशी अर्थात् शिलेश—मेरु के समान अकप स्थिति को प्राप्त अनगार कैसा होता है, इसकी चर्चा है। इस प्रसग पर कंप के पांच प्रकार बताये गये हैं : द्रव्यकप, क्षेत्रकप, कालकप, भावकप और भयकप। इसके बाद 'चलना' की चर्चा है। अन्त में यह बताया गया है कि सवेग, निर्वेद, शुश्रूषा, आलोचना, अप्रतिबद्धता, कपायप्रत्याख्यान आदि निर्वाण-फल को उत्पन्न करते हैं।

नरकस्थ एव स्वर्गस्थ पृथ्वीकायिक आदि जीव

छठे उद्देशक में नरकस्थ पृथ्वीकायिक जीव की सौधर्म आदि देवलोक में उत्पत्ति होने के विषय में चर्चा है। सातवें में स्वर्गस्थ पृथ्वीकायिक जीव की नरक में उत्पत्ति होने के विषय में विचारणा है। आठवें व नवें में इसी प्रकार की चर्चा अप्कायिक जीव के विषय में है। इससे मालूम पडता है कि स्वर्ग व नरक मे भी पानी होता है।

प्रथमता-अप्रथमता

अठारहवें शतक में निम्नलिखित दस उद्देशक हैं : १. प्रथम, २ विशाख, ३ माकदी, ४ प्राणातिपात, ५ असुर, ६ फणित, ७ केवली ८ अनगार, ९ भवद्रव्य, १० सोमिल। प्रथम उद्देशक में जीव के जीवत्व की प्रथमता-अप्रथमता की चर्चा है। इसी प्रकार जीव के सिद्धत्व आदि का विचार किया गया है।

कार्तिक सेठ :

दूसरे उद्देशक में बताया गया है कि विशाखा नगरी के बहुपुत्रिक चैत्य में भगवान् महावीर आते हैं। वहाँ उन्हें यह पूछा जाता है कि देवेन्द्र—देवराज

शक्र पूर्वभव में कौन था ? उसे शक्र पद कैसे प्राप्त हुआ ? इसके उत्तर में हस्तिनापुर निवासी सेठ कार्तिक का सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्त बताया गया है। उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ का पालन कर दीक्षा स्वीकार कर मृत्यु के बाद शक्रपद—इन्द्रपद पाया। यह घटना मुनिसुव्रत तीर्थंकर के समय की है।

माकदी अनगार

तीसरे उद्देशक में भगवान् के शिष्य सरलस्वभावी माकदिकपुत्र अथवा माकदी अनगार द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नो के उत्तर हैं। माकदी अनगार ने अपना अमुक विचार अन्य जैन श्रमणो के सन्मुख रखा जिसे उन लोगो ने अस्वीकार किया। इस पर भगवान् महावीर ने उन्हें बताया कि माकदी अनगार का विचार बिल्कुल ठीक है।

युग्म

चौथे उद्देशक मे गौतम ने युग्म की चर्चा की है। युग्म चार हैं कृतयुग्म, त्र्योज, द्वापर और कल्योज। युग्म व युग मे अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नही है। वैदिक परम्परा में कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग व कलयुग—ये चार युग प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त चारयुग्मो की कल्पना का आधार यही चार युग मालूम होते हैं। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए अन्त में चार बाकी रहें वह राशि कृतयुग्म कहलाती है। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए अन्त में तीन बच रहें उस राशि को त्र्योज कहते हैं। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए दो बाकी रहें उसे द्वापर एव एक बाकी रहे उसे कल्योज कहते हैं।

पुद्गल

छठे उद्देशक में फणिक अर्थात् प्रवाहित (पतला) गुड, भ्रमर, तोता, मजीठ, हल्दी, शख, कुष्ठ, मयद, नीम, सोठ, कोट, इमली, शक्कर, वज्र, मक्खन, लोहा, पत्र, बर्फ, अग्नि, तैल आदि के वर्ण, रस, गध और स्पर्श की चर्चा है। ये सब व्यावहारिक नय की अपेक्षा से मधुरता अथवा कटुता आदि से युक्त हैं किन्तु नैश्चयिक नय की दृष्टि से पाचों वर्णों, पाचो रसो, दोनों गधों एव आठो स्पर्शो से युक्त हैं। परमाणु-पुद्गल में एक वर्ण, एक गध, एक रस और दो स्पर्श हैं। इसी प्रकार द्विप्रदेशिक, त्रिप्रदेशिक, चतुष्प्रदेशिक, पचप्रदेशिक आदि पुद्गलों के विषय में चर्चा है।

मद्रुक श्रमणोपासक :

सातवें उद्देशक में बताया गया है कि राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य के आसपास कालोदायी, शैलोदायी, आदि अन्यतीर्थिक रहते थे। इन्होने मद्रुक नामक

श्रमणोपासक को अपने धर्माचार्य भगवान् महावीर को वंदन करने जाते हुए देखा एवं उसे मार्ग में रोककर पूछा कि तेरे धर्माचार्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—इन पांच अस्तिकायों की प्ररूपणा करते हैं, यह कैसे ? उत्तर में मद्दुक ने कहा कि जो वस्तु कार्य करती हो उसे कार्य द्वारा जाना जा सकता है तथा जो वस्तु वैसी न हो उसे हम नहीं जान सकते। इस प्रकार धर्मास्तिकायादि पांच अस्तिकायों को मैं नहीं जानता अतः देख नहीं सकता। यह सुनकर उन अन्यतीर्थिकों ने कहा कि अरे मद्दुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है कि इन पांच अस्तिकायों को भी नहीं जानता। मद्दुक ने उन्हें समझाया कि जैसे वायु के स्पर्श का अनुभव करते हुए भी हम उसके रूप को नहीं देख सकते, सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को सूंघते हुए भी उसके परमाणुओं को नहीं देख सकते, अरणि की लकड़ी में छिपी हुई अग्नि को जानते हुए भी उसे आंखों से नहीं देख सकते, समुद्र के उस पार रहे हुए अनेक पदार्थों को देखने में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार छद्मस्थ मनुष्य पंचास्तिकाय को नहीं देख सकता। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसका अस्तित्व ही नहीं। यह सुनकर कालोदायी आदि चुप हो गए। भगवान् महावीर ने श्रमणों के सामने मद्दुक श्रमणोपासक के इस कार्य की बहुत प्रशंसा की।

पुद्गल-ज्ञान

आठवें उद्देशक में यह बताया गया है कि सावधानी पूर्वक चलते हुए भावितात्मा अनगार के पांव के नीचे मुर्गी का बच्चा, बतख का बच्चा अथवा चींटी या सूक्ष्म कीट आकर मर जाय तो उसे ईर्यापथिकी क्रिया लगती है, साम्परायिकी क्रिया[1] नहीं। इसी उद्देशक में इस विषय की भी चर्चा है कि छद्मस्थ परमाणुपुद्गल को जानता व देखता है अथवा नहीं ? उत्तर में भगवान् ने बताया है कि कोई छद्मस्थ परमाणुपुद्गल को जानता है किन्तु देखता नहीं, कोई जानता भी नहीं और देखता भी नहीं। इस प्रकार द्विप्रादेशिक स्कन्ध से लेकर असंख्येय प्रादेशिक स्कन्ध तक समझना चाहिए। अनन्त प्रादेशिक स्कन्ध को कोई जानता है किन्तु देखता नहीं, कोई जानता नहीं परन्तु देखता है तथा कोई जानता भी नहीं और देखता भी नहीं। इसी प्रकार की चर्चा अवधिज्ञानी तथा केवली के विषय में भी की गई है। यहां जानने व देखने का क्या अर्थ है, इसके सम्बन्ध में पहले ज्ञान-दर्शन की चर्चा के प्रसंग पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

---

१ कषायजन्य प्रवृत्ति से साम्परायिक कर्म का बंध होता है जिससे भवभ्रमण करना पड़ता है।

यापनीय :

दसवें उद्देशक में वाणियग्राम नगर के निवासी सोमिल ब्राह्मण के कुछ प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने जवणिज्ज—यापनीय, जत्ता—यात्रा, अव्वाबाह—अव्याबाध, फासुयविहार—प्रासुकविहार आदि शब्दों का विवेचन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में यापनीय नामक एक सघ है जिसके मुखिया आचार्य शाकटायन थे। प्रस्तुत उद्देशक में आनेवाले 'जवणिज्ज' शब्द के साथ इस यापनीय सघ का सम्बन्ध है। विचार करने पर मालूम होता है कि 'जवणिज्ज' का 'यमनीय' रूप अधिक अर्थयुक्त एव सगत है जिसका सबध पाँच यमो के साथ स्थापित होता है। इस प्रकार का कोई अर्थ 'यापनीय' शब्द में से नहीं निकलता। विद्वानो को एतद्विषयक विशेष विचार करने की आवश्यकता है। यद्यपि वर्तमान में यह शब्द कुछ नया एव अपरिचित-सा लगता है किन्तु खारवेल के शिलालेख में 'जवणिज्ज' शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे इसकी प्राचीनता एव प्रचलितता सिद्ध होती है।

मास

सोमिल द्वारा पूछे गये प्रश्नो का सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त होने पर वह भगवान् का श्रमणोपासक हो गया। इस प्रसग पर 'मास' का विवेचन करते हुए महीनो के जो नाम गिनाये गये हैं वे श्रावण से प्रारम्भ कर आषाढ तक समाप्त किये गये हैं। इससे मालूम होता है कि उस समय श्रावण प्रथम मास माना जाता रहा होगा एव आषाढ अन्तिम मास।

विविध .

उन्नीसवें शतक में दस उद्देशक हैं लेश्या, गर्भ, पृथ्वी, महास्रव, चरम, द्वीप, भवनावास, निर्वृत्ति, करण और वाणव्यन्तर।

बीसवें शतक में भी दस उद्देशक हैं द्वीन्द्रिय, आकाश, प्राणवध, उपचय, परमाणु, अन्तर, बन्ध, भूमि, चरण और सोपक्रम जीव। प्रथम उद्देशक में दो इन्द्रियों वाले, जीवो की चर्चा है। द्वितीय में आकाशविषयक, तृतीय में हिंसा अहिंसा, सत्य-असत्य आदि विषयक, चतुर्थ में इन्द्रियोपचय विषयक, पचम में परमाणु पुद्गलविषयक, षष्ठ में दो नरको एव दो स्वर्गों के मध्य स्थित पृथ्वीकायिक आदि विषयक तथा सप्तम मे बन्धविषयक चर्चा है। अष्टम में कर्मभूमि के सम्बन्ध में विवेचन है। इसमें वर्तमान अवसर्पिणी के सब तीर्थंकरों के नाम गिनाये गये हैं। छठे तीर्थङ्कर का नाम पद्मप्रभ के बजाय सुप्रभ बताया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि कालिक श्रुत का विच्छेद कब हुआ तथा दृष्टिवाद का विच्छेद कब हुआ ? साथ ही यह भी बताया गया है कि भगवान्

वर्धमान—महावीर का तीर्थ कितने समय तक चलेगा ? उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाकुकुल, ज्ञातकुल और कौरवकुल के व्यक्ति इस धर्म में प्रवेश करते हैं तथा उनमें से कुछ मुक्ति भी प्राप्त करते हैं। यहाँ क्षत्रियो के केवल छ कुलो का ही निर्देश है। इससे यह मालूम होता है कि ये छ कुल उस समय विशेष उत्कृष्ट गिने जाते रहे होगे। नवम उद्देशक में चारण मुनियों की चर्चा है। चारण मुनि दो प्रकार के हैं : विद्याचारण और जंघाचारण। उग्र तप से प्राप्त होने वाली आकाशगामिनी विद्या का नाम विद्याचारण लब्धि है। जघाचरण भी एक प्रकार की लब्धि है जो इसी प्रकार के तप से प्राप्त होती है। इन लब्धियों से सम्पन्न मुनि आकाश में उडकर बहुत दूर तक जा सकते हैं। दशम उद्देशक में यह बताया गया है कि कुछ जीवों का आयुष्य आघात-जनक विघ्न से टूट जाता है जबकि कुछ का इस प्रकार का विघ्न होने पर भी नहीं टूटता।

इक्कीसवें, बाईसवें व तेईसवें शतक में विविध प्रकार की वनस्पतियों एव वृक्षो के विषय में चर्चा है।

चौबीसवें शतक में चौबीस उद्देशक हैं। इनमें उपपात, परिमाण, संघयण, ऊँचाई, संस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, अज्ञान, योग, उपयोग, सज्ञा, कषाय, इन्द्रिय, समुद्घात, वेदना, वेद, आयुष्य, अध्यवसान, अनुबंध एवं कालसंवेध पदो द्वारा समस्त प्रकार के जीवो का विचार किया गया है।

पचीसवें शतक में लेश्या, द्रव्य, सस्थान, युग्म, पर्यव, निर्ग्रन्थ, श्रमण, ओघ, भव्य, अभव्य, सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी नामक बारह उद्देशक हैं। इनमें भी जीवों के विविध स्वरूप के विषय में चर्चा है। निर्ग्रन्थ नामक षष्ठ उद्देशक में निम्नोक्त ३६ पदों द्वारा निर्ग्रन्थो के विषय में विचार किया गया है : १ प्रज्ञापना, २ वेद, ३. राग, ४ कल्प, ५ चारित्र, ६ प्रतिसेवना, ७ ज्ञान, ८ तीर्थ, ९. लिंग, १० शरीर, ११ क्षेत्र, १२ काल, १३. गति, १४ सयम, १५ निकर्ष-निगास अथवा सनिगास-सनिकर्ष, १६ योग, १७ उपयोग, १८ कषाय, १९ लेश्या, २० परिणाम, २१ बध, २२ वेदन, २३ उदीरणा, २४ उपसंपदाहानि, २५ सज्ञा, २६. आहार, २७. भव, २८ आकर्ष, २९. काल, ३० अतर, ३१ समुद्घात, ३२. क्षेत्र, ३३ स्पर्शना ३४ भाव, ३५ परिमाण, एव ३६ अल्पबहुत्व। यहा निर्ग्रन्थो के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ एव स्नातक के रूप में पाँच भेद कर प्रत्येक भेद का उपर्युक्त ३६ पदो द्वारा विचार किया गया है। यहा यह बताया गया है कि बकुश एव कुशील किसी अपेक्षा से जिनकल्पी भी होते हैं। निर्ग्रन्थ तथा स्नातक कल्पातीत होते हैं।

इस उद्देशक में दस प्रकार की सामाचारी तथा दस प्रकार के प्रायश्चित्तों के भी नाम गिनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त जैन परिभाषा में प्रचलित अन्य अनेक तथ्यों का इसमें निरूपण हुआ है

छब्बीसवें शतक में भी इसी प्रकार के कुछ पदों द्वारा जीवों के बन्धन के विषय में चर्चा की गई है। इस शतक का नाम बन्धशतक है।

सत्ताईसवें शतक में पापकर्म के विषय में चर्चा है। इस शतक का नाम करिंसु शतक है। इसमें ग्यारह उद्देशक हैं।

अट्ठाईसवें शतक में कर्मोपार्जन के विषय में विचार किया गया है। इस शतक का नाम कर्मसमर्जन है।

उनतीसवें शतक में कर्मयोग के प्रारम्भ एवं अन्त का विचार है। इस शतक का नाम कर्मप्रस्थापन है।

तीसवें शतक में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी एवं विनयवादी की अपेक्षा से समस्त जीवों का विचार किया गया है। जो जीव शुक्ललेश्या वाले हैं वे चार प्रकार के हैं। लेश्यारहित जीव केवल क्रियावादी हैं। कृष्णलेश्या वाले जीव क्रियावादी के अतिरिक्त तीनों प्रकार के हैं। नारकी चारों प्रकार के हैं। पृथ्वीकायिक केवल अक्रियावादी एवं अज्ञानवादी हैं। इसी प्रकार समस्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय के विषय में समझना चाहिए। मनुष्य एवं देव चार प्रकार के हैं। ये चारों वादी भवसिद्धिक हैं अथवा अभवसिद्धिक, इसकी भी चर्चा की गई है। इस शतक में ग्यारह उद्देशक हैं। इसका नाम समवसरण शतक है।

इकतीसवें शतक में फिर युग्म की चर्चा है। यह अन्य ढङ्ग से है। इस शतक का नाम उपपात शतक है। इसमें २८ उद्देशक हैं।

बत्तीसवें शतक में भी इसी प्रकार की चर्चा है। यह चर्चा उद्वर्तना सम्बन्धी है। इसीलिए इस शतक का नाम उद्वर्तना शतक है। इसमें भी २८ उद्देशक हैं।

तैंतीसवें शतक में एकेन्द्रिय जीवों के विषय में विविध प्रकार की चर्चा है। इस शतक में उद्देशक नहीं अपितु अन्य बारह शतक (उपशतक) हैं। यह इस शतक की विशेषता है।

चौंतीसवें शतक में भी इसी प्रकार की चर्चा एवं अवान्तर शतक हैं।

पैंतीसवें शतक में कृतयुग्म आदि की विभिन्न नयपूर्वक चर्चा की गई है। यह चर्चा एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में है। छत्तीसवें शतक में इसी प्रकार की चर्चा द्वीन्द्रिय जीवों के विषय में है।

इसी प्रकार सैंतीसवें, अड़तीसवें, उनचालीसवें एवं चालीसवें शतक में क्रमशः त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय एवं संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के विषय में चर्चा है।

इकतालीसवें शतक में युग्म की अपेक्षा से जीवो की विविध प्रवृत्तियो के विषय में चर्चा की गई है। इस शतक में १९६ उद्देशक हैं। इसका नाम राशियुग्म शतक है। यह व्याख्याप्रज्ञप्ति का अन्तिम शतक है।

उपसहार •

इस अग में कुछ बातें बार-बार आती हैं। इसका कारण स्थानभेद, पृच्छकभेद तथा कालभेद है। कुछ बातें ऐसी भी हैं जो समझ में ही नही आती। उनके बारे में वृत्तिकार ने भी विशेष स्पष्टीकरण नही किया है इस अग पर चूर्णि, अवचूरिका तथा लघुटीका भी उपलब्ध है। चूर्णि तथा अवचूरिका अप्रकाशित हैं।

ग्रन्थ के अन्त में एक गाथा द्वारा गुणविशाल सघ का स्मरण किया गया है तथा श्रुतदेवता की स्तुति की गई है। इसके बाद सूत्र के अध्ययन के उद्देशों को लक्ष्य कर समय का निर्देश किया गया है। अन्त में गौतमादि गणधरो को नमस्कार किया गया है। वृत्तिकार के कथनानुसार इसका सम्बन्ध किसी प्रतिलिपिकार के साथ है। अन्त ही अन्त में शान्तिकर श्रुतदेवता का स्मरण किया गया है। साथ ही कुम्भधर, ब्रह्मशान्तियक्ष, वैरोटया विद्यादेवी तथा अतहुडी नामक देवी को याद किया गया है। प्रतिलिपिकार ने निर्विघ्नता के लिए इन सब की प्रार्थना की है। इनमें से अतहुडी नाम के विषय में कुछ पता नही लगता।



सप्तम प्रकरण

ज्ञाताधर्मकथा

ज्ञाताधर्मकथा[1] का उपोद्घात विपाकसूत्र के उपोद्घात के ही समान है। इसमें सुधर्मास्वामी के 'ओयसी तेयसी चउणाणोवगते चोद्दसपुव्वी' आदि अनेक विशेषण उपलब्ध हैं। यहाँ 'विहरति' क्रियापद का तृतीय पुरुष में प्रयोग हुआ है। सुधर्मास्वामी के वर्णन के बाद जो जंबूस्वामी का वर्णन आता है उसमें भी 'घोरतवस्सी' आदि अनेक विशेषणों का प्रयोग हुआ है। यहाँ भी क्रियापद का प्रयोग तृतीय पुरुष में ही हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि यह उपोद्घात भी सुधर्मा व जम्बू के अतिरिक्त किसी अन्य गीतार्थ महानुभाव ने बनाया है।

प्रस्तुत अंगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञातरूप—उदाहरण रूप उन्नीस अध्ययन हैं तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाओं के दस वर्ग हैं। इन वर्गों में चमर, बलि, चन्द्र, सूर्य, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र आदि की पटरानियों के पूर्वभव की कथाएँ हैं। ये पटरानियाँ अपने पूर्वभव में भी स्त्रियाँ थीं। इनके जो नाम यहाँ दिये गये हैं वे सब पूर्वभव के ही नाम हैं। इस प्रकार इनके मनुष्यभव के ही नाम देवलोक में भी चलते हैं।

प्रथम अध्ययन 'उक्खित्तणाय' में अनेक विशिष्ट शब्द आए हैं—रायगृह, जवणिया (यवनिका—परदा), अट्ठारस सेणीप्पसेणीओ, गण, गणनायक, बहत्तर

---

1 (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९; आगम-संग्रह, कलकत्ता, सन् १८७६; सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, सन् १९५१–१९५२

(आ) गुजराती छायानुवाद—पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३१

(इ) हिन्दी अनुवाद—मुनि प्यारचंद, जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम, वि स १९९५

(ई) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६३

(उ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि हैदराबाद, वी स २४४६

(ऊ) गुजराती अनुवादसहित (अध्ययन १-८)—जेठालाल, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि स० १९८५

कला, अट्ठारसविहिप्पगारदेसीभासा, उग्र, भोग, राजन्य, मल्लिकी, लेच्छकी—लिच्छवी, कुत्तियावण, विपुलपर्वत इत्यादि। इन शब्दो से तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का बोध होता है।

कारागार :

प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में कारागार का विस्तृत वणन है। इसमे कारागार की भयकर यातनाओ का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इस कथा में यह भी बताया गया है कि आज की तरह उस समय के माँ-बाप भी बालकों को गहने पहना कर बाहर भेजते थे जिससे उनकी हत्या तक हो जाती थी। राज्य के छोटे से अपराध में फँसने पर भी सेठ को कारावास भोगना पडता था, यह इस कथा में स्पष्ट बताया गया है। इसमे यह भी बताया गया है कि पुत्र-प्राप्ति के लिए माताएँ किस प्रकार विविध देवो की विविध मनौतियाँ मनाती थी। इस कथा से यह मालूम पडता है कि कारागार में भोजन घर से ले जाने दिया जाता था। भोजन ले जाने के साधन का नाम भोजनपिटक है। वृत्तिकार के कथनानुसार यह बास का बना होता है। इस भोजनपिटक को मुहर—छाप लगाकर व चिह्नित करके कारागार में भेजा जाता था। भोजनपिटक के साथ पानी का घडा भी भेजा जाता था। कारागार से छूटने के बाद सेठ आलकारिक सभा में जाकर हजामत बनवा कर सज्जित होता है। मालूम होता है उस समय कारागार में हजामत बनवाने का प्रबन्ध नही था। हजामत की दुकान के लिए प्रस्तुत कथा में 'आलकारिक सभा' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह कथा रूपक अथवा दृष्टान्त के रूप में है। इसमें सेठ अपने पुत्र के घातक चोर के साथ बाँधा जाता है। सेठ आत्मारूप है तथा अन्य चोर देहरूप है। शत्रुरूप चोर की सहायता प्राप्त करने के लिए सेठ उसे खाने-पीने को देता था। इसी प्रकार शरीर को सहायक समझ कर उसका पोषण करना प्रस्तुत कथानक का सार है। एतद्विषयक विशेष समीक्षा मैंने अपनी पुस्तक 'भगवान महावीरनी धर्मकथाओ' में की है।

तृतीय अंड—अडा नामक तथा चतुर्थ कूर्म नामक अध्ययन के विशेष शब्द ये हैं—मयूरपोषक, मयगतीर—मृतगगा इत्यादि। ये दोनो अध्ययन मुमुक्षुओ के लिए बोधदायक हैं।

शैलक मुनि :

पाँचवें अध्ययन में शैलक नामक एक मुनि की कथा आती है। शैलक बीमार हो जाता है। उसे स्वस्थ करने के लिए वैद्य औषधि के रूप में मद्य पीने की सिफारिश करते हैं। वह मुनि मद्य तथा अन्य प्रकार के स्वास्थ्यप्रद भोजन का उपयोग कर स्वस्थ हो जाता है। स्वस्थ होने के बाद वह रस में आसक्त

होकर मद्यादि का त्याग नही करता। यह देख कर पथक नामक उसका शिष्य विनयपूर्वक उसे मार्ग पर लाता है एव शैलक मुनि पुन सदाचार सम्पन्न एव तपस्वी वन जाता है। जिस ढग से पथक ने अपने गुरु को जाग्रत किया उस प्रकार के विनय की वर्तमान में भी कभी-कभी आवश्यकता होती है।

इस अध्ययन में षष्टितत्र, रेवतक पर्वत वगैरह विशिष्ट शब्द आए हैं।

शुक परिव्राजक

इसी अध्ययन में एक शुक परिव्राजक की कथा आती है। वह अपने धर्म को शौचप्रधान मानता है। वह परिव्राजक सौगधिका नगरी का निवासी है। इस नगरी में उसका मठ है। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एव अथर्ववेद का ज्ञाता है, षष्टितन्त्र में कुशल है, साख्यमत में निपुण है, पाँच यम एव पाँच नियम युक्त शौचमूलक दस प्रकार के धर्म का निरूपण करने वाला है, दानधर्म, शौचधम एव तीर्थाभिषेक को समझाने वाला है, धातुरक्त वस्त्र पहनता है। उसके उपकरण ये हैं त्रिदड, कुडिका, छत्र, करोटिका, कमडल, रुद्राक्षमाला, मृत्तिकाभाजन, त्रिकाष्ठिका, अकुश, पवित्रक—ताँबे की अगूठी, केसरी—प्रमार्जन के लिए वस्त्र का टुकडा। वह साख्य के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है। सुदशन नामक कोई गृहस्थ उसका अनुयायी था जो जैन तीर्थंकर के परिचय में आकर जैन हो गया था। उसे पुन अपने मत मे लाने के लिए शुक उसके पास जाता है। वृत्तिकार ने इस शुक को व्यास का पुत्र कहा है।

शुक कहता है कि शौच दो प्रकार का है द्रव्यशौच और भावशौच। पानी व मिट्टी से होने वाला शौच द्रव्यशौच है तथा दर्भ व मत्र द्वारा होने वाला शौच भावशौच है। जो अपवित्र होता है वह शुद्ध मिट्टी व जल से पवित्र हो जाता है। जीव जलाभिषेक करने से स्वर्ग में जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत कथा में वैदिक कमकाण्ड का थोडा-सा परिचय मिलता है।

जब शुक को मालूम पडा कि सुदर्शन किसी अन्य मत का अनुयायी हो गया है तो उसने सुदर्शन से पूछा कि हम तुम्हारे धर्माचार्य के पास चलें और उससे कुछ प्रश्न पूछें। यदि वह उनका ठीक उत्तर देगा तो मैं उसका शिष्य हो जाऊँगा। सुदर्शन के धर्माचार्य ने शुक द्वारा पूछे गये प्रश्नो का सही उत्तर दे दिया। शुक अपनी शर्त के अनुसार जैनाचार्य का शिष्य हो गया। उसने अपने पूर्व उपकरणो का त्याग कर चोटी उखाड ली। वह पुण्डरीक पर्वत पर जाकर अनशन करके सिद्ध हुआ। मूल सूत्र मे पुंडरीक पवत की विशिष्ट स्थिति के विषय मे कोई उल्लेख नही है। वृत्तिकार ने इसे शत्रुजय पवत कहा है। प्रस्तुत प्रकरण मे जैन साधु के पचमहाव्रत आदि आचार को एव जैन गृहस्थ के अणुव्रत

आदि आचार को विनय कहा गया है। विनयपिटक आदि बौद्ध ग्रन्थो में विनय शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है।

शुक-परिव्राजक की कथा में यापनीय, सरिसवय, कुलत्य, मास इत्यादि द्व्यर्थक शब्दो की भी अतीव रोचक चर्चा हुई है।

थावच्चा सार्थवाही :

प्रस्तुत पाँचवें अध्ययन की इस कथा में थावच्चा नामक एक सार्थवाही का कथानक आता है। वह लौकिक एव राजकीय व्यवहार व व्यापार आदि में कुशल थी। इससे स्पष्ट मालूम पडता है कि कुछ स्त्रियाँ भी पुरुष के ही समान व्यापारिक एव व्यावसायिक कुशलता वाली थीं। इस ग्रन्थ में आनेवाली रोहिणी की कथा भी इस कथन की पुष्टि करती है। इस कथा में कृष्ण के राज्य की सीमा वैताढ्य पर्वत के अन्त तक बताई गई है। यह वैताढ्य पवत कौनसा है व कहाँ स्थित है ? एतद्विपयक अनुसधान की आवश्यकता है।

छठें अध्ययन का नाम 'तुंब' है। तुब की कथा शिक्षाप्रद है।

सातवें अध्ययन में जैसी रोहणी की कथा आती है वैसी ही कथा बाइबिल के नये करार में मथ्युकी और ल्यूक के सवाद में भी उपलब्ध होती है और आठवें अध्ययन में आई हुई रोहणी तथा मल्लि की कथा में स्त्रीजाति के प्रति विशेष आदर तथा उनके सामर्थ्य, चातुर्य आदि उत्तमोत्तम गुण भी वर्णित हैं।

चोक्खा परिव्राजिका

आठवें अध्ययन के मल्लि के कथानक में चोक्खा नामक एक साख्यमतानुयायिनी परिव्राजिका का वर्णन आता है। यह परिव्राजिका वेदादि शास्त्रो में निपुण थी। उसकी कुछ शिष्याएँ भी थी। इनके रहने के लिए मठ था।

चीन एव चीनी

मल्लि अध्ययन में "चीणचिमिढवकभग्गनास" इस वाक्य द्वारा किये गए पिशाच के रूप वर्णन के प्रसंग पर अनेक बार 'चीन' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग नाक की छुटाई के सन्दर्भ में किया गया है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि कथा के समय में चीनी लोग इस देश में आ पहुँचे हो।

डूबती नौका

नवें अध्ययन में आई हुई माकंदी की कथा में नौका का विस्तृत वर्णन है। इसमें नावसम्बन्धी समस्त साधन-सामग्री का विस्तार से परिचय दिया गया है। इस नवम अध्ययन में समुद्र में डूबती हुई नाव का जो वर्णन है वह कादम्बरी जैसे ग्रन्थ में उपलब्ध डूबती नौका के वर्णन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। यह वर्णन काव्यशैली का सुन्दर नमूना है।

दसवें तथा ग्यारहवें अध्ययन की कथाएँ उपदेशप्रद हैं।

उदकज्ञात

बारहवें अध्ययन उदकज्ञात में गटर के गन्दे पानी को साफ करने की पद्धति बताई हुई हैं। यह पद्धति वतमानकालीन फिल्टरपद्धति से मिलती-जुलती है। इस कथानक का आशय यह है कि पुद्गल के अशुद्ध परिणाम से घृणा करने की आवश्यकता नही है।

तेरहवें अध्ययन में नदमणियार की कथा आती है। इसमें लोगो के आराम के लिए नदमणियार द्वारा पुष्करिणी बनवाने की कथा अत्यन्त रोचक है और साथ-साथ चार उद्यान बनवाकर उनमें से एक उद्यान में चित्रसभा तथा लोगो के श्रम को दूर करने के लिए सगीतशाला और दूसरे में जलयत्रो से सुशोभित पाकशाला, तीसरे उद्यान में एक अच्छा बडा औषधालय बनवाया गया था जिसमे अच्छे वैद्य भी रखे गए थे और चौथे उद्यान में आमजनता के लिए एक आलकारिक सभा बनवाई गई थी। इस कथा में रोगो के नाम तथा उनके उपचार के लिए विविध प्रकार के आयुर्वेदिक उपाय भी सूचित किए गए हैं।

चौदहवें तेयलि अमात्य के अध्ययन में जो बातें मिलती हैं वे आवश्यक-चूर्णि में भी बताई गई हैं।

विविध मतानुयायी

नदीफल नामक पद्रहवें अध्ययन में एक सघ के साथ विविध मत वालो के प्रवास का उल्लेख है। उन मत वालो के नाम ये हैं —

चरक—त्रिदडी अथवा कछनीधारी—कौपीनधारी—तापस।

चीरिक—गली में पडे हुए चीथडो से कपडे बनाकर पहननेवाले सन्यासी।

चमखडिक—चमडे के वस्त्र पहनने वाले अथवा चमडे के उपकरण रखने वाले सन्यासी।

भिच्छुंड—भिक्षुक अथवा बौद्धभिक्षुक।

पंडुरग—शिवभक्त अर्थात शरीर पर भस्म लगाने वाले।

गौतम—अपने साथ बैल रखने वाले भिक्षुक।

गोव्रती—रघुवश में वर्णित राजा दिलीप की भाँति गोव्रत रखने वाले।

गृहधर्मी—गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ मानने वाले।

धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाले।

अविरुद्ध—किसी के प्रति विरोध न रखने वाले अर्थात् विनयवादी।

विरुद्ध—परलोक का विरोध करने वाले अथवा समस्त मतो के साथ विरोध रखने वाले।

वृद्ध—वृद्धावस्था में में सन्यास लेने में विश्वास रखने वाले।

श्रावक—धर्म का श्रवण करने वाले।

रक्तपट—रक्तवस्त्रधारी परिव्राजक ।

यहाँ जो अर्थ दिये गये हैं वे इस कथासूत्र की वृत्ति के अनुसार हैं। इस विषय में विशेष अनुसधान की आवश्यकता हो सकती है ।

दयालु मुनि :

सोलहवें 'अवरकका' नामक अध्ययन मे एक ब्राह्मणी द्वारा एक जैन मुनि को कडवी तुबी का शाक दिये जाने की घटना है। इसमें ब्राह्मण एव श्रमण का विरोधी हो काम करता है । इस घटना से स्पष्ट मालूम पडता है कि इस विरोध की जड़ें कितनी गहरी हैं। मुनि चीटियो पर दया लाकर उस कडुए शाक को जमीन पर न डालते हुए खुद ही खा जाते हैं एव परिणामत मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

इस अध्ययन में वर्णित पारिष्ठापनिकासमिति का स्वरूप विशेष विचारणीय है ।

पाण्डव-प्रकरण

प्रस्तुत कथा में सुकुमालिका नामक एक ऐसी कन्या की बात आती है जिसके शरीर का स्पर्श स्वाभाविकतया दाहक था। इसमें एक विवाह करने के बाद दामाद के जीवित होते हुए भी कन्या का दूसरा विवाह करने की पद्धति का उल्लेख है। इसमें द्रौपदी के पाच पति कैसे हुए इसकी विचित्र कथा है। महाभारत में भी व्यास मुनि द्वारा कही हुई इस प्रकार की और दो कथाओ का उल्लेख है। यहाँ नारद का भी उल्लेख है। उसे कलह-कुशल के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें लोक-प्रचलित कथा कूपमडूक का भी दृष्टान्त के रूप में उपयोग किया गया है। पाडव कृष्ण के बल की परीक्षा किस प्रकार करते हैं, इसका एक नमूना प्रस्तुत ग्रंथ में मिलता है। कथाकार द्रौपदी का पूर्वभव बतलाते हुए कहते हैं कि वह अपने पूर्वजन्म में स्वच्छन्द जैन साध्वी थी तथा कामसकल्प से घिरी हुई थी। उसे अस्नान के कठोर नियम के प्रति घृणा थी। वह बार-बार अपने हाथ-पैर आदि अगो को धोया करती तथा विना पानी छीटे कही पर बैठती-सोती न थी। यह साध्वी मरकर द्रौपदी बनी। उसके प्राचीन कामसकल्प के कारण उसे पाँच पति प्राप्त हुए। इस कथा में कृष्ण के नरसिंहरूप का भी उल्लेख है। इससे मालूम पडता है कि नरसिंहावतार की कथा कितनी लोकव्यापक हो गई थी। इस कथा में यह भी उल्लेख है कि कृष्ण ने अप्रसन्न होकर पाडवो को देशनिकाला दिया था। पाडवो ने निर्वासित अवस्था में पाडुमथुरा बसाई जो वर्तमान में दक्षिण में मथुरा के नाम से प्रसिद्ध है। इस कथा में शत्रुजय तथा उज्जयन्त—गिरनार पर्वत का भी उल्लेख एक साधारण पर्वत की तरह है। शत्रुजय पर्वत हस्तकल्प नगर के पास बताया गया है। वर्तमान 'हाथप' हस्तकल्प का ही परिवर्तित रूप प्रतीत होता है। शिलालेखों में इसे 'हस्तवप्र' कहा गया गया है।

आइण्ण—आजन्न—आजन्य—उत्तम घोडो—की कथा जिसमें आती है उस सत्रहवे अध्ययन में मच्छडिका, पुप्पोत्तर और पद्मोत्तर नाम की तीन प्रकार की शक्कर की चर्चा की गई है तथा उसके प्रलोभन में फँसने वालो की कैसी दुर्दशा होती है, यही बताने का इस कथा का आशय है।

सुसुमा

सुसुमा नामक अठारहवें अध्ययन में असाधारण परिस्थिति उपस्थित होने पर जिस प्रकार माता-पिता अपनी सतान के मृत शरीर का मास खाकर जीवन रक्षा कर सकते है इसी प्रकार पट्काय के रक्षक व जीवमात्र के माता-पिता के समान जैन श्रमण-श्रमणियाँ असाधारण परिस्थितियो में ही आहार का उपभोग करते हैं। उनके लिए आहार अपनी सतान के मृत शरीर के मास के समान है। उन्हें रसास्वादन की दृष्टि से नहीं अपितु सयम-साघनरूप शरीर की रक्षा के निमित्त ही असह्य क्षुधा-वेदना होने पर ही आहार ग्रहण करना चाहिए, ऐसा उपदेश है। बौद्ध ग्रन्थ सयुत्तनिकाय मे इसी प्रकार की कथा इसी आशय से भगवान् बुद्ध ने कही है। विशुद्धिमार्ग तथा शिक्षासमुच्चय में भी इसी कथा के अनुसार आहार का उद्देश्य बताया गया है। स्मृतिचद्रिका में भी बताया गया है कि मनुस्मृति में वर्णित त्यागियो से सम्बन्धित आहार-विधान इसी प्रकार का है।

इस प्रकार प्रस्तुत कथा-ग्रन्थ की मुख्य तथा अवान्तर कथाओ में भी अनेक घटनाओ, विविध शब्दों एव विभिन्न वर्णनों से प्राचीनकालीन अनेक बातो का पता लगता है। इन कथाओ का तुलनात्मक अध्ययन करने पर सस्कृति व इतिहास सम्बन्धी अनेक तथ्यों का पता लग सकता है।



अष्टम प्रकरण

उपासकदशा

सातवें अग उपासकदशा[1] में भगवान् महावीर के दस उपासकों—श्रावकों की कथाएँ हैं। 'दशा' शब्द दस सख्या एव अवस्था दोनों का सूचक है। उपासक-दशा में उपासको की कथाएँ दस ही हैं अत दस सख्यावाचक अर्थ उपयुक्त है। इसी प्रकार उपासको की अवस्था का वर्णन करने के कारण अवस्थावाची अर्थ भी उपयुक्त ही है।

इस अग का उपोद्घात भी विपाक के ही समान है अत' यह कहा जा सकता है कि उतना उपोद्घात का अश बाद में जोडा गया है।

स्थानांग में उपासकदशाग के दस अध्ययनों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं: आनद, कामदेव, चूलणिपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुडकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नदिनीपिता और सालतियापिया—सालेयिकापिया। दसवाँ नाम उपासकदशाग मे सालिहीपिया है जबकि स्थानाग में सालतियापिया अथवा सालेयि-कापिता है। कुछ प्राचीन हस्तप्रतियो में लतियापिया, लत्तियपिया, लतिणीपिया, लेतियापिया आदि नाम भी मिलते हैं। इसी प्रकार नंदिणीपिया के बजाय ललिताकपिया तथा सालेइणीपिया नाम भी आते हैं। इस प्रकार इन नामों में काफी हेरफेर हो गया है। समवायाग में अध्ययनो की ही सख्या दी है, नामो को

१, (अ) अभयदेवकृत टीकासहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०, धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी एल वैद्य, पूना, सन् १९३०

(इ) अंग्रेजी अनुवाद आदि के साथ—Hoernle, Bibliotheca Indica, Calcutta, 1885-1888

(ई) गुजराती छायानुवाद—पूजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३१.

(उ) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६१

(ऊ) अभयदेवकृत टीका के गुजराती अनुवाद के साथ—भगवानदास हर्षचन्द्र, अहमदाबाद, वि सं० १९९२

(ऋ) हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी सं २४४६

सूचना नही। इसी प्रकार नदीसूत्र में भी अध्ययन सख्या का ही उल्लेख है, नामों का नही।

इस अग का सटिप्पण अनुवाद प्रकाशित हुआ है। टिप्पणियाँ प्रस्तुत लेखक द्वारा ही लिखी गई है अत यहाँ एतद्विषयक विशेष विवेचन अनपेक्षित है।

मर्यादा-निर्धारण

प्रस्तुत सूत्र में आनेवाली कथाओ में सब श्रावक अपने खान-पान, भोगोपभोग एव व्यवसाय की मर्यादा निर्धारित करते है। इन्होंने घन की जो मर्यादा स्वीकार की है वह बहुत ही बडी मालूम होती है। खानपान की मर्यादा के अनुरूप ही सम्पत्ति की भी मर्यादा होनी चाहिए। ये श्रावक व्यापार, कृषि, व्याज का घघा एव अन्य प्रकार का व्यवसाय करते रहते हैं। ऐसा करने पर घन बढता ही जाना चाहिए। इस बढे हुए घन के उपयोग के विषय में सूत्र में किसी प्रकार का विशेष उल्लेख नही है। उदाहरणार्थ गायों की मर्यादा दस हजार अथवा इससे अधिक रखी है। अब उन गायों के नये-नये बछडे-बछडियाँ होने पर उनका क्या होगा? निर्धारित सख्या में वृद्धि होने पर व्रतभग होगा अथवा नही? व्रतभग की स्थिति पैदा होने पर बढी हुई सम्पत्ति का क्या उपयोग होगा?

आनन्द श्रावक के उनकी पत्नी एव एक पुत्र था। इस प्रकार वे तीन व्यक्ति थे। आनन्द ने सम्पत्ति की जो मर्यादा रखी वह इस प्रकार है हिरण्य की चार कोटि मुद्राएँ निधान में सुरक्षित, चार कोटि वृद्धि के लिए गिरवी आदि हेतु, एव चार कोटि व्यापार के लिए, दस-दस हजार गायों के चार व्रज, पाच सौ हलों से जोती जा सके उतनी जमीन, देशान्तरगामी पाच सौ शकट व उतने ही अनाज आदि लाने के लिए, चार यानपात्र—नौका देशान्तरगामी व चार ही नौका घर के उपयोग के लिए। उसने खान-पान की जो मर्यादा रखी वह साधारण है।

वर्तमान मे भी श्रावकलोग खान-पान के अमुक नियम रखते हुए पास में अत्यधिक परिग्रह व धनसम्पत्ति रखते है। कुछ लोग परिग्रह की मर्यादा करने के बाद धन की वृद्धि होने पर उसे अपने स्वामित्व में न रखते हुए स्त्री-पुत्रादिक के नाम पर चढा देते हैं। इस प्रकार छोटी-छोटी चीजो का तो त्याग होता रहता है किन्तु महादोषमूलक धनसचय का काम बन्द नही होता।

विघ्नकारी देव

सूत्र में श्रावको की साधना में विघ्न उत्पन्न करने वाले भूत-पिशाचो का भयकर वर्णन है। जब ये भूतपिशाच विघ्न पैदा करने आते हैं तब केवल श्रावक

ही उन्हें देख सकते हैं, घर के अन्य लोग नही। ऐसा क्यों ? क्या यह नही कहा जा सकता कि यह सब उन श्रावकों की केवल मनोविकृति है ? एतद्विषयक विशेष मनोवैज्ञानिक अनुसधान की आवश्यकता है। वैदिक एव बौद्ध परम्परा में भी इस प्रकार के विघ्नकारी देवो-दानवो व पिशाचो की कथाएँ मिलती हैं।

मासाहारिणी स्त्री व नियतिवादी श्रावक :

इस अगग्रन्थ में एक श्रावक की मासाहारिणी स्त्री का वर्णन है। इस श्रावक की तेरह पत्नियाँ थी। तेरहवी मासाहारिणी पत्नी रेवती ने अपनी बारह सौतो की हत्या कर दी थी। वह अपने पीर से गाय के बछड़ों का मास मँगवा कर खाया करती थी। इस सूत्र में एक कुम्भकार श्रावक का भी वर्णन है जो मखलिपुत्र गोशालक का अनुयायी था। बाद में भगवान् महावीर ने उसे युक्तिपूर्वक अपना अनुयायी बना लिया था। इस ग्रथ में कुछ हिंसाप्रधान धधो का श्रावको के लिए निषेध किया गया है, जैसे शस्त्र बनाना, शस्त्र बेचना, विष बेचना, बाल का व्यापार करना, गुलामों का व्यापार करना आदि। एतद्विषयक विशेष समीक्षा 'भगवान् महावीरना दश उपासको' नामक पुस्तक में दिये हुए उपोद्घात एव टिप्पणियों मे देखी जा सकती है।

आनन्द का अवधिज्ञान :

श्रावक को अवधिज्ञान किस हद तक हो सकता है, इस विषय में आनन्द व गौतम के बीच चर्चा है। आनन्द श्रावक कहता है कि मेरी बात ठीक है जबकि गौतम गणधर कहते हैं कि तुम्हारा कथन मिथ्या है। आनन्द गौतम की बात मानने को तैयार नही होता। गौतम भगवान् महावीर के पास आकर इसका स्पष्टीकरण करते हैं एव भगवान् महावीर की आज्ञा से आनन्द के पास जाकर अपनी गलती स्वीकार कर उससे क्षमायाचना करते हैं। इससे गौतम की विनीतता एव ऋजुता तथा आनन्द की निर्भीकता एव सत्यता प्रकट होती है।

उपसहार :

विद्यमान अगसूत्रो व अन्य आगमों में प्रधानत श्रमण-श्रमणियो के आचारादि का निरूपण ही दिखाई देता है। उपासकदशाग ही एक ऐसा सूत्र है जिसमें गृहस्थ धर्म के सम्बन्ध मे विशेष प्रकाश डाला गया है। इससे श्रावक अर्थात् श्रमणोपासक के मूल आचार एव अनुष्ठान का कुछ पता लग सकता है। श्रमण-श्रमणी के आचार अनुष्ठान की ही भाति श्रावक-श्राविका के आचार-अनुष्ठान का निरूपण भी अनिवार्य है क्योकि ये चारो ही सघ के समान स्तम्भ हैं। वास्तव में

श्रमण-श्रमणियों की विद्यमानता का आधार भी एक दृष्टि से श्रावक श्राविकाएँ ही हैं। श्रावकसस्था के आधार के बिना श्रमणसस्था का टिकना सभव नहीं। श्रावकधर्म की भित्ति जितनी अधिक सदाचार व न्याय-नीति पर प्रतिष्ठित होगी, श्रमणधर्म की नींव उतनी ही अधिक दृढ होगी। इस विचार से श्रावक-श्राविकाओं के जीवनव्यवहार की व्यवस्था इसमें की गई है। गृहस्थकर्मों को केवल आरभ-समारभकारी कह देने से काम नही चलता अपितु गृहस्थधर्म में सदाचार एव सद्विचार की प्रतिष्ठा करना इसका उद्देश्य है।



नवम प्रकरण

अन्तकृतदशा

आठवाँ अंग अंतगडदसा[1] है। इसका संस्कृत रूप अंतकृतदशा अथवा अंतकृद्दशा है। अंतकृत अर्थात संसार का अंत करनेवाले। जिन्होंने अपने संसार अर्थात् भवचक्र—जन्ममरण का अंत किया है अर्थात् जो पुनः जन्म-मरण के चक्र में फँसनेवाले नहीं हैं ऐसी आत्माओं का वर्णन अन्तकृतदशा में उपलब्ध है। इसका उपोद्घात भी विपाकसूत्र के ही समान है।

दिगम्बर परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में अन्तकृतों के जो नाम मिलते हैं वे स्थानांग में उल्लिखित नामों से अधिकांशतया मिलते-जुलते हैं। स्थानांग में निम्नोक्त दस नामों का निर्देश है :—

नमी, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किंकम, पल्लतेतिय और फाल अंबडपुत्र।

समवायांग में अन्तकृतदशा के दस अध्ययन व सात वर्ग बताये गये हैं। नामों का उल्लेख नहीं है। नन्दीसूत्र में इस अंग के दस अध्ययन व आठ वर्ग बताये गये हैं। नामों का उल्लेख इसमें भी नहीं है।

वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृतदशा में न तो दस अध्ययन ही हैं और न उपर्युक्त नामवाले अन्तकृतों का ही वर्णन है। इसमें नन्दी के निर्देशानुसार आठ वर्ग हैं,

---

१. (अ) अभयदेवविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०; धनपत सिंह, कलकत्ता, सन् १८७५.
   (आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १९३२.
   (इ) अंग्रेजी अनुवाद—L D Barnett, 1907
   (ई) अभयदेवविहित वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. १९९०
   (उ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५८
   (ऊ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.
   (ऋ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९४०

समवाय के उल्लेखानुसार सात वग नही। उपलब्ध अन्तकृतदशा के प्रथम वर्ग में निम्नोक्त दस अध्ययन हैं —

गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, थिमिअ, अयल, कपिल्ल, अक्षोभ, पसेणई और विण्णु।

द्वारका-वर्णन :

प्रथम वग में द्वारका का वणन है। इस नगरो का निर्माण धनपति की योजना के अनुसार किया गया। यह किस प्रदेश में थी, इसका सूत्र में कोई उल्लेख नही है। द्वारका के उत्तर-पूर्व में रेवतक पवत, नन्दनवन एव सुरप्रिय यक्षायतन होने का उल्लेख है। राजा का नाम कृष्ण वासुदेव वताया गया है। कृष्ण के अधीन समुद्र-विजय आदि दस दशार्ह, बलदेव आदि पाँच महावीर, प्रद्युम्न आदि साढे तीन करोड कुमार, शाम्ब आदि माठ हजार दुर्दान्त, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा, रुक्मिणी आदि सोलह हजार देवियाँ—रानियाँ, अनग-सेना आदि सहस्रो गणिकाएँ व अन्य अनेक लोग थे। यहाँ द्वारका में रहने वाले अन्धकवृष्णि राजा का भी उल्लेख आता है।

अन्धकवृष्णि के गौतम आदि दस पुत्र सयम ग्रहण कर उसका पूणतया पालन करते हुए सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन कर अन्तकृत अर्थात मुक्त हुए। ये दसो मुनि शत्रुञ्जय पर्वत पर सिद्ध हुए।

द्वितीय वर्ग में इसी प्रकार के अन्य दस नाम हैं।

गजसुकुमाल :

तृतीय वर्ग में तेरह नाम हैं। नगर भद्दिलपुर है। गृहपति का नाम नाग व उसकी पत्नी का नाम सुलसा है। इसमें सामायिक आदि चौदह पूर्वों के अध्ययन का उल्लेख है। सिद्धिस्थान शत्रुञ्जय ही है। इन तेरह नामों में गज-सुकुमाल मुनि का भी समावेश है। कृष्ण के छोटे भाई गज की कथा इस प्रकार है —

छ मुनि थे। वे छहों समान आकृतिवाले, समान वयवाले एव समान वर्णवाले थे। वे दो-दो की जोडी में देवकी के यहाँ भिक्षा लेने गये। जब वे एक बार, दो बार व तीन बार आये तो देवकी ने सोचा कि ये मुनि बार-बार क्यो आते हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन मुनियों ने कहा कि हम बार-बार नहीं आते किन्तु हमसबकी समान आकृति के कारण तुम्हें ऐसा ही लगता है। हम छहो सुलसा के पुत्र हैं। मुनियों की यह बात सुन कर देवकी को कुछ स्मरण हुआ। उसे याद आया कि पोलासपुर नामक गाँव

में अतिमुक्तक नामक कुमारश्रमण ने मुझे कहा था कि तू ठीक एक समान आठ पुत्रों को जन्म देगी। देवकी ने सोचा कि उस मुनि का कथन ठीक नहीं निकला। वह एतद्विषयक स्पष्टीकरण के लिए तीर्थंकर अरिष्टनेमि के पास पहुँची। अरिष्टनेमि ने बताया कि अतिमुक्तक की बात गलत नहीं है। ऐसा हुआ है कि सुलसा के मृत बालक पैदा होते थे। उसने पुत्र देनेवाले हरिणेगमेसी देव की आराधना की। इससे उसने तेरे जन्मे हुए पुत्र उठाकर उसे सौंप दिये व उसके मरे हुए बालक लाकर तेरे पास रख दिये। इस प्रकार ये छ मुनि वस्तुत तेरे ही पुत्र हैं। यह सुनकर देवकी के मन में विचार हुआ कि मैंने किसी बालक का बचपन नहीं देखा अत अब यदि मेरे एक पुत्र हो तो उसका बचपन देखूँ। इस विचार से देवकी भारी चिन्ता में पड़ गई। इतने में कृष्ण वासुदेव देवकी को प्रणाम करने आये। देवकी ने कृष्ण को अपने मन की बात बताई। कृष्ण ने देवकी को सान्त्वना देते हुए कहा कि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मेरे एक छोटा भाई हो। इसके बाद कृष्ण ने पौषधशाला में जाकर तीन उपवास कर हरिणेगमेसी देव की आराधना की व उससे एक छोटे भाई की माँग की। देव ने कहा कि तेरा छोटा भाई होगा और वह छोटी उम्र में ही दीक्षित होकर सिद्धि प्राप्त करेगा। बाद में देवकी को पुत्र हुआ। उसी का नाम गज अथवा गजसुकुमाल है। गज का विवाह करने के उद्देश्य से कृष्ण ने चतुर्वेदज्ञ सोमिल ब्राह्मण की सोमा नामक कन्या को अपने यहाँ लाकर रखी। इतने में भगवान् अरिष्टनेमि द्वारका के सहस्राम्रवन उद्यान में आये। उनका उपदेश सुनकर माता-पिता की अनुमति प्राप्तकर गज ने दीक्षा अंगीकार की। सोमा ऐसी ही रह गई। सोमिल ने क्रोधित हो श्मशान में ध्यान करते हुए मुनि गजसुकुमाल के सिर पर मिट्टी की पाल बाँधकर धधकते अंगारे रखे। मुनि शान्त भाव से मृत्यु प्राप्त कर अन्तकृत हुए।

इस कथा में अनेक बातें विचारणीय हैं, जैसे पुत्र देनेवाला हरिणेगमेसी देव, क्षायिकसम्यक्त्वधारी कृष्ण द्वारा की गई उसकी आराधना और वह भी पौषधशाला में, देवकी के पुत्रों का अपहरण, अतिमुक्तक मुनि की भविष्यवाणी, भगवान् अरिष्टनेमि का एतद्विषयक स्पष्टीकरण आदि।

दयाशील कृष्ण :

तृतीय वर्ग में कृष्ण से सम्बन्धित एक विशिष्ट घटना इस प्रकार है —

एक बार वासुदेव कृष्ण सदलबल भगवान् अरिष्टनेमि को वंदन करने जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक वृद्ध मनुष्य को ईंटों के ढेर में से एक-एक ईंट उठाकर ले जाते हुए देखा। यह देखकर कृष्ण के हृदय में दया आई। उन्होंने भी ईंटें उठाना शुरु किया। यह देखकर साथ के सब लोग भी ईंटें उठाने लगे। देखते ही देखते

सब ईंटें घर में पहुँच गई। इससे उस वृद्ध मनुष्य को राहत मिली। वासुदेव कृष्ण का यह व्यवहार अति सहानुभूतिपूर्ण मनोवृत्ति का निर्देशक है।

चतुर्थ वर्ग में जाति आदि दस मुनियो की कथा है।

कृष्ण की मृत्यु

पाँचवें वर्ग में पद्मावती आदि दस अतकृत स्त्रियो की कथा है। इसमें द्वारका के विनाश की भविष्यवाणी भगवान् अरिष्टनेमि के मुख से हुई है। कृष्ण की मृत्यु की भविष्यवाणी भी अरिष्टनेमि द्वारा ही की गई है जिसमें बताया गया है कि दक्षिण समुद्र की ओर पाडुमथुरा जाते हुए कोसबी नामक वन में बरगद के वृक्ष के नीचे जराकुमार द्वारा छोडा हुआ बाण बायें पैर में लगने पर कृष्ण की मृत्यु होगी। इस कथा में कृष्ण ने यह भी घोषित किया है कि जो कोई दीक्षा लेगा उसके कुटुम्बियो का पालन-पोषण व रक्षण मैं करूँगा।

चौथे व पाँचवें वर्ग के अन्तकृत कृष्ण के ही कुटुम्बीजन थे।

अर्जुनमाली एवं युवक सुदर्शन

छठें वर्ग में सोलह अध्ययन है। इसमें एक मुद्गरपाणि यक्ष का विशिष्ट अध्ययन है। इसका सार इस प्रकार है —

अर्जुन नाम का एक माली था। वह मुद्गरपाणि यक्ष का बडा भक्त था। प्रतिदिन उसकी प्रतिमा की पूजा-अर्चना किया करता था। उस प्रतिमा के हाथ में लोहे का एक विशाल मुद्गर था। एक बार भोगलोलुप गुडो की एक टोली ने यक्ष के इस मन्दिर में अर्जुन को बाँध कर उसकी स्त्री के साथ अनाचारपूर्ण बरताव किया। उस समय अर्जुनमाली ने उस यक्ष की खूब प्रार्थना की एव अपने को तथा अपनी स्त्री को उन गुण्डो से बचाने की अत्यन्त आग्रहपूर्ण विनती की किन्तु काष्ठप्रतिमा कुछ न कर सकी। इससे वह समझा कि यह कोई शक्तिशाली यक्ष नही है। यह तो केवल काष्ठ है। जब वे गुण्डे चले गये एव अर्जुनमाली मुक्त हुआ तो उसने उस मूर्ति के हाथ में से लोहमुद्गर ले लिया एव उस मार्ग से गुजरनेवाले सात जनो को प्रतिदिन मारने लगा। यह घटना राजगृह नगर में हुई। यह देखकर वहाँ के राजा श्रेणिक ने यह घोषित कर दिया कि उस मार्ग से कोई भी व्यक्ति न जाय। जाने पर मारे जाने की अवस्था में राजा की कोई जिम्मेदारी न होगी। संयोगवश इसी समय भगवान् महावीर का उसी वनखण्ड में पदार्पण हुआ। राजगृह का कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि वहाँ का राजा भी अर्जुनमाली के भय से महावीर को वन्दन करने न जा सका। पर इस राजगृह में सुदर्शन नाम एक युवक रहता था जो भगवान् महावीर का परम भक्त था। वह अकेला ही महावीर के वन्दनाथ उस मार्ग से रवाना

हुआ। उसके माता-पिता ने तो बहुत मना किया किन्तु यह न माना। यह महावीर का साधारण भक्त न था। उसे लगा कि भगवान् मेरे गाँव के पास आयें और मैं मृत्यु के भय से उन्हें वन्दन करने न जाऊँ तो मेरी भक्ति अवश्य लज्जित होगी। यह सोचकर सुदर्शन रवाना हुआ। मार्ग में उसे अर्जुनमाली मिला। वह उसे मारने के लिए आगे बढ़ा किन्तु सुदर्शन की शान्त मुद्रा देखकर उसका मित्र बन गया। बाद में दोनों भगवान् महावीर के पास पहुँचे। भगवान् का उपदेश सुन कर अर्जुनमाली मुनि हो गया। अन्त में उसने सिद्धि प्राप्त की।

इस कथा में एक बात समझ में नहीं आती कि श्रेणिक के पास राजसत्ता व सैनिकबल होते हुए भी वह अर्जुनमाली को लोगों को मारने से क्यों नहीं रोक सका? श्रेणिक भगवान् महावीर का असाधारण भक्त कहा जाता है फिर भी वह उन्हें वन्दन करने नहीं गया। सारे नगर में भगवान् का सच्चा भक्त एक सुदर्शन ही साबित हुआ। संभवतः इस कथा का उद्देश्य यही बताना हो कि सच्ची श्रद्धा व भक्ति कितनी दुर्लभ है।

अन्य अंतकृत :

छठे वर्ग के पन्द्रहवें अध्ययन में अतिमुक्त नामक भगवान् महावीर के एक शिष्य का कथानक है। इस अध्ययन में गाँव के चौक अथवा क्रीडास्थल के लिए 'इन्द्रस्थान' शब्द का प्रयोग हुआ है।

सातवें वर्ग में तेरह अध्ययन हैं। इनमें अंतकृत-स्त्रियों का वर्णन है।

आठवें वर्ग में दस अध्ययन हैं। इन अध्ययनों में श्रेणिक की काली आदि दस भार्याओं का वर्णन है। इस वर्ग में प्रत्येक अंतकृत-साध्वी के विशिष्ट तप का विस्तृत परिचय दिया गया है। इससे इनकी तपस्या की उग्रता का पता लगता है।



१ (अ) अभयदेवविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२०; धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७५

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी एल वैद्य, पूना, सन् १९३२

(इ) अंग्रेजी अनुवाद—L D Barnett, 1907

(ई) मूल—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२१

(उ) अभयदेवविहित वृत्ति के गुजराती अनुवाद के साथ—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं०, १९९०

(ऊ) हिन्दी टीका सहित—मुनि आत्माराम, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३६

(ऋ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५९

(ए) हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६

(ऐ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९४०

सूत्र में इसके तीन वर्ग, दस अध्ययन व दस उद्देशनकाल बताये गये हैं। नन्दीसूत्र में तीन वर्ग व तीन ही उद्देशनकाल निर्दिष्ट हैं। इस प्रकार इन सूत्रो के उल्लेख में परस्पर भेद दिखाई देता है। इस भेद का कारण वाचना-भेद होगा।

राजवार्तिक आदि अचेलकपरम्परासम्मत ग्रन्थो में भी अनुत्तरौपपातिकदशा का परिचय मिलता है। इनमें इसके तीन वर्गों का कोई उल्लेख नही है। ऋषिदास आदि से सम्बन्धित दस अध्ययनों का निर्देश है। स्थानाग में दस अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, सस्थान, शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्तक। स्थानाग व राजवार्तिक में जिन नामो का उल्लेख है उनमें से कुछ नाम उपलब्ध अनुत्तरौपपातिक में मिलते हैं। जैसे वारिषेण (राजवार्तिक) नाम प्रथम वर्ग में है। इसी प्रकार धन्य, सुनक्षत्र तथा ऋषिदास (स्थानांग व राजवार्तिक) नाम तृतीय वग में हैं। अन्य नामों की अनुपलब्धि का कारण वाचनाभेद हो सकता है।

उपलब्ध अनुत्तरौपपातिकदशा तीन वर्गों में विभक्त है। प्रथम वग में १० अध्ययन हैं, द्वितीय वर्ग में १३ अध्ययन हैं और तृतीय वर्ग में १० अध्ययन हैं। इस प्रकार तीनो वर्गो की अध्ययन-सख्या ३३ होती है। प्रत्येक अध्ययन में एक-एक महापुरुष का जीवन वर्णित है।

जालि आदि राजकुमार :

प्रथम वर्ग में जालि, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीघदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहायस और अभयकुमार—इन दस राजकुमारों का जीवन दिया गया है। आर्य सुधर्मा ने अपने शिष्य जम्बू को उक्त दस राजकुमारों के जन्म, नगर, माता-पिता आदि का विस्तृत परिचय करवाकर उनके त्याग व तप का सुन्दर ढंग से वर्णन किया है और बताया है कि ये दसो राजकुमार मनुष्य-भव पूर्ण करके कौन-कौन से अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए हैं तथा देवयोनि पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर कहा जन्म लेंगे एव किस प्रकार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगे।

दीर्घसेन आदि राजकुमार :

द्वितीय वर्ग में दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुण्यसेन—इन तेरह राजकुमारो के जीवन का वर्णन जालिकुमार के जीवन की ही भांति सक्षेप में किया गया है। ये भी अपनी तप साधना द्वारा पाँच अनुत्तर विमानो में गये हैं। वहाँ से च्युत होकर मनुष्यजन्म पाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।

धन्यकुमार

तृतीय वर्ग में धन्यकुमार, सुनक्षत्रकुमार, ऋषिदास, पेल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिका पृष्टिमातृक, पेढालपुत्र, पोट्टिल्ल और वेहल्ल—इस दस कुमारो के भोगमय ए

तपोमय जीवन का सुन्दर चित्रण किया है। इनमें से धन्यकुमार का वर्णन विशेष विस्तृत है।

धन्यकुमार काकंदी नगरी की भद्रा सार्थवाही का पुत्र था। भद्रा के पास अपरिमित धन तथा अपरिमित भोग-विलास के साधन थे। उसने अपने सुयोग्य पुत्र का लालन-पालन बडे ऊँचे स्तर से किया था। धन्यकुमार भोग-विलास की सामग्री में डूब चुका था। एक दिन भगवान् महावीर की दिव्य वाणी सुनकर उसके मन में वैराग्य की भावना जाग्रत हुई और तदनुसार वह अपने विपुल वैभव् का त्याग कर मुनि बन गया।

मुनि बनने के बाद धन्य ने जो तपस्या की वह अद्भुत एव अनुपम है। तपोमय जीवन का इतना सुन्दर सर्वांगीण वर्णन श्रमणसाहित्य में तो क्या, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अन्यत्र दृष्टिगोचर नही होता। महाकवि कालिदास ने अपने ग्रथ कुमारसभव में पार्वती की तपस्या का जो वर्णन किया है वह महत्त्वपूर्ण होते हुए भी धन्य मुनि की तपस्या के वर्णन के समकक्ष नही है—उससे अलग ही प्रकार का है।

धन्यमुनि अपनी आयु पूर्ण करके सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर मनुष्य जन्म पाकर तप साधना द्वारा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।



एकादश प्रकरण

प्रश्नव्याकरण

पण्हावागरण अथवा प्रश्नव्याकरण[1] दसवाँ अंग है। इसका जो परिचय अचेलक परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रन्थों एवं सचेलक परम्परा के स्थानांग आदि सूत्रों में मिलता है, उपलब्ध प्रश्नव्याकरण उससे सर्वथा भिन्न है।

स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनों का उल्लेख है उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षौमकप्रश्न, कोमलप्रश्न, अद्दाग-प्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न।

समवायांग में बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एवं १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं जो मंत्रविद्या एवं अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विद्याओं से सम्बन्धित हैं। इसके ४५ अध्ययन हैं।

नन्दीसूत्र में भी यही बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न एवं १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं, अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विचित्र विद्यातिशयों का वर्णन है, नागकुमारों व सुवर्णकुमारों की संगति के दिव्य संवाद हैं, ४५ अध्ययन हैं।

---

१. (अ) अभयदेवविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९, धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६.
(आ) ज्ञानविमलविरचित वृत्तिसहित—मुक्तिविमल जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद, वि० सं० १९९५
(इ) हिन्दी टीका सहित—मुनि हस्तिमल्ल, हस्तिमल्ल सुराणा, पाली, सन् १९५०.
(ई) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६२
(उ) हिन्दी अनुवाद सहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६, घेवरचन्द्र बांठिया, सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, वि० सं० २००९.
(ऊ) गुजराती अनुवाद—मुनि छोटालाल, लाधाजी स्वामी पुस्तकालय लींबडी, सन् १९३९.

विद्यमान प्रश्नव्याकरण में न तो उपर्युक्त विषय ही हैं और न ४५ अध्ययन ही। इसमें हिंसादिक पाँच आस्रवों तथा अहिंसादिक पाँच संवरों का दस अध्ययनों में निरूपण है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रश्नव्याकरण का दोनों जैन परम्पराओं में उल्लेख है वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि विद्यमान प्रश्नव्याकरण बाद में होनेवाले किसी गीतार्थ पुरुष की रचना है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि लिखते हैं कि इस समय का कोई अनधिकारी मनुष्य चमत्कारी विद्याओं का दुरुपयोग न करे, इस दृष्टि से इस प्रकार की सब विद्याएँ इस सूत्र में से निकाल दी गईं एवं उनके स्थान पर केवल आस्रव व संवर का समावेश कर दिया गया। यहाँ एक बात विचारणीय है कि जिन भगवान् ज्योतिष आदि चमत्कारिक विद्याओं एवं इसी प्रकार की अन्य आरंभ-समारंभपूर्ण विद्याओं के निरूपण को दूषित प्रवृत्ति बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्नव्याकरण में चमत्कारिक विद्याओं का निरूपण जिन प्रभु ने कैसे किया होगा ?

प्रश्नव्याकरण का प्रारंभ इस गाथा से होता है

> जंबू ! इणमो अण्हय-संवरविणिच्छयं पवयणस्स।
> नीसंद वोच्छामि णिच्छयत्थं सुहासियत्थं महेसीहिं ॥

अर्थात् हे जम्बू ! यहाँ महर्षिप्रणीत प्रवचनसाररूप आस्रव व संवर का निरूपण करूँगा।

गाथा में जंबू का नाम तो है किन्तु 'महर्षियों द्वारा सुभाषित' शब्दों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निरूपण केवल सुधर्मा द्वारा नहीं हुआ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि विषय की दृष्टि से यह सूत्र पूरा ही नया हो गया है जिसका कर्ता कोई गीतार्थ पुरुष हो सकता है।

असत्यवादी मत :

सूत्रकार ने असत्यभाषक के रूप में निम्नोक्त मतों के नामों का उल्लेख किया है —

१ नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक
२ पंचस्कन्धवादी—बौद्ध
३ मनोजीववादी—मन को जीव माननेवाले
४ वायुजीववादी—प्राणवायु को जीव माननेवाले
५ अंडे से जगत् की उत्पत्ति माननेवाले
६ लोक को स्वयंभू कृत माननेवाले
७ संसार को प्रजापतिनिर्मित माननेवाले

८ ससार को ईश्वरकृत माननेवाले
९ सारे संसार को विष्णुमय माननेवाले
१० आत्मा को एक, अकर्ता, वेदक, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त माननेवाले
११ जगत को यादृच्छिक माननेवाले
१२ जगत् को स्वभावजन्य माननेवाले
१३ जगत् को देवकृत माननेवाले
१४ नियतिवादी—आजीवक

हिंसादि आस्रव -

इसके अतिरिक्त ससार में जिस जिस प्रकार का असत्य व्यवहार में, कुटुम्ब में, समाज में, देश में व सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित है उसका विस्तृत विवेचन किया गया है। इसी प्रकार हिंसा, चौर्य, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह के स्वरूप व दूषणों का खूब लबा वर्णन किया गया है। हिंसा का वर्णन करते समय वेदिका, विहार, स्तूप, लेण, चैत्य, देवकुल, आयतन आदि के निर्माण में होनेवाली हिंसा का निर्देश किया गया है। वृत्तिकार ने विहार आदि का अर्थ इस प्रकार दिया है : विहार अर्थात् बौद्धविहार, लेण अर्थात् पर्वत में काटकर बनाया हुआ घर, चैत्य अर्थात् प्रतिमा, देवकुल अर्थात् शिखरयुक्त देवप्रासाद।

जो लोग चैत्य, मंदिर आदि बनवाने मे होनेवाली हिंसा को गिनती में नही लेते उनके लिए इस सूत्र का मूलपाठ तथा वृत्तिकार का विवेचन एक चुनौती है। इस प्रकरण में वैदिक हिंसा का भी निर्देश किया गया है एव धर्म के नाम पर होनेवाली हिंसा का उल्लेख करना भी सूत्रकार भूले नही हैं। इसके अतिरिक्त जगत् में चलनेवाली समस्त प्रकार की हिंसाप्रवृत्ति का भी निर्देश किया गया है। हिंसा के सदर्भ में विविध प्रकार के मकानो के विभिन्न भागो के नामो का, वाहनो के नामों का, खेती के साधनों के नामो का तथा इसी प्रकार के हिंसा के अनेक निमित्तों का निर्देश किया गया है। इसी प्रसग पर अनार्य—म्लेच्छ जाति के नामो की भी सूची दी गई है।

असत्य के प्रकरण में हिंसात्मक अनेक प्रकार की भाषा बोलने का निषेध किया गया है।

चौर्य का विवेचन करते हुए ससार में विभिन्न प्रसगो पर होनेवाली विविध चोरियों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

अब्रह्मचर्य का विवेचन करते हुए सर्वप्रकार के भोगपरायण लोगों, देवो, देवियों, चक्रवर्तियों, वासुदेवों, माण्डलिक राजाओं एव इसी प्रकार के अन्य

व्यक्तियो के भोगो का वर्णन किया गया है। साथ ही शरीर के सौन्दर्य, स्त्री के स्वभाव तथा विविध प्रकार के कार्योपचार का भी निरूपण किया गया है। इस प्रसग पर स्त्रियो के निमित्त होनेवाले विविध युद्धो का भी उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार ने एतद्विषयक व्याख्या में सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, रक्तसुभद्रा, अहल्या (अहिन्निका), सुवर्णगुलिका, रोहिणी, किन्नरी, सुरूपा व विद्युन्मति की कथा जैन परम्परा के अनुसार उद्धृत की है।

पाचवें आस्रव परिग्रह के विवेचन में ससार मे जितने प्रकार का परिग्रह होता है अथवा दिखाई देता है उसका सविस्तार निरूपण किया गया है। परिग्रह के निम्नोक्त पर्याय बताये गये हैं सचय, उपचय, निधान, पिण्ड, महेच्छा, उपकरण, सरक्षण, सस्तव, आसक्ति। इन नामो में समस्त प्रकार के परिग्रह का समावेश है।

अहिंसादि सवर :

प्रथम सवर अहिंसा के प्रकरण मे विविध व्यक्तियों द्वारा आराध्य विविध प्रकार की अहिंसा का विवेचन है। इसमें अहिंसा का के पोषक विभिन्न अनुष्ठानों का भी निरूपण है।

सत्यरूप द्वितीय सवर के प्रकरण में विविध प्रकार के सत्यों का वर्णन है। इसमें व्याकरणसम्मत वचन को भी अमुक अपेक्षा से सत्य कहा गया है तथा बोलते समय व्याकरण के नियमो तथा उच्चारण की शुद्धता का ध्यान रखने का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में निम्नलिखित सत्यो का निरूपण किया गया है जनपदसत्य, समतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य और उपमासत्य।

जनपदसत्य अर्थात् तद्-तद् देश की भाषा के शब्दों में रहा हुआ सत्य। समतसत्य अर्थात् कवियो द्वारा अभिप्रेत सत्य। स्थापनासत्य अर्थात् चित्रों में रहा हुआ व्यावहारिक सत्य। नामसत्य अर्थात् कुलवर्धन आदि विशेषनाम। रूप सत्य अर्थात् वेश आदि द्वारा पहचान। प्रतीतिसत्य अर्थात् छोटे-बडे का व्यवहार-सूचक वचन। व्यवहारसत्य अर्थात् लाक्षणिक भाषा। भावसत्य अर्थात् प्रधानता के आधार पर व्यवहार, जैसे अनेक रगवाली होने पर भी एक प्रधान रग द्वारा ही वस्तु की पहचान। योगसत्य अर्थात् सम्बन्ध से व्यवहृत सत्य, जैसे छत्रधारी आदि। उपमासत्य अर्थात् समानता के आधार पर निर्दिष्ट सत्य, यथा समुद्र के समान तालाब, चन्द्र के समान मुख आदि।

अचौर्य सम्बन्धी प्रकरण में अचौर्य से सबधित समस्त अनुष्ठानो का वर्णन है। इसमें अस्तेय की स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम तक व्याख्या की गई है।

ब्रह्मचर्य सम्बन्धी प्रकरण में ब्रह्मचर्य का निरूपण, तत्सम्बन्धी अनुष्ठानों का वर्णन एव उसकी साधना करने वालो का प्ररूपण किया गया है। साथ ही अनाचरण की दृष्टि से ब्रह्मचर्यविरोधी प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया गया है।

अन्तिम प्रकरण अपरिग्रह से सम्बन्धित है। इसमे अपरिग्रहवृत्ति के स्वरूप, तद्विषयक अनुष्ठानो एव अपरिग्रहव्रतधारियो के स्वरूप का निरूपण है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में पाच आस्रवो तथा पाच सवरों का निरूपण है। इसमें महाव्रतो की समस्त भावनाओ का भी निरूपण है। भाषा समासयुक्त है जो शीघ्र समझ में नही आती। वृत्तिकार ने प्रारभ में ही लिखा है कि इस ग्रथ की प्राय कूट पुस्तकें (प्रतियाँ) उपलब्ध हैं। हम अज्ञानी है और यह शास्त्र गभीर है। अत विचारपूर्वक अर्थ की योजना करनी चाहिए। सबसे अन्त में उन्होंने यह भी लिखा है कि जिनके पास आम्नाय नही है उन हमारे जैसे लोगों के लिए इस शास्त्र का अर्थ समझना कठिन है। अत यहाँ हमने जो अर्थ दिया है वही ठीक है, ऐसी बात नही है। वृत्तिकार के इस कथन से मालूम पडता है कि आगमो की आम्नाय अर्थात् परम्परागत विचारसरणि खडित हो चुकी थी—टूट चुकी थी। प्रतियाँ भी प्राय विश्वसनीय न थी। अत विचारकों को सोच-समझ कर शास्त्रो का अर्थ करना चाहिए। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० ७३-७४) में कहा गया है कि आक्षेपविक्षेप द्वारा हेतुनयाश्रित प्रश्नों के व्याकरण का नाम प्रश्नव्याकरण है। उसमें लौकिक तथा वैदिक अर्थों का निर्णय है। इस विषयनिरूपण में हिंसा, असत्य आदि आस्रवो का तथा अहिंसा, सत्य आदि सवरों का समावेश होना सभावित प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि अगुष्ठप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि का विचार प्रश्नव्याकरण में है, ऐसी बात राजवार्तिककार ने नही लिखी है परन्तु धवलाटीका में नष्टप्रश्न, मुष्टिप्रश्न इत्यादि का विचार प्रश्नव्याकरण में है, ऐसा बताया गया है।

●

द्वादश प्रकरण

विपाकसूत्र

विपाकसूत्र[1] के प्रारम्भ में ही भगवान् महावीर के शिष्य सुधर्मा स्वामी एव उनके शिष्य जम्बू स्वामी का विस्तृत परिचय दिया हुआ है। साथ ही यह प्रश्न किया गया है कि भगवान् महावीर ने दसवें अग प्रश्नव्याकरण में अमुक-अमुक बातें बताई हैं तो इस ग्यारहवें अग विपाकसूत्र में क्या-क्या बातें बताई हैं ? इसका उत्तर देते हुए सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि भगवान् महावीर ने इस श्रुत के दो श्रुतस्कन्ध बताये हैं एक दु खविपाक व दूसरा सुखविपाक। दु खविपाक के दस प्रकरण हैं। इसी प्रकार सुखविपाक के भी दस प्रकरण हैं। यहाँ इन सब प्रकरणो के नाम भी बताये हैं। इनमें आनेवाली कथाओं के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति, रीतिरिवाज, जीवन-व्यवस्था आदि का पता लगता है।

प्रारम्भ में आनेवाला सुधर्मा व जम्बू का वर्णन इन दोनों महानुभावो के अतिरिक्त किसी तीसरे ही पुरुष द्वारा लिखा गया मालूम होता है। इससे यह

---

१ (अ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०, धनपत सिंह, कलकत्ता, सन् १८७६, मुक्तिकमलजैनमोहनमाला, बडौदा, सन् १९२०

(आ) प्रस्तावना आदि के साथ—पी एल वैद्य, पूना, सन् १९३३

(इ) गुजराती अनुवाद सहित—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि स १९८७

(ई) हिन्दी अनुवादसहित—मुनि आनन्दसागर, हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय, कोटा, सन् १९३५, अमोलक ऋषि हैदराबाद, वी स २४४६

(उ) हिन्दी टीकासहित—ज्ञानमुनि, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लुधियाना, वि स २०१०

(ऊ) सस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५९

(ऋ) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९४०

फलित होता है कि इस उपोद्घात अंश के कर्त्ता न तो सुधर्मा हैं और न जम्बू। इन दोनो के अतिरिक्त कोई तीसरा ही पुरुष इसका कर्त्ता है।

प्रत्येक कथा के प्रारम्भ में सर्वप्रथम कथा कहने के स्थान का नाम, बाद में वहाँ के राजा-रानी का नाम, तत्पश्चात् कथा के मुख्य पात्र के स्थान आदि का परिचय देने का रिवाज पूर्व परम्परा से चला आता है। इस रिवाज के अनुसार प्रस्तुत कथा-योजक प्रारम्भ में इन सारी बातो का परिचय देते हैं।

मृगापुत्र .

दु खविपाक की प्रथम कथा चपा नगरी के पूर्णभद्र नामक चैत्य में कही गई है। कथा के मुख्य पात्र का स्थान मियग्गाम-मृगग्राम है। रानी का नाम मृगादेवी व पुत्र का नाम मृगापुत्र है। मृगग्राम चपा के आस-पास में कहीं हो सकता है। इसके पास चदनपादप नामक उद्यान होने का उल्लेख है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ चन्दन के वृक्ष विशेष होते होंगे।

कथा शुरू होने के पूर्व भगवान् महावीर की देशना का वर्णना आता है। जहाँ महावीर उपदेश देते हैं वहाँ लोगों के झुड के झुड जाने लगते हैं। इस समय एक जन्माध पुरुष अपने साथी के साथ कही जा रहा था। वह चारों ओर चहल-पहल से परिचित होकर अपने साथी से पूछता है कि आज यहाँ क्या हो-हल्ला है ? इतने लोग क्यों उमड पडे हैं ? क्या गाँव में इन्द्र, स्कन्द, नाग, मुकुन्द, रुद्र, शिव, कुबेर, यक्ष, भूत, नदी, गुफा, कूप, सरोवर, समुद्र, तालाब, वृक्ष, चैत्य अथवा पर्वत का उत्सव शुरू हुआ है ? साथी से महावीर के आगमन की बात जानकर वह भी देशना सुनने जाता है। महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति उस जन्मान्ध पुरुष को देखकर भगवान् से पूछते हैं कि ऐसा कोई अन्य जन्मान्ध पुरुष है ? यदि है तो कहाँ है ? भगवान् उत्तर देते हैं कि मृगग्राम में मृगापुत्र नामक एक जन्मान्ध ही नही अपितु जन्ममूक व जन्मबधिर राजकुमार है जो केवल मासपिण्ड है अर्थात् जिसके शरीर में हाथ, पैर, नेत्र, नासिका, कान आदि अवयवों व इन्द्रियो की आकृति तक नही है। यह सुनकर द्वादशागविद् व चतुर्ज्ञानधर इन्द्रभूति कुतूहलवश उसे देखने जाते हैं एव भूमिगृह में छिपाकर रखे हुए मासपिण्डसदृश मृगापुत्र को प्रत्यक्ष देखते हैं। यहाँ एक बात विशेष ज्ञातव्य है किसी को यह मालूम न हो कि ऐसा लडका रानी मृगादेवी का है, उसने उसे भूमिगृह में छिपा रखा था। रानी पूर्ण मातृवात्सल्य से उसका पालन-पोषण करती थी। जब गौतम इन्द्रभूति उस लडके को देखने गये तब मृगादेवी ने आश्चर्यचकित हो गौतम से पूछा कि आपको इस बालक का पता कैसे लगा ? इसके उत्तर में गौतम ने उसे अपने धर्माचार्य भगवान् महावीर के ज्ञान के

अतिशय का परिचय कराया। मृगापुत्र के शरीर से बहुत दुर्गन्ध निकलती थी और वह यहाँ तक कि स्वय मृगादेवी को मुँह पर कपडा बाँधना पडा था। जब गौतम उसे देखने गये तो उन्हें भी मुँह पर कपडा बाँधना पडा।

मृगापुत्र के वर्णन में एक भयकर दु खी मानव का चित्र उपस्थित किया गया है। दु खविपाक का यह एक रोमाञ्चकारी दृष्टान्त है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा कि मृगापुत्र को ऐसी वेदना होने का क्या कारण है ? उत्तर में भगवान् ने उसके पूर्वभव की कथा कही। यह कथा इस प्रकार है —

भारतवर्ष में शतद्वार नगर के पास विजयवर्धमान नामक एक खेट—बडा गाँव था। इस गाँव के अधीन पाँच सौ छोटे-छोटे गाँव थे। इस गाँव में एक्काई नामक राठौड—रट्ठउड—राष्ट्रकूट (राजा द्वारा नियुक्त शासन-सचालक) था। वह अति अधार्मिक एव क्रूर था। उसने उन गाँवो पर अनेक प्रकार के कर लगाये थे। वह लोगो की न्याययुक्त बात भी सुनने के लिए तैयार न होता था। वह एक बार बीमार पडा। उसे श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, हरस, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मस्तकशूल, अरुचि, नेत्रवेदना, कर्णवेदना, कडू, जलोदर व कुष्ट—इस प्रकार सोलह रोग एक साथ हुए। उपचार के लिये वैद्य, वैद्यपुत्र, ज्ञाता, ज्ञातापुत्र, चिकित्सक, चिकित्सकपुत्र आदि विविध उपचारक अपने साधनों व उपकरणों से सज्जित हो उसके पास आये। उन्होने अनेक उपाय किये किन्तु राठौड का एक भी रोग शान्त न हुआ। वह ढाई सौ वर्ष की आयु में मृत्यु प्राप्त कर नरक में गया और वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर मृगापुत्र हुआ। मृगापुत्र के गर्भ में आते ही मृगादेवी अपने पति को अप्रिय होने लगी। मृगादेवी ने गर्भनाश के अनेक उपाय किये। इसके लिए उसने अनेक प्रकार की हानिकारक औषधियाँ भी ली किन्तु परिणाम कुछ न निकला। अन्त में मृगापुत्र का जन्म हुआ। जन्म होते ही मृगादेवी ने उसे गाँव के बाहर फेंकवा दिया किन्तु पति के समझाने पर पुन अपने पास रखकर उसका पालन-पोषण किया।

गौतम ने भगवान् से पूछा कि यह मृगापुत्र मरकर कहाँ जायेगा ? भगवान् ने बताया कि सिंह आदि अनेक भव ग्रहण करने के बाद सुप्रतिष्ठपुर में गोरूप से जन्म लेगा, एवं वहाँ गङ्गा के किनारे मिट्टी में दब कर मरने के बाद पुन उसी नगर में एक सेठ का पुत्र होगा। बाद में सौधर्म देवलोक में देवरूप से जन्म ग्रहण कर महाविदेह में सिद्धि प्राप्त करेगा।

कामध्वजा व उज्झितक

द्वितीय कथा का स्थान वाणिज्यग्राम (वर्तमान बनियागाँव जो कि वैशाली के पास है), राजा मित्र एव रानी श्री है। कथा की मुख्य नायिका कामज्झया—

कामध्वजा गणिका है। वह ७२ कला, ६४ गणिका-गुण, २९ अन्य गुण, २१ रतिगुण, ३२ पुरुषोचित कामोपचार आदि में निपुण थी, विविध भाषाओं व लिपियों में कुशल थी, संगीत, नाट्य, गांधर्व आदि विद्याओं में प्रवीण थी। उसके घर पर ध्वज फहराता था। उसकी फीस हजार मुद्राएँ थी। उसे राजा ने छत्र, चामर आदि दे रखे थे। इस प्रकार वह प्रतिष्ठित गणिका थी। कामध्वजा गणिका के अधीन हजारों गणिकाएँ थी। विजयमित्र नामक एक सेठ का पुत्र उज्झितक इस गणिका के साथ रहने लगा एवं मानवीय कामभोग भोगने लगा। यह उज्झितक पूर्वभव में हस्तिनापुर निवासी भीम नामक कूटग्राह (प्राणियों को फंदे में फँसानेवाला) का गोत्रास नामक पुत्र था। उज्झितक का पिता विजय-मित्र व्यापार के लिए विदेश रवाना हुआ। वह मार्ग में लवण समुद्र में डूब गया। उसकी भार्या सुभद्रा भी इस दुर्घटना के आघात से मृत्यु को प्राप्त हुई। उज्झितक कामध्वजा के साथ ही रहता था। वह पक्का शराबी, जुआरी, चोर व वेश्यागामी बन चुका था। दुर्भाग्यवश इसी समय मित्र राजा की भार्या श्री रानी को योनिशूल रोग हुआ। राजा ने संभोग के लिए कामध्वजा को अपनी उपपत्नी बनाकर उसके यहाँ से उज्झितक को निकाल दिया। राजा की मनाही होने पर भी एक बार उज्झितक कामध्वजा के यहाँ पकड़ा गया। राजा के नौकरों ने उसे खूब पीटा, पीट-पीट कर अधमरा कर दिया और प्रदर्शन के लिए गाँव में घुमाया। महावीर के शिष्य इन्द्रभूति ने उसे देखा एवं महावीर से पूछा कि यह उज्झितक मर कर कहाँ जायेगा ? महावीर ने मृगापुत्र की मरणोत्तर दुर्गति की भाँति इसकी भी दुर्गति बताई व कहा कि अन्त में यह महाविदेह में जन्म लेकर मुक्त होगा। उज्झितक की वेश्यागमन के कारण यह गति हुई।

अभग्नसेन :

तीसरी कथा में अभग्नसेन नामक चोर का वर्णन है। वह पूर्वभव में अति पातकी, मांसाहारी तथा शराबी था। स्थान का नाम पुरिमताल (प्रयाग) बताया गया है। इसका भविष्य भी मृगापुत्र के ही समान समझना चाहिए। इस कथा में चोरी और हिंसा के परिणाम की चर्चा है।

शकट :

चौथी कथा शकट नामक युवक की है। यह कथा उज्झितक की कथा से लगभग मिलती-जुलती है। इसमें वेश्या का नाम सुदर्शना तथा नगरी का नाम

बृहस्पतिदत्त

पांचवी कथा बृहस्पतिदत्त नामक पुरोहित-पुत्र की है। नगरी का नाम कौशाबी (वर्तमान कोसम गांव), राजा का नाम शतानीक, रानी का नाम मृगावती, कुमार का नाम उदयन, कुमारवधू का नाम पद्मावती, पुरोहित का नाम सोमदत्त और पुरोहित पुत्र का नाम बृहस्पतिदत्त है। बृहस्पतिदत्त पूर्वजन्म में महेश्वरदत्त नामक पुरोहित था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में निपुण था। अपने राजा जितशत्रु की शान्ति के लिए प्रतिदिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के एक-एक बालक को पकड़वाकर उनके हृदय के मासपिण्ड से शान्तियज्ञ करता था। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन दो-दो बालकों को पकड़वाकर शान्तियज्ञ करता था। इसी प्रकार चार महीने में चार-चार बालको, छ महीने में आठ-आठ बालको तथा वर्ष में सोलह-सोलह बालकों के हृदयपिण्ड द्वारा शान्तियज्ञ करता था। जिस समय राजा जितशत्रु युद्ध में जाता उस समय उसकी विजय के लिए ब्राह्मणादि प्रत्येक के एक सौ आठ बालकों के हृदयपिण्ड द्वारा शान्तियज्ञ करता था। परिणामत राजा की विजय होती थी। महेश्वरदत्त मर कर पुरोहित सोमदत्त का बृहस्पतिदत्त नामक पुत्र हुआ। राजपुत्र उदयन ने इसे अपना पुरोहित बनाया। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण बृहस्पतिदत्त अन्त पुर में भी आने-जाने लगा। यहाँ तक कि वह उदयन की पत्नी पद्मावती के साथ कामक्रीडा करने लगा। जब उदयन को इस बात का पता लगा तो उसने बृहस्पतिदत्त की बहुत दुर्दशा की तथा अन्त में उसे मरवा डाला।

इस कथा में नरमेध व शत्रुघ्न-यज्ञ का निर्देश है। इससे मालूम होता है कि प्राचीन काल में नरमेध होते थे व राजा अपनी शान्ति के लिए नरहिंसक यज्ञ करवाते थे। इससे यह भी मालूम होता है कि ब्राह्मण पतित होने पर कैसे कुकर्म कर सकते हैं।

नंदिवर्धन

छठी कथा नदिवर्धन की है। नगरी मथुरा, राजा श्रीदाम, रानी बधुश्री, कुमार नदिवर्धन, अमात्य सुबधु व आलकारिक (नापित) चित्र है। कुमार नदिवर्धन पूर्वभव में दुर्योधन नामक जेलर अथवा फौजदार था। वह अपराधियों को भयकर यातनाएँ देता था। इन यातनाओं की तुलना नारकीय यातनाओं से की गई है। प्रस्तुत कथा में इन यातनाओं का रोमाचकारी वर्णन है। दुर्योधन मर कर श्रीदाम का पुत्र नदिवर्धन होता है। उसे अपने पिता का राज्य शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने की इच्छा होती है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह अलकारिक चित्र से हजामत बनवाते समय उस्तरे से श्रीदाम का गला काट

देने के लिए कहता है। चित्र यह बात श्रीदाम को बता देता है। श्रीदाम नंदि-वर्धन को पकड़वाकर दुर्दशापूर्वक मरवा देता है। नंदिवर्धन का जीव भी अन्त में महाविदेह में सिद्ध होगा।

उबरदत्त व धन्वन्तरि वैद्य :

सातवी कथा उबरदत्त की है। गाँव का नाम पाटलिखंड, राजा का नाम सिद्धार्थ, सार्थवाह का नाम सागरदत्त, उसकी भार्या का नाम गंगदत्ता और उनके पुत्र का नाम उबरदत्त है। उबरदत्त पूर्वभव में धन्वन्तरि नामक वैद्य था। धन्वन्तरि अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता था बालचिकित्सा, शालाक्य, शल्यचिकित्सा, कायचिकित्सा, विषचिकित्सा, भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण। उसके लघुहस्त शुभहस्त और शिवहस्त विशेषण कुशलता के सूचक थे। वह अनेक प्रकार के रोगियो की चिकित्सा करता था। श्रमणो तथा ब्राह्मणो की परिचर्या करता था। औषधि में विविध प्रकार के मास का उपयोग करने के कारण धन्वन्तरि मर कर नरक में गया। वहाँ से आयु पूर्ण कर सागरदत्त का पुत्र उबरदत्त हुआ। माता के उबरदत्त नामक यक्ष की मनौती करने के कारण इसका नाम भी उबरदत्त रखा गया। इसका पिता जहाज टूट जावे के कारण समुद्र में डूब कर मर गया। माता भी मृत्यु को प्राप्त हुई। उबरदत्त अनाथ हो घर-घर भीख माँगने लगा। उसे अनेक रोगो ने घेर लिया। हाथ-पैर की अगुलियाँ गिर पडी। सारे शरीर से रुधिर बहने लगा। उबरदत्त को ऐसी हालत में देख कर गौतम ने महावीर से प्रश्न किया। महावीर ने उसके पूर्वभव और आगामी भव पर प्रकाश डाला एव बताया कि अन्त में वह महाविदेह में मुक्त होगा।

शौरिक मछलीमार :

आठवीं कथा शौरिक नामक मछलीमार की है। शौरिक गले में मछली का काँटा फँस जाने के कारण तीव्र वेदना से कराह रहा था। वह पूव जन्म में किसी राजा का रसोइया था जो विविध प्रकार के पशु-पक्षियों का मास पकाता, मास के वैविध्य से राजा-रानी को खुश रखता और खुद भी मासाहार करता था। परिणामत वह मर कर शौरिक मछलीमार हुआ।

देवदत्ता

नवी कथा देवदत्ता नामक स्त्री की है। यह कथा इस प्रकार है —

सिंहसेन नामक राजपुत्र ने एक ही दिन में पाँच सौ कन्याओ के साथ विवाह किया। दहेज में खूब सम्पत्ति प्राप्त हुई। इन भार्याओ में से श्यामा नामक स्त्री पर राजकुमार विशेष आसक्त था। शेष ४९९ स्त्रियो की वह तनिक भी परवाह नहीं करता था। यह देख कर उन उपेक्षित स्त्रियो की माताओ ने सोचा

कि शस्त्रप्रयोग, विषप्रयोग अथवा अग्निप्रयोग द्वारा श्यामा का खात्मा कर दिया जाय तो हमारी कन्याएँ सुखी हो जायँ। यह बात किसी तरह श्यामा को मालूम हो गई। उसने राजा को सूचित किया। राजा ने उन स्त्रियों एवं उनकी माताओं को भोजन के बहाने एक महल में एकत्र कर महल में आग लगा दी। सब स्त्रियाँ जल कर भस्म हो गई। हत्यारा राजा मर कर नरक में गया। वहाँ का आयु समाप्त कर देवदत्ता नामक स्त्री हुआ। देवदत्ता का विवाह एक राजपुत्र से हुआ। राजपुत्र मातृभक्त था अतः अधिक समय माता की सेवा में ही व्यतीत करता था। प्रातःकाल उठते ही राजपुत्र पुष्यनंदी माता श्रीदेवी को प्रणाम करता था। बाद में उसके शरीर पर अपने हाथों से तेल आदि की मालिश कर उसे नहलाता एवं भोजन कराता था। भोजन करने के बाद उसके अपने कक्ष में सो जाने पर ही पुष्यनन्दी नित्यकर्म से निवृत्त हो भोजन करता था। इससे देवदत्ता के आनन्द में विघ्न पड़ने लगा। वह राजमाता की जीवनलीला समाप्त करने का उपाय सोचने लगी। एक बार राजमाता के मद्य पी कर निश्चिंत होकर सो जाने पर देवदत्ता ने तप्त लोहशलाका उसकी गुदा में जोर से घुसेड़ दी। राजमाता की मृत्यु हो गई। राजा को देवदत्ता के इस कुकर्म का पता लग गया। उसने उसे पकड़वा कर मृत्युदण्ड का आदेश दिया।

अंजू

दसवीं कथा अंजू की है। स्थान का नाम वर्धमानपुर, राजा का नाम विजय, सार्थवाह का नाम धनदेव, सार्थवाह की पत्नी का नाम प्रियंगु एवं सार्थवाहपुत्री का नाम अंजू है। अंजू पूर्वभव में गणिका थी। गणिका का पापमय जीवन समाप्त कर धनदेव की पुत्री हुई थी। अंजू का विवाह राजा विजय के साथ हुआ। पूर्वकृत पापकर्मों के कारण अंजू को योनिशूल रोग हुआ। अनेक उपचार करने पर भी रोग शान्त न हुआ।

उपर्युक्त कथाओं में उल्लिखित पात्र ऐतिहासिक हैं या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

सुख विपाक

सुख विपाक नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आनेवाली दस कथाओं में पुण्य के परिणाम की चर्चा है। जिस प्रकार दुःख विपाक की कथाओं में किसी असत्यभाषी की तथा महापरिग्रही की कथा नहीं आती उसी प्रकार सुख विपाक की कथाओं में किसी सत्यभाषी की तथा ऐच्छिक अल्पपरिग्रही की कथा नहीं आती। आचार के इस पक्ष का विपाकसूत्र में प्रतिनिधित्व न होना अवश्य विचारणीय है।

विपाक का विषय

इस सूत्र के विषय के सम्बन्ध में अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, धवला, जयधवला और अंगपण्णत्ति में बताया गया है कि इसमें दुःख और सुख के विपाक

अर्थात् परिणाम का वर्णन है। सचेलक परम्परा के समवायाग तथा नन्दीसूत्र में भी इसी प्रकार विपाक के विषय का परिचय दिया गया है। इस प्रकार विपाकसूत्र के विषय के सम्बन्ध में दोनो परम्पराओं में कोई वैषम्य नही है। नन्दी और समवाय में यह भी बताया गया है कि असत्य और परिग्रहवृत्ति के परिणामो की भी इस सूत्र में चर्चा की गई है। उपलब्ध विपाक में एतद्विषयक कोई कथा नहीं मिलती।

अध्ययन नाम :

स्थानाग में कर्मविपाक (दु खविपाक) के दस अध्ययनों के नाम दिये गये हैं[१] मृगापुत्र, गोत्रास, अंड, शकट, ब्राह्मण, नन्दिषेण, शौर्य, उदु बर, सहसोद्दाह-आमरक और कुमारलिच्छवी। उपलब्ध विपाक में मिलनेवाले कुछ नाम इन नामों से भिन्न हैं। गोत्रास नाम उज्झितक के अन्य भव का नाम है। अड नाम अभग्नसेन द्वारा पूर्वभव में किये गये अडे के व्यापार का सूचक है। ब्राह्मण नाम का सम्बन्ध बृहस्पतिदत्त पुरोहित से है। नन्दिषेण का नाम नन्दिवर्धन के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। सहसोद्दाह-आमरक का सम्बन्ध राजा की माता को तप्तशलाका से मारनेवाली देवदत्ता के साथ जुडा हुआ मालूम होता है। कुमारलिच्छवी के स्थान पर उपलब्ध नाम अजू है। अजू के अपने अन्तिम भव में किसी सेठ के यहाँ पुत्ररूप से अर्थात् कुमाररूप से जन्म ग्रहण करने की घटना का उल्लेख आता है। सभवत इस घटना को ध्यान में रखकर स्थानाग में कुमारलिच्छवी नाम का प्रयोग किया गया है। लिच्छवी शब्द का सम्बन्ध लिच्छवो नामक वशविशेष से वृत्तिकार ने 'लेच्छई' का अर्थ 'लिप्सु' अर्थात् 'लाभ प्राप्त करने की वृत्तिवाला वणिक्' किया है। यह अर्थ ठीक नही है। यहाँ 'लेच्छई' का अर्थ 'लिच्छवी वंश' ही अभिप्रेत है। स्थानाग के इस नामभेद का कारण वाचनान्तर माना जाय तो कोई असगति न होगी। स्थानागकार ने सुखविपाक के दस अध्ययनों के नामो का उल्लेख नही किया है।

●

१. परिशिष्ट

दृष्टिवाद

बारहवाँ अग दृष्टिवाद अनुपलब्ध है अत इसका परिचय कैसे दिया जाय ? नन्दिसूत्र में इसका साधारण परिचय दिया गया है, जो इस प्रकार है —

दृष्टिवाद की वाचनाएँ परिमित अर्थात् अनेक है, अनुयोगद्वार सख्येय हैं, वेढ (छंदविशेष) सख्येय हैं, श्लोक सख्येय हैं, प्रत्तिपत्तियाँ (समझाने के साधन) सख्येय हैं, नियुक्तियाँ सख्येय हैं, सग्रहणियाँ सख्येय है, अङ्ग की अपेक्षा से यह बारहवाँ अङ्ग है, इसमें एक श्रुतस्कन्ध है, सख्येय सहस्र पद हैं, अक्षर सख्येय हैं, गम एव पर्यव अनन्त हैं। इसमें त्रस और स्थावर जीवो, धर्मास्तिकाय आदि शाश्वत पदार्थों एव क्रियाजन्य पदार्थों का परिचय है। इस प्रकार जिन-प्रणीत समस्त भावो का निरूपण इस बारहवें अग में उपलब्ध है। जो मुमुक्षु इस अग में बताई हुई पद्धति के अनुसार आचरण करता है वह ज्ञान के अभेद की अपेक्षा से दृष्टिवादरूप हो जाता है—उसका ज्ञाता व विज्ञाता हो जाता है।

दृष्टिवाद के पूर्व आदि भवो के विषय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है (पृ० ४४, ४८-५१)। यह बारहवाँ अग भद्रबाहु के समय से ही नष्टप्राय है। अत इसके विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं जाना जा सकता। मलधारी हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति मे कुछ भाष्य-गाथाओं को 'पूर्वगत' बताया है। इसके अतिरिक्त एतद्विषयक विशेष परिचय उपलब्ध नही है।



२. परिशिष्ट

अचेलक परम्परा के प्राचीन ग्रन्थो में सचेलकसम्मत अंगादिगत अवतरणों का उल्लेख

जिस प्रकार वर्तमान अगसूत्रादि आगम सचेलक परम्परा को मान्य हैं उसी प्रकार अचेलक परम्परा को मान्य रहे हैं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अचेलक परम्परा के लघुप्रतिक्रमण सूत्र के मूल पाठ में ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययन गिनाये हैं। इसी प्रकार सूत्रकृताग के तेईस एव आचारप्रकल्प (आचाराग) के अठाईस अध्ययनो के नाम दिये गये हैं। राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में भी अग-विषयक उल्लेख उपलब्ध हैं किन्तु अमुक सूत्र में इतने अध्ययन हैं, ऐसा उल्लेख इनमें नही मिलता। इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख अचेलक परम्परा के लघुप्रति-क्रमण एव सचेलक परम्परा के स्थानाग, समवायाग व नन्दीसूत्र में उपलब्ध है। इसी प्रकार का उल्लेख अचेलक परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी की आचार्य प्रभाचन्द्रकृत वृत्ति में विस्तारपूर्वक मिलता है, यद्यपि इन नामों व सचेलक परम्परासम्मत नामो में कहीं-कही अन्तर है जो नगण्य है।

ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों के नाम लघुप्रतिक्रमण मे इस प्रकार गिनाये गये हैं —

उक्कोडणा[1]ग कुम्भ[2] अडय[3] रोहिणि[4] सिस्स[5] तु व[6] सघादे[7] ।
मादगिम[8]ल्लि चदिन[9] तावद्देवय[10] तिक[11] तलाय[12] किण्णे[13] ॥ १ ॥
सुसुकेय[14] अवरकके[15] नदीफल[16] उदगणाह[17] मडुक्के[18] ।
एत्ता य पुंडरीगो[19] णाहज्झाणाणि उणवीस ॥ २ ॥

सचेलक परम्परा में एतद्विषयक सग्रहगाथाएँ इस प्रकार हैं —

उक्खित्त[1] णाए सघा[2]डे अडे[3] कुम्मे[4] सेलए[5] ।
तु वे[6] य रोहिणी[7] मल्ली[8] मागदी[9] चदिमा[10] इय ॥ १ ॥
दावद्दवे[11] उदगणाए[12] मंडुक्क[13] तेयली[14] चेव ।
नदिफले[15] अवरकंका[16] आयन्ने सुसु[18] पुडरीया[19] ॥ २ ॥

ये गाथाएँ सवृत्तिक आवश्यकसूत्र (पृ० ६५३) के प्रतिक्रमणाधिकार में हैं।

सूत्रकृताग के तेईस अध्ययनों के नाम प्रतिक्रमणग्रथत्रयी की वृत्ति में इस प्रकार हैं :—

अचेलक परम्परा के ग्रन्थ भगवतीआराधना अथवा मूलाराधना की अपराजितसूरिकृत विजयोदया नामक वृत्ति में आचाराग, दशवैकालिक, आवश्यक, उत्तराध्ययन एव सूत्रकृताग के पाठो का उल्लेख कर यत्र-तत्र कुछ चर्चा की गई है।[1] इसमें 'निशीथेऽपि उक्तम्' (पृ ६१०) यों कहकर निशीथसूत्र का भी उल्लेख किया गया है। इतना ही नही, भगवतीआराधना की अनेक गाथाएँ सचेलक परम्परा के पयन्ना—प्रकीर्णक आदि ग्रथो में अक्षरश उपलब्ध होती हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि प्राचीन समय में अचेलक परम्परा और सचेलक परम्परा के बीच काफी अच्छा सम्पर्क था। उन्हें एक-दूसरे के शास्त्रो का ज्ञान भी था। तत्त्वार्थसूत्र के 'विजयादिषु द्विचरमा' (४ २६) की व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार भट्टाकलंक ने 'एव हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम्' यों कह कर व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवतीसूत्र का स्पष्ट उल्लेख किया है एव उसे प्रमाणरूप से स्वीकार किया है। भट्टाकलक निर्दिष्ट यह विषय व्याख्याप्रज्ञप्ति के २४ वें शतक के २२ वें उद्देशक के १६ वें एव १७ वें प्रश्नोत्तर में उपलब्ध है। धवलाकार वीरसेन 'लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो' (षट्खण्डागम, ३, पृ ३५) यो कहकर व्याख्याप्रज्ञप्ति का प्रमाणरूप से उल्लेख करते हैं। यह विषय व्याख्याप्रज्ञप्ति के प्रथम शतक के छठे उद्देशक के २२४ वें प्रश्नोत्तर में उपलब्ध है। इसी प्रकार दशवैकालिक,

1 उदाहरण के लिए देखिये—पृ २७७, ३०७, ३५३, ६०९, ६११

अनुयोगद्वार, स्थानांग व विशेषावश्यकभाष्य सम्बन्धित अनेक संदर्भ और अवतरण धवला टीका में उपलब्ध होते हैं। एतद्विषयक विशेष जानकारी तद् तद् भाग के परिशिष्ट देखने से हो सकती है। अचेलक परम्परा के मूलाचार ग्रंथ के षडावश्यक के सप्तम अधिकार में आनेवाली १९२ वीं गाथा की वृत्ति में आचार्य वसुनंदी स्पष्ट लिखते हैं कि एतद्विषयक विशेष जानकारी आचारांग से प्राप्त कर लेनी चाहिए' आचाराङ्गात् भवति ज्ञातव्य.। यह आचारांगसूत्र वही है जो वर्तमान में सचेलक परम्परा में विद्यमान है। मूलाचार में ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जो आवश्यक-निर्युक्ति की गाथाओं से काफी मिलती-जुलती हैं। इनकी व्याख्या में पीछे से होनेवाले संकुचित परम्पराभेद अथवा पारस्परिक सम्पर्क के अभाव के कारण कुछ अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार अचेलक परम्परा की साहित्यसामग्री देखने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि इस परम्परा में भी उपलब्ध अंग आदि आगमों को सुप्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ है। आग्रह या अतिरेक होने पर विपरीत परिस्थिति का जन्म हुआ एवं पारस्परिक सम्पर्क तथा स्नेह का ह्रास होता गया।



३. परिशिष्ट

आगमों का प्रकाशन व संशोधन

एक समय था जब धर्मग्रन्थो के लिखने का रिवाज न था। उस समय धर्मपरायण आत्मार्थी लोग धर्मग्रन्थो को कठस्थ कर सुरक्षित रखते एव उपदेश द्वारा उनका यथाशक्य प्रचार करने का प्रयत्न करते थे। शारीरिक और सामाजिक परिस्थिति मे परिवर्तन होने पर जैन निर्ग्रन्थो ने अपवाद का आश्रय लेते हुए भी आगमादि ग्रन्थो को ताडपत्रादि पर लिपिबद्ध किया। इस प्रकार के लिखित साहित्य की सुरक्षा के लिए भारत में जैनो ने जो प्रयत्न, परिश्रम और अर्थव्यय किया है वह बेजोड है। ऐसा होते हुए भी हस्तलिखित ग्रन्थो द्वारा अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचारकार्य उतना नही हो सकता जितना कि होना चाहिए। मुद्रण युग का प्रादुर्भाव होने पर प्रत्येक धर्म के आचार्य व गृहस्थ सावधान हुए एव अपने-अपने धर्मसाहित्य को छपवाने का प्रयत्न करने लगे। तिब्बती पडितो ने मुद्रणकला का आश्रय लेकर प्राचीन साहित्य की सुरक्षा की। वैदिक व बौद्ध लोगो ने भी अपने-अपने धर्मग्रन्थो को छपवा कर प्रकाशित किया। जैनाचार्यों व जैन गृहस्थो ने अपने आगम ग्रन्थो को प्रकाशित करने का उस समय कोई प्रयत्न नही किया। उन्होने आगम-प्रकाशन में अनेक प्रकार की धार्मिक बाधाएँ देखी। कोई कहता कि छापने से तो आगमो की आशातना अर्थात् अपमान होने लगेगा। कोई कहता कि छापने से वह साहित्य किसी के भी हाथ में पहुँचेगा, जिससे उसका दुरुपयोग भी होने लगेगा। कोई कहता कि आगमो को छापने में आरम्भ-समारम्भ होने से पाप लगेगा। कोई कहता कि छपने पर तो श्रावक लोग भी आगम पढने लगेंगे जो उचित नही है। इस प्रकार विविध दृष्टियो से समाज में आगमो के प्रकाशन के विरुद्ध वातावरण पैदा हुआ। ऐसा होते हुए भी कुछ साहसी एव प्रगतिशील जैन अगुओ ने आगमसाहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके लिए उन्हें परम्परागत अनेक रूढियो को भग करना पडा।

अजीमगज, बगाल के बाबू धनपतसिंह जी को आगमों को मुद्रित करवाने का विचार सर्वप्रथम सूझा। उन्होने समस्त आगमो को टबों के साथ प्रकाशित किया। जैसा कि सुना जाता है, इसके बाद श्री वीरचन्द राघवजी को प्रथम सर्वधर्म-परिषद् में चिकागो भेजनेवाले विजयानन्दसूरिजी ने भी आगम-प्रकाशन को सहारा दिया एव इस कार्य को करनेवालो को प्रोत्साहित किया। सेठ भीमसिंह माणेक ने भी आगम-प्रकाशन की प्रवृत्ति प्रारम्भ की एव टीका व अनुवाद के साथ एक-दो आगम निकाले। विदेश में जर्मन विद्वानो ने 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट' ग्रथमाला के अन्तर्गत तथा अन्य रूप में आचाराग, सूत्रकृताग, निशीथ, कल्पसूत्र

उत्तराध्ययन आदि को मूल अथवा अनुवाद के रूप में प्रकाशित किया। स्थानकवासी परम्परा के जीवराज घेलाभाई नामक गृहस्थ ने जर्मन विद्वानों द्वारा मुद्रित रोमन लिपि के आगमों को नागरी लिपि में प्रकाशित किया। इसके बाद स्व० आनन्दसागर सूरिजी ने आगमोदय समिति की स्थापना कर एक के बाद एक करके तमाम आगमों का प्रकाशन किया। सूरिजी का पुरुषार्थ और परिश्रम अभिनन्दनीय होते हुए भी साधनों की परिमितता तथा सहयोग के अभाव के कारण यह काम जितना अच्छा होना चाहिए था उतना अच्छा नहीं हो पाया। इस बीच प्रस्तुत लेखक ने व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवतीसूत्र के दो बड़े-बड़े भाग मूल, टीका, अनुवाद (मूल व टीका दोनों का) तथा टिप्पणियों सहित श्री जिनागम प्रकाशन सभा की सहायता से प्रकाशित किये। इस प्रकाशन के कारण जैन समाज में भारी ऊहापोह हुआ। इसके बाद जैनसंघ के अग्रणी कुंवरजी भाई आनन्दजी की अध्यक्षता में चलने वाली जैनधर्म प्रसारक सभा ने भी कुछ आगमों का अनुवाद सहित प्रकाशन किया। इस प्रकार आगम-प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त होता गया। अब तो कहीं विरोध का नाम भी नहीं दिखाई देता। इधर स्थानकवासी मुनि अमोलक ऋषि जी ने भी हैदराबाद के एक जैन अग्रणी की सहायता से बत्तीस आगमों का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन किया। ऋषिजी ने इसके लिए अति श्रम किया जो सराहनीय है, किन्तु संशोधन की कमी के कारण इस प्रकाशन में अनेक स्थानों पर त्रुटियाँ रह गई हैं। अब तो तेरापंथी मुनि भी इस काम में रस लेने लगे हैं। पंजाबी मुनि स्व० आत्मारामजी महाराज ने भी अनुवाद सहित कुछ आगमों का प्रकाशन किया है। मुनि फूलचन्दजी 'भिक्षु' ने बत्तीस आगमों को दो भागों में प्रकाशित किया है। इसमें भिक्षुजी ने अनेक पाठ बदल दिये हैं। वयोवृद्ध मुनि घासीलालजी ने भी आगम-प्रकाशन का कार्य किया है। इन्होंने जैन परम्परा के आचार-विचार को ठीक-ठीक नहीं जाननेवाले ब्राह्मण पण्डितों द्वारा आगमों पर विवेचन लिखवाया है। अतः इसमें काफी अव्यवस्था हुई है। इधर आगमप्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी ने आगमों के प्रकाशन का कार्य प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी के तत्त्वावधान में प्रारम्भ किया है। यह प्रकाशन आधुनिक शैली से युक्त होगा। इसमें मूल पाठ, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं वृत्ति का यथावसर समावेश किया जायगा। आवश्यकतानुसार पाठान्तर भी दिये जाएँगे। विषय-सूची, शब्दानुक्रमणिका, परिशिष्ट, प्रस्तावना आदि भी रहेंगे। इस प्रकार यह प्रकाशन निःसंदेह आधुनिक पद्धति का एक श्रेष्ठ प्रकाशन होगा, ऐसी अपेक्षा और आशा है। महावीर जैन विद्यालय भी मूल आगमों के प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील है।

●

अनुक्रमणिका

म



सहायक ग्रन्थों की सूची

अभिधर्मकोश—स्व० श्री राहुल साकृत्यायन
आचाराङ्गनियुक्ति—आगमोदय समिति
आचाराङ्गवृत्ति— ,,
आत्मोपनिषद्
आवश्यकवृत्ति—हरिभद्र—आगमोदय समिति
ऋग्वेद
ऋषिभाषित—आगमोदय समिति
ऐतरेयब्राह्मण
कठोपनिषद्
केनोपनिषद्
गाथाओ पर नवो प्रकाश—स्व० कवि खबरदार
गीता
जैन साहित्य सशोधक—आचार्य श्री जिनविजयजी
तत्त्वार्थभाष्य
तैत्तिरीयोपनिषद्
नन्दिवृत्ति—हरिभद्र—ऋषभदेव केशरीमल
नन्दिवृत्ति—मलयगिरि—आगमोदय समिति
नारायणोपनिषद्
पतेतपशेमानी (पारसी धर्म के 'खोरदेह-अवेस्ता' नामक ग्रथ का प्रकरण)
—कावशजी एदलजी कागा
पाक्षिकसूत्र—आगमोदय समिति
प्रश्नपद्धति—आत्मानद जैन सभा, भावनगर
बुद्धचर्या—स्व० श्री राहुल साकृत्यायन
बृहदारण्यक
ब्रह्मविद्योपनिषद्
मज्झिमनिकाय—नालंदा प्रकाशन
मनुस्मृति
महावीरचरियं—देवचद लालभाई
महावीर-वाणी—स्वामी आत्मानद की प्रस्तावना—मनसुखलाल ताराचद

माण्डुक्योपनिषद्
मिलिंदपञ्ह
मुण्डकोपनिषद्
योगदृष्टिसमुच्चय—देवचंद लालभाई
लोकाशाह और उनकी विचारणा (गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति-ग्रंथ)
—पं० दलसुख मालवणिया
वायुपुराण (पत्राकार)
विशेषावश्यकभाष्य—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस
वैदिक संस्कृति का इतिहास (मराठी)—श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशी
षट्खण्डागम
समवायांगवृत्ति—आगमोदय समिति
सूत्रकृतांगनिर्युक्ति—आगमोदय समिति
स्थानांग-समवायांग—पं० दलसुख मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
हलायुधकोश